बच्चन : निकट से

बच्चन निकट से

बच्चन : निकट से

कवि के जीवन और व्यक्तित्व से संबद्ध
आत्मीय लेखों का संग्रह

बच्चन निकट से

सम्पादक
अजितकुमार
ओंकारनाथ श्रीवास्तव
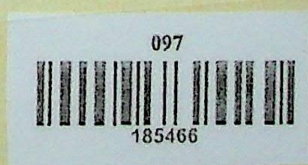
मूल्य : ६०-००

पहला संस्करण : नवम्बर, १९६८

BACHCHAN : NIKAT SE
Memoiers

'बच्चन'
त्यागी की दृष्टि में
१६-११-६८

भूमिका

पिछले साल बच्चनजी की षष्टि-पूर्ति के अवसर को स्मरणीय बनाने के विचार से हमने इस पुस्तक की योजना तैयार की थी। चाहा था कि बच्चनजी के निकट सम्पर्क में आने वाले साहित्यकारों और सुहृद् बन्धुओं के निजी संस्मरण तथा लेख इसमें हों। अब इस वर्ष, उनके जन्मदिन पर यह विनम्र प्रयास उन्हें और उनके असंख्य प्रशंसकों को समर्पित है। इसके द्वारा हम हिन्दी के एक अत्यन्त प्रिय और आदरणीय कवि का सम्मान तो कर ही रहे हैं, अपने इस विश्वास को भी एक मूर्त्त आकार दे रहे हैं कि बच्चनजी के विषय में इस तरह की पुस्तक का महत्त्व संस्मरणात्मक ही नहीं, साहित्यिक भी होगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि बच्चनजी हिन्दी के उन थोड़े-से कवियों में हैं जिनका जीवन और साहित्य बहुत दूर तक समानान्तर चलता रहा है और बहुधा एक की झलक दूसरे में दिखाई भी देती रही है। हम समझते हैं कि इसी कारण बच्चनजी के व्यक्तित्व की चर्चा प्रकारान्तर से उनके कृतित्व की ही चर्चा है, क्योंकि जीवन-परिस्थितियों, निजी सीमाओं, मनोदशाओं और व्यक्तिगत विशेषताओं ने रचनाओं की पृष्ठ-भूमि निर्मित करने में जितना अधिक और स्पष्ट योग इस कवि को दिया है, उतना शायद हिन्दी के किसी अन्य कवि को नहीं। अत: इस पुस्तक के माध्यम से हम एक विशिष्ट कवि की जीवन-धर्मिता का बहुरंगी चित्र उसके असंख्य पाठकों एवं प्रशंसकों तक पहुँचाना चाहते हैं और इस सम्बन्ध में पूरी तरह आश्वस्त हैं कि यह कोई व्यक्ति-पूजा नहीं, न एक व्यक्ति-विशेष के खाने-पहनने और ओढ़ने-बिछाने का ब्योरा मात्र है। तथापि हम तुरन्त यह भी रेखांकित करना चाहेंगे कि एक कवि जो खाता-पहनता या ओढ़ता-बिछाता है, वह किसी न किसी अंश में बहुत बार उसकी कविता को रूपायित भी करता है।

माना कि रचना-प्रक्रिया एक जटिल और सूक्ष्म प्रक्रिया होती है और इस बात को लेकर काफ़ी मतभेद है कि साहित्य अभिव्यक्ति है या आत्माभिव्यक्ति या निश्छल आत्माभिव्यक्ति, फिर भी आधुनिक युग में साहित्य को समझने के लिए जो विभिन्न दृष्टि-कोण अपनाए जाते रहे हैं—नैतिक, सामाजिक, मिथिक, सौन्दर्यशास्त्रीय आदि—उनके साथ-साथ मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण भी साहित्य को समझने में बहुत सहायक रहा है।

कवि के जीवन और मन का अध्ययन भले ही उसकी कविता की सीधी और पूरी जानकारी न दे सके, उसके विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आधारभूत सामग्री अवश्य दे सकता है। डी० एच० लॉरेंस का विचार था कि लेखक अपनी पुस्तकों में 'अपनी

रुग्णता का विसर्जन' करता है। शायद इसका मतलब यह हो कि कलाकार और उसकी कला के बीच कुछ-कुछ वैसा ही सम्बन्ध होता है जैसा कि रोगी और उसके स्वप्न अथवा प्रलाप में। एडमंड विल्सन ने एक पुस्तक लिखी है—'द वूण्ड एंड द बो' (घाव और धनुष)—जिसमें उन्होंने जीवन-रूपी धनुष द्वारा किए गए रचना-रूपी घावों की ओर इंगित करते हुए लेखकों की निजी समस्याओं और उनकी रचनाओं में अन्त:स्थित रचावों का विश्लेषण किया है। बेशक, रचना और रचनाकार के पास इस रास्ते से पहुँचने में बहुतेरे खतरे भी हैं। अतिसरलीकरण के खतरे को तो हर समय ध्यान में रखना होगा। पुस्तक के समर्पण में किसी व्यक्ति का नाम पढ़कर रचनाओं की प्रेरणा समझ जाने का दावा करना एक ऐसा ही सरलीकरण है। दूसरी खतरनाक बात यह होगी कि रचना को केवल स्वप्न अथवा प्रलाप मान लिया जाए। किन्हीं अंशों में अवश या विवश होते हुए भी कलाकार बहुत अंशों में अपनी कला का वशपूर्वक संयोजन और नियन्त्रण करता है—वह उसे रचता है। इसलिए जीवन-प्रत्यंचा से छूटा हुआ भाव-शर कहाँ-कहाँ भ्रमता-भटकता, मुड़ता-मटकता हुआ रचना-व्रण तक पहुँचा है, इसका निर्णय उतावली में नहीं किया जा सकता।

हमें खुशी है कि इस पुस्तक में संगृहीत लेख धैर्य और गहराई के साथ लिखे गए हैं। वयोवृद्ध-प्रतिष्ठित साहित्यकारों से लेकर तरुण-उत्साही बन्धुओं तथा मित्रों-परिचितों तक—सभीने बच्चनजी के प्रति अपने स्नेह-सद्‌भाव का परिचय देते हुए उनका आत्मीय किन्तु तटस्थ विश्लेषण करना चाहा है। देखकर सुखद आश्चर्य होता है कि जो लोग उन्हें चालीस वर्ष से जानते हैं, उनके मन में भी कविवर के प्रति वही ममता है, जो चार वर्ष या चार दिन से परिचित लोगों में। इसे केवल संयोग मान बैठना भी एक तरह का सरलीकरण ही होगा। निश्चय ही इस तथ्य के पीछे कहीं न कहीं स्वयं कवि की यह जीवन-निष्ठा छिपी होगी कि : "हो चुका है चार दिन मेरा-तुम्हारा, और इतना भी यहाँ पर कम नहीं है।"

कुछ-कुछ इसी भाव से, हम इस 'यत्किंचित् प्रयास' को 'कम नहीं' मानकर सम्मुख ला रहे हैं।

असल में, हमने इस पुस्तक की परिकल्पना प्रचलित अभिनन्दन-ग्रन्थ के रूप में नहीं की थी। हमारा विचार था कि बच्चनजी का व्यक्तित्व कुछ ऐसा है कि बहुधा लोगों ने उनसे आत्मीयता और निकटता का अनुभव किया है। बच्चनजी से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में परिचित लोगों के बीच शायद यह एक समानता का सूत्र है। इसीलिए हमने सोचा कि मात्र प्रशस्ति-भाव से ऊपर उठकर, वे लोग वह सब कहें जो उन्हें निकटता के इस अनुभव के रूप में प्राप्त हुआ हो। प्रसन्नता की बात है कि इस पुस्तक के माध्यम से हमें अकेले बच्चनजी को ही नहीं, उनके अनेक समानधर्माओं को भी निकट से जानने-समझने का अवसर मिल गया है। यहाँ, इस पुस्तक में, आधुनिक साहित्यकारों और साहित्य का अंतरंग परिचय देने वाली प्रचुर सामग्री संकलित है और इस नाते इसका महत्त्व दोहरा-तिहरा हो गया है। हमें विशेष प्रसन्नता इस बात से है कि इस पुस्तक में, एक-दो को छोड़, सभी लेख पहली बार प्रकाशित हो रहे हैं। हमें ज्ञात है, कितने ही बन्धु इस पुस्तक

के लिए कुछ न कुछ लिखना चाहते रहे हैं, पर कभी अतिव्यस्तता और कभी अतिनिकटता के कारण वे अपना लेख समय से पूरा नहीं कर सके। हम यह भी जानते हैं कि इस पुस्तक को पढ़कर कितने ही अन्य परिचित-अपरिचित बन्धु बच्चनजी से सम्बद्ध किसी स्मृति, किसी घटना, किसी प्रसंग को लेकर कुछ न कुछ लिखना चाहेंगे। ऐसे सभी बन्धुओं की रचनाएँ और प्रतिक्रियाएँ हम सहर्ष आमंत्रित करते हैं। उनका उपयोग हम इस पुस्तक के दूसरे खण्ड अथवा संस्मरण में अवश्य करना चाहेंगे।

अन्त में, हम उन सभी मान्य लेखकों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने हमारे अनुरोध पर इस पुस्तक के लिए विशेष रूप से अपने संस्मरण लिखने की कृपा की। हम कृतज्ञ हैं आदरणीया श्रीमती तेजी बच्चन के, जिन्होंने हमारी ओर से हठ करके बच्चनजी को हमारी योजना 'रद्द' कर देने से रोका। रहे बच्चनजी ! उनके विषय में हम क्या कहें ! वे हमारे गुरु हैं और उनकी यह 'गुरुता' क्या कम है कि जो दो-चार लेख लोगों ने सीधे उनके पास भेज दिए थे, बस, वे उन्होंने हमें सौंप दिए। इस योजना में उनके ऐसे ही सहयोग की आशा भी थी।

श्री विश्वनाथ और श्री दीनानाथ ने रुचि लेकर, इस पुस्तक को बच्चन-साहित्य का ही एक अंग मान प्रकाशित किया; इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

सी-३।५, मॉडल टाउन
दिल्ली-६
२७ नवम्बर, १६६८

अजितकुमार
ओंकारनाथ श्रीवास्तव

बच्चन : निकट से

विषय-क्रम

साठ साल के जवान

रामानुजलाल श्रीवास्तव

बच्चनजी 'वन मैन हिन्दी फ़ैक्टरी' हैं। दुनिया चाहे जिधर जाए, चाहे जो करे; इन्होंने जिस दिन से फ़ैक्टरी खड़ी की, उस दिन से आज तक उत्पादन में शायद ही कोई कोर-कसर आने दी हो।

अब वे 'साठिया क्लब' के सदस्य हो गए। साठ साल कोई उम्र में उम्र नहीं है। केवल द्वितीय शैशव की आरम्भावस्था है। सीटो ने साठ साल के होने पर ग्रीक के समान कठिन भाषा का अध्ययन आरम्भ किया और उसपर अधिकार प्राप्त कर सद्ग्रन्थों की रचना की। सोफ़ोक्लीज़, सिमोनाइड्स, गेटे आदि सब अस्सी-अस्सी पर अमर काव्य दे गए। बाबा तुलसीदास ने भी ५७ पर 'मानस' आरम्भ की और ग्यारह वर्षों में पूर्ण कर 'विनय-पत्रिका' के समान पाण्डित्यपूर्ण काव्य का श्रीगणेश और इतिश्री की। इतने पीछे क्यों जाएँ? हमारे दादा सातवलेकर[1] तथा बाबा अलाउद्दीन 'शरदःशतम्' के बाद भी अपने-अपने क्षेत्र में किस नवयुवक से कम रहे हैं? बच्चनजी के नयी कविता अपनाने से 'सदाबहारी' के ये लक्षण प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव उन्हें साठ साल का बूढ़ा नहीं, जवान कहकर मैं अपनी दस साल की बुजुर्गी की रक्षा करता हूँ।

बृहत्त्रयी (पंत, प्रसाद, निराला) तथा लघुत्रयी (महादेवी, भगवतीचरण, रामकुमार) के उत्थानकाल में ही, जिस कवि ने अपनी अलग छाप बैठा दी, वह है—बच्चन। वे धूमकेतु के समान आए और सारे आकाश में ऐसे छा गए और आज नया संदेश लेकर छाए ही चले जा रहे हैं, कि उनके कृतित्व का यथोचित मूल्यांकन योग्य तथा अधिकारी विद्वान ही कर सकते हैं। मेरी सामर्थ्य व्यक्तिगत संस्मरणों से आगे पहुँचने की नहीं।

मैंने सन् १९३० से '३३ तक 'प्रेमा' मासिक पत्रिका प्रकाशित की थी। प्रयाग के मुंशी कन्हैयालाल साहब से सम्पर्क हुआ। बाद में वे 'चाँद' (प्रयाग) के उर्दू संस्करण के सम्पादक नियुक्त हो गए थे। अब तो वे हमारे बीच हैं नहीं। उन्होंने निम्नांकित कविता भेजी; इस परिचय के साथ कि यह उनके आत्मीय 'बच्चन' की रचना है। 'प्रेमा' के दिसम्बर, १९३१ के अंक में वह प्रकाशित हुई—

मध्याह्न

सुना था मैंने प्रातःकाल,
हु[illegible] जब रजनी का अवसान,

१. इसी वर्ष दिवंगत हुए।— सं०

लगे जब होने उडुगण म्लान,
हिल-मिल खग-वृन्दों का गाना, बैठ वृक्ष की डाल,
सारिका, श्यामा, तोते, लाल—
आदि के कोमल विविध प्रकार
स्वरों का मधुर चढ़ाव-उतार;
सब के ऊपर कुहुक-कुहुक कोयल का देना ताल ।

(२)

अहे ! वह सुखद प्रभाती गान ।
लगीं तप्त किरणें जब आने,
लगा पवन जब धूल उड़ाने,
मध्य दिवस में हाय ! हाय ! हो गया कहाँ लयमान ?
ले गया राग-पुंज हर कौन ?
किसके मन में पाप समाया ?
किसे न औरों का सुख भाया ?
बिठा दिया रागिनी प्रकृति को, किसने करके मौन ?

(३)

अरे ! न ऐसा मेरा ध्यान—
अब भी है हो रहा उसी लय—
से वह गान, मुझे है निश्चय,
हुआ करेगा एक समान, संध्या तक यह मधुमय गान,
पक्षीगण जब स्वयं थकित हों,
यह विचारते जाएँगे सो—
उठकर प्रातःकाल कौन हम छेड़ें नूतन तान ?

नवीनजी का गीत—'तुम कैसे नवीन मतवाले ? तुम कैसे पीने वाले ?' गूँज चुका था । भगवतीचरणजी वर्मा का 'हम दीवानों की क्या हस्ती ? हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले । मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले ।' लोकप्रिय हो रहा था । 'प्रेमा' में प्रतिमास स्व० पं० केशव पाठक द्वारा अनूदित 'उमर खय्याम की रुबाइयात' प्रकाशित होती थीं । राष्ट्रकवि गुप्तजी कुछ का अनुवाद पहले कर चुके थे । शेष का अनुवाद इस बीच कर दिया और संग्रह प्रकाशित भी हो गया । इन सबके प्रभाव से तत्कालीन छायावाद की छाया में हालावाद के नवांकुर की उत्पत्ति हुई । पर अभी हालावाद-सम्राट् 'बच्चन' का उदय नहीं हुआ था । बाद में उन्होंने बतलाया कि 'मध्याह्न' उनकी प्रथम प्रकाशित कविता है । उसमें तो हालावाद की तनिक भी बू-बास नहीं । छायावाद की कुछ छटा है, यद्यपि अभिव्यक्ति में कहीं कोई अर्थ-दुराव नहीं । पाठकजी से पूछा कि इस नये कवि की रचना कैसी लगी ? कहा कि कोई विशेष बात नहीं है । मैंने कहा कि बंदिश मुझे तो कुछ ऐसी जँच रही है, जैसे आनेवाले

प्रकाश-पुंज की प्रथम रश्मि हो।

सन् १९३१ या '३२ में बाबू भगवतीचरण वर्मा जबलपुर पधारे। कवि-सम्मेलन हुआ। उनका 'वाद' क्या था, और आज क्या है, मुझे ज्ञात नहीं। वे, अब कहते हैं कि कवि नहीं, कथाकार या उपन्यासकार हैं; यद्यपि कविता (जिसे 'सरस्वती' में पंडित श्रीनारायणजी चतुर्वेदी ने 'अच्छी कविता' की संज्ञा दी है) लिखने से बाज़ नहीं आते और सम्मेलनों में भी अपने ख़ास अन्दाज़ से पढ़ते हैं। बृहत्त्रयी उत्तमोत्तम छायावादी कविताएँ दे चुकी थी, देती जा रही थी। परन्तु उस समय श्रोताओं ने जिस चाव से भगवती बाबू की कविताएँ सुनीं, वैसा उत्साह पहले नहीं देखा था। फिर तो तीन-चार सम्मेलन हुए, जिनमें न केवल विद्यार्थी शिक्षक, साहित्यिक, वरन् जनसाधारण की भी पर्याप्त संख्या रहती थी। इस दृष्टि से कि नई कविता जन-साधारण तक पहुँचाने में पहले पहल समर्थ हुए, प्रो० रघुपति सहाय 'फ़िराक़' भगवती बाबू को 'सीमा का पत्थर' कहते हैं। जब मैंने भी ऐसा ही कुछ कहा तो उत्तर मिला कि धीरज रक्खो, मुझसे भी अधिक लोकप्रिय कवि तैयार हो रहा है और निकट भविष्य में अखाड़े में उतरनेवाला है। नाम बतलाया — 'बच्चन'। मैंने कहा कि उनकी कविता 'प्रेमा' में प्रकाशित हुई है और मुझे ऐसा लगा कि इस आदमी में दम-खम है।

उस समय अक्सर प्रयाग आना-जाना होता था। इतनी उत्सुकता नहीं हो पाई थी कि गले पड़कर बच्चनजी से मिलता। भगवती बाबू से पूछ लेता था कि तुम्हारे पट्ठे का क्या हाल है। वे कहते थे कि सब्र करो, जैसे तुम्हारे यहाँ 'धुआँधार' टूट के गिरती है, वैसे ही मैख़ानों (कवि-सम्मेलनों) पर टूट के बरसेगा। दिन बीतते गए और बात यहीं तक रही आई।

सन् १९३४ रहा होगा। इतना याद है कि 'मधुशाला' प्रकाशित नहीं हुई थी, सन् '३५ में हुई। परन्तु कवि की ख्याति तेज़ी से फैल रही थी। तत्कालीन रॉबर्ट्सन कॉलेज, जबलपुर ने स्नेह-सम्मेलन के अवसर पर बच्चनजी को आमंत्रित किया। वे मेरे साथ ठहरे। क्यों? कालेज के तत्कालीन कवि-समाज से मेरी घनिष्ठता थी। मैं बच्चन-जी की चर्चा किया करता था। शायद समझा गया कि मैं पूर्वपरिचित हूँ। प्रधान कारण यह था कि 'मधुशाला' के कवि को मधुपायी के साथ ही विशेष सुविधा रहेगी। इस सिलसिले में मुझे तो निराशा ही हुई। उनका मधु हृदय की प्याली का है, काँच की प्याली का नहीं। पहली मुलाक़ात थी। ज़ोर-जबरदस्ती की गुंजाइश नहीं। बाद में क़सम उतरवा ही लेता था। मेरी धारणा है कि इंग्लैण्ड में स्वास्थ्य बिगड़ने का कारण कायस्थ-कुलोद्भव का कपूती कर जाना है। गणितज्ञ रामानुजन्, एफ़० आर० एस०, खान-पान न बदलने के कारण वहाँ से असाध्य रोग लेकर लौटे थे। लोग जान लें कि यह, जिसे 'मद्यपी' कहकर गालियाँ दी गई हैं, अपने नाम के अनुरूप दुग्धपान का शौकीन है।

संयोगवश उस समय मेरे बाल-बच्चे काशी चले गए थे। घर भूत का डेरा था। सम्मेलन में जाने के लिए अटारी से उतरे तो और तो सब ठीक था, बाल कुछ इखरे-

बिखरे-से थे। मैंने पूछा कि कंघा मिला नहीं या कवियों के बाल ऐसे ही रहते हैं। मुस्करा-कर उत्तर दिया, "कवियों के बाल ऐसे ही रहते हैं।"

सम्मेलन में कविता-पाठ के बाद यह उक्ति अक्षरशः चरितार्थ हो गई कि, 'वह आया, उसने देखा, उसने विजय प्राप्त कर ली।' उस समय कुल एक तो कॉलेज, उसमें भी लड़कियों की संख्या नाम-मात्र की और वे लड़कियाँ भी झेंपू। पर इनकी कविता और पाठ ने दीवाल तोड़ दी। ऑटोग्राफ़ भर के लिए, नहीं, जवाब-सवाल करने के लिए भी लड़कियाँ निर्भीक हो गईं।

तैंतीस-चौंतीस साल पहले की बात है। अब वे दिन कहाँ, वे लोग कहाँ, वह सोहबत कहाँ, वह अंजुमन कहाँ? हम सबने बच्चनजी के साथ का पूरा लुत्फ़ उठाया।

मैंने देखा कि वे बोलते कम हैं। कुछ पूछा जाता है, तभी नपे-तुले शब्दों में उत्तर देते हैं। लेक्चर बिलकुल नहीं झाड़ते, यद्यपि प्रसंगानुकूल व्याख्यान बहुत अच्छा देते हैं। प्रोफ़ेसर रह चुके हैं। कविता-पाठ में कोई भूमिका नहीं बाँधते। न पाठ के लिए लालायित रहते हैं, न अधिक नखरे करते हैं। एक पंक्ति गुनगुना रहे थे—"अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर।" कहा कि पढ़ ही डालिए। उत्तर दिया कि अभी बन रही है।

यह सत्संग का श्रीगणेश है। इसके बाद उन्हें क्या-क्या सफलताएँ नहीं मिलीं? 'मधुबाला' के गीत और अधिक लोकप्रिय हुए। 'पाँच पुकार', 'इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो' आदि जनसाधारण के पास की पहुँच को, कविता की सीमा के पत्थर को इतना आगे ले गए कि आज भी उनकी माँग है, अन्यथा सन् १९६६ तक नये संस्करण क्यों प्रकाशित होते रहते? अच्छी चीज़ का कभी क्षय नहीं होता। आज कवि गौरीशंकर-शिखर से बोल रहा है। मेरे लिए इस कारण भी महान् है कि मुझ तराई के कंकड़-पत्थर को भी निबाहे गया और निबाह रहा है।

मेरा प्रयाग आना-जाना होता रहा; बच्चनजी भी जबलपुर आमंत्रित किए जाते रहे। मेलजोल बढ़ता रहा। जबलपुर में प्रति बार मेरी कुटी पवित्र करने की कृपा की।

जब कवि अपने हृदय की सारी मस्ती जन-जन को बाँट रहा था, जब उसके प्रभाव से 'हालावाद' हिन्दी में एक मान्य शैली निरूपित हो चुकी थी, तभी सन् १९३६-'३७ में कराल काल का चक्र उसके विरुद्ध चल गया। कई कुटुम्बियों की असामयिक मृत्यु हो गई। स्वयं को क्षयरोग-पीड़ित घोषित किया गया। स्वास्थ्य-सुधार के पहले ही प्रथम धर्मपत्नी रोगग्रस्त हो गईं और अनेक उपचार के बाद भी नहीं बचाई जा सकीं। एक फुलवारी ही उजड़ गई, एक जीवन ही टूट गया। काल की लेखनी चल गई, कवि की लेखनी रुक गई। प्रयाग के भयावह वातावरण से भागकर उसने काशी के हिन्दू विश्वविद्यालय में माँ सरस्वती की शरण ली। एम० ए०, बी० टी० की पढ़ाई पूरी की और अपनी बिछुड़ी काव्य-प्रतिभा को भी ढूँढ़ता रहा। इस बार प्रथम उल्लास से बिलकुल विभिन्न 'निशा-निमंत्रण' के रूप में वह प्रकट हुई। बाद में कवि ने स्वयं कहा है कि ईश्वर छोटे-छोटे शब्दों में अपने अंतस्तल के भाव प्रकट करने की मेरी शक्ति को बनाए रक्खे। इतनी विषम परिस्थितियों की जो प्रतिक्रिया हुई, वह 'निशा-निमंत्रण' के

छोटे-छोटे गीतों में, छोटे-छोटे शब्दों में प्रकट की गई। हम लोगों ने उसे सामूहिक रूप में पढ़ा और गुना। कविवर भाई नर्मदाप्रसादजी खरे ने भेंट होने पर उनसे यह चर्चा भी कर दी। उन्हें यह संतोष हुआ कि उनका दर्द अनेक साथियों के लिए भी दर्दीला है।

जैसे 'मधुशाला', 'मधुबाला' आदि ने शैली-प्रवर्तन किया था, वैसे 'निशा-निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' ने भी किया।

काल-चक्र बनाता रहता है, बिगाड़ता रहता है। मनुष्य भी, कवि के शब्दों में, परिस्थितियों के अनुसार नीड़ का निर्माण फिर-फिर करता रहता है। सन् १९४१ के लगभग कुमारी तेज सूरी बच्चनजी के जीवन में आईं। श्रीमती तेज बच्चन के रूप में उन्होंने न केवल कवि के दग्ध हृदय को स्वस्थ, शान्त, स्थिर कर दिया, वरन् समूचे जीवन को नई स्फूर्ति, नई उमंग, नया उत्साह प्रदान किया। इस समय संयोगवश मैं प्रयाग में उपस्थित था। उनके रूप-गुण की प्रशंसा कहाँ तक की जाए? प्रथम दर्शन में ही आत्मा संतुष्ट हो गई और रोम-रोम से आशीष प्रवाहित होने लगा। फिर तो अनेक बार प्रयाग में उनके गृह में उपस्थित होने के अवसर आए। वे जैसी विदुषी हैं, वैसी ही कुशल गृहिणी और वैसी ही आतिथेय। अपने हाथ से खान-पान की व्यवस्था करना और बड़े आग्रह से खिलाना-पिलाना। बच्चनजी घर न हुए, तब भी स्नेहपूर्ण स्वागत-संभाषण। पाँच मिनिट को भी किसी काम से छोड़ना पड़ा तो पढ़ने को कोई ताज़ी, अच्छी सामग्री दे जाना। बच्चनजी की ऐसी देख-भाल कि वे बुड्ढेजी हुए ही नहीं। कॉलेज जाते वक़्त यह तक बतला देना कि लौटने के लिए जेब में रिक्शे के पैसे रख दिए हैं। ऐसा न हो कि 'मेघदूत' का एक पृष्ठ फाड़कर गुनगुनाते हुए पैदल चले आएँ। यहाँ से कवि का दूसरा, नवीन और सफल जीवन प्रारम्भ हुआ।

एक बार स्थानीय हितकारिणी सिटी कॉलेज ने स्नेह-सम्मेलन के अवसर पर बच्चनजी को आमंत्रित किया। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के सुपुत्र ने आग्रह किया कि मैं सभापतित्व करूँ। मैंने कहा कि यह न मुझे सुहाता है, न आता है। उत्तर मिला कि दलबन्दी हो गई है। कवियों को 'हूट' किया जाएगा। हमारे दल की ओर से आप सँभालिए। बच्चनजी भी सुन रहे थे। कहने लगे कि अब तक तो ऐसा अनुभव हुआ नहीं। अच्छा है, यह भी प्राप्त कर लें। दुनिया बदल चुकी थी। अधिकतर स्नेह-सम्मेलन द्वेष-सम्मेलन होने लगे थे। मैंने वहाँ कह दिया कि बच्चनजी समस्त नगर के मान्य अतिथि हैं। उनसे पहले पढ़वाता हूँ। शांतिपूर्वक सुन लीजिए। उसके बाद हम लोग चले जाएँगे। बच्चनजी के पाठ में कौन विघ्न डाल सकता था! विशेष गीतों की फ़र्माइशें होने लगीं। जमकर कविता-पाठ हुआ। उसके बाद ही हम लोग उठकर घर आ गए।

जब तक प्रयाग में रहे, जबलपुर में यह माना जाता था कि यह उनका घर ही है। जब चाहेंगे, बुला लेंगे। दिल्ली दूर है, तथापि दो-तीन बार आ ही चुके। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की मूर्ति का अनावरण श्रीमती महादेवी वर्मा ने किया। बच्चनजी

ने प्रसंगानुकूल व्याख्यान दिया तथा कवि-सम्मेलन में भाग लिया।

पूज्य पदुमलाल पुन्नालालजी बख्शी का जबलपुर में अभिनन्दन किया गया। आदरणीय पं० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने समारोह का उद्घाटन किया। यह समय परीक्षाओं और कापियों की जाँच का था। बच्चनजी ने लिखा कि वे उद्घाटन में सम्मिलित नहीं हो सकेंगे। शाम की मेल से आएँगे। कविता-पाठ करेंगे और अर्धरात्रि की एक्सप्रेस से वापस हो जाएँगे। वे रास्ते भर कापियाँ जाँचते हुए आए। थैला लिए उतरे। उनके मित्र श्री सुन्दरम्, आई० सी० एस०, भी स्टेशन पर स्वागत के लिए उपस्थित थे। वे भोजन के लिए बच्चनजी को अपने यहाँ ले गए। तय रहा कि भोजन के बाद कवि-सम्मेलन में भेज देंगे। श्रोता उपस्थित हो गए। समय हो गया। बच्चनजी को आने में देर होने लगी। कई बार समझाया गया कि आ गए हैं और भोजन करके आते ही होंगे। आवाज़ें आने लगीं कि झूठ-मूठ बच्चनजी का नाम लेकर हमें बुलाया गया है। वे उपस्थित होते तो कुछ देर अन्य स्थानीय कवि जमते। उनका नाम न लिया गया होता तो स्थानीय कवि सुने जाते। पर उधर तो बच्चनजी भूख बुझा रहे थे और इधर बच्चा-बच्चा बच्चनजी का भूखा था। रोष मुझपर था, क्योंकि मैंने ही समाचार-पत्रों में एलान किया था और मैं ही आश्वासन दे रहा था। कुछ अशुभ प्रसंग उपस्थित होता, उसके दो क्षण पहले ही मोटर पर 'आइ गयउ हनुमान, जिमि करुना महँ वीर-रस।' श्रोताओं की बाँछें खिल गईं। जमकर सम्मेलन हुआ। स्टेशन पहुँचाने गए। हम लोग यह तो कभी नहीं चाहते कि बच्चनजी को 'टैक्स' करें। किराये-इराये के लिए कुछ देने लगे तो यह कहकर इन्कार कर दिया कि अभिनन्दन-समारोह बख्शीजी की सहायता के लिए किया गया है। इस समय लेना नहीं, देना फ़र्ज़ है। और ज़बरदस्ती एक 'चेक' थमा गए।

बख्शीजी से सम्बन्धित एक और प्रसंग भी है। सन् १९५० के लगभग आदरणीय पं० सुमित्रानन्दनजी पन्त की अवस्था भी ५० वर्ष हुई। पंतजी और बच्चनजी का संग-साथ सर्वविदित है। उनपर बच्चनजी का एक लेख अंग्रेज़ी में प्रयाग के 'लीडर' दैनिक में प्रकाशित हुआ। पंतजी की प्रतिष्ठा के अनुकूल तो था ही, पर एक फ़िकरा यह था कि बख्शीजी ने आरम्भ में 'सरस्वती' द्वारा पंतजी को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया, पर उन्होंने कभी सार्वजनिक रूप से बख्शीजी का आभार नहीं माना। मैंने बच्चनजी को लिखा कि यह बात हम लोगों को भी खटकती रही है, पर उल्लेख का साहस नहीं था। आपने खुले में लाकर हम लोगों का बड़ा उपकार कर दिया है।

फिर सन् १९६० में जब पंतजी ६० वर्ष के हुए, तब बच्चनजी की पुस्तक 'कवियों में सौम्य संत' प्रकाशित हुई। उसमें बच्चनजी के पुराने अंग्रेज़ी लेख का हिन्दी अनुवाद सम्मिलित है। मैंने बच्चनजी को फिर पत्र लिखा और उन्होंने पंतजी को। उन्होंने बच्चनजी को लिखा कि किसी रेडियो-बातचीत में आभार प्रकट कर देंगे 'यद्यपि बख्शीजी मेरी कविता के प्रशंसक नहीं थे।' यह बात बच्चनजी ने मुझे लिखी और 'कवियों में सौम्य

संत' में भी छप गई है। मैंने लिखा कि सन् '५७ में प्रकाशित 'मेरी अपनी कथा' में बख्शीजी ने लिखा है कि पहले वे पंतजी की कविता को शब्द-जाल समझते थे, पर जैसे-जैसे पंतजी स्वयं अपनी कविता की व्याख्या उनके सम्मुख करते गए, वे प्रभावित होते गए और वर्षों 'सरस्वती' में प्रमुख स्थान दिया। अब उनके लिए 'पल्लव' हिन्दी की दस प्रिय पुस्तकों में से एक है। मैंने बच्चनजी को यह भी लिखा कि पूज्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी पंतजी से नाराज़ थे। उनकी आपत्ति पर इण्डियन प्रेस के अध्यक्ष ने 'वीणा' की भूमिका जलवा दी थी। यदि बख्शीजी पंतजी की कविता के प्रशंसक न होते तो प्रेस के अध्यक्ष तथा अपने संरक्षक द्विवेदीजी को अप्रसन्न करने का खतरा मोल लेकर 'सरस्वती' में प्रमुख स्थान देकर, वर्षों पंतजी की कविताएँ कैसे प्रकाशित करते ?

बच्चनजी ने मेरा पत्र पंतजी को भेज दिया। काफ़ी अर्से के बाद पंतजी ने बच्चनजी से कहा कि वह पत्र उन्हें मिला नहीं। परन्तु बच्चनजी ने उस पत्र का सार बतलाया होगा। भ्रम दूर हुआ। राजनांदगांव (म० प्र०) से बख्शीजी का अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशित होने वाला था। उसके लिए पंतजी ने एक पत्र भेजा, जिसमें आभार प्रकट करते हुए यह भी लिखा कि वे बख्शीजी को अग्रज-स्वरूप मानते हैं। अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ नहीं, अतएव पत्र अप्रकाशित रह गया, परन्तु बच्चनजी के द्वारा एक भ्रम का निवारण हो गया।

प्रयाग विश्वविद्यालय में बच्चनजी अंग्रेज़ी के अध्यापक थे ही, 'प्रोफ़ेशनल स्कॉलर' होने के कारण अध्ययन-पिपासा शान्त नहीं हुई थी, न होगी। सन् १९५२में शोध-कार्य के लिए कैम्ब्रिज प्रस्थान किया। इससे कई लोग चकित हुए।

पूज्य पं० अमरनाथ झा के अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर नियुक्त होने का समय आया। प्रयाग विश्वविद्यालय में एक अलिखित मान्यता थी कि प्रोफ़ेसर को अपने विषय में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त होनी चाहिए। कम से कम किसी विख्यात विश्वविद्यालय की डॉक्टरेट तो हो। झा साहब के कई अंग्रेज़ी ग्रन्थ स्वतन्त्र तथा प्रो० डॅन के संयुक्त लेखन में प्रकाशित हो चुके थे। प्रश्न था आक्सफ़र्ड या कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट लेने का। यह समझकर नहीं गए कि कठिन काम है। कलकत्ता विश्वविद्यालय से एक डॉक्टर इतिहास में आक्सफ़र्ड की भी डॉक्टरेट लेने गए। वहाँ किए गए शोध पर उन्हें केवल एम० ए० की डिग्री मिली। रोने लगे कि मैं तो डॉक्टर था ही; यहाँ नाक कटाने क्यों आया! तब बच्चनजी किस साहस से जा रहे हैं ?

सन् १९५४ में जब बच्चनजी को कैम्ब्रिज से डॉक्टरेट मिली, तब मैं उत्तरायण आश्रम (नैनीताल) में था। वहाँ उपस्थित कुछ विद्वानों ने बच्चनजी की योग्यता का अवमूल्यन करना चाहा। कहा कि पी-एच० डी० द्वितीय कोटि की डिग्री है। प्रथम कोटि की डी० लिट्० है। मैंने कहा कि आक्सफ़र्ड और कैम्ब्रिज की डी० फ़िल० और पी-एच० डी० का बहुत सम्मान है, पर बात मानी नहीं गई। संयोगवश मेरे आत्मीय डा० प्यारेलाल श्रीवास्तव (प्रोफ़ेसर, गणित विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) नैनीताल में थे। मैंने जाकर उनसे पूछा। उत्तर मिला कि इस डिग्री के कारण बच्चनजी किसी

भी विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर-पद के अधिकारी हैं।

बाद में ये सब बातें बच्चनजी को बतलाईं और समाधान चाहा। उन्होंने कहा कि "वहाँ की डॉक्टरेट सचमुच कठिन समस्या है, परन्तु मेरी कविता का अंग्रेज़ी अनुवाद और ख्याति पहले पहुँच चुकी थी। मेरा विषय था, 'डब्ल्यू० बी० येट्स ऐण्ड ओकल्टिज़्म'। मेरे गाइड ने श्रीमती येट्स से मेरा परिचय करा दिया। उनकी ऐसी कृपा हुई कि प्रकाशित साहित्य के अतिरिक्त येट्स का न जाने कितना अप्रकाशित साहित्य तथा उनका निजी पुस्तकालय और पत्र-व्यवहार मुझे प्राप्य हो गया। मैंने रात-दिन एक कर दिया, स्वास्थ्य की चिन्ता छोड़ दी, तब सौभाग्यवश यह पुरस्कार प्राप्त हुआ।"

मेरी अब ऐसी चला-चली है कि और सब चलना-फिरना बन्द है। प्रयाग तक तो पहुँच जाता था, दिल्ली बड़ी दूर है। पर बच्चनजी दर्शन देते रहते हैं। पत्र-व्यवहार भी चलता है। यह बात और है कि नितान्त बधिर हो जाने के कारण मुझसे मिलने-भेंटने में कोई सुख नहीं रह गया। यह तो 'टू वे ट्रैफ़िक' है। पिछली बार, गए साल, मैंने कहा कि कूबड़ हमेशा से थी, आँख में मोतियाबिन्द है, घुटना टूट चुका है—काना, खोरा, कूबरा हो रहा हूँ – तो तुरंत फब्ती कसी कि कुटिल-कुचाली तो पहले से थे ही। यह भी सच है, और यह भी सच है कि अन्य ऋणों के अतिरिक्त बच्चनजी के स्नेह का ऋण भी ढोए हुए 'उस पार' जाना पड़ेगा, जहाँ 'न जाने क्या होगा ?'

मेरा आत्मीय

भगवतीचरण वर्मा

जहाँ तक कविता का सवाल है, बच्चन मेरे इने-गिने कवियों में हैं। मेरी निश्चित धारणा है कि कवि की हैसियत से बच्चन का सही मूल्यांकन अभी तक हिन्दी साहित्य में नहीं हो पाया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर या ग़ालिब की कविताओं की न जाने कितनी पंक्तियाँ लोगों की ज़बान पर हैं—इन दोनों कवियों की गणना विश्व के महान कवियों में की जाती है, लेकिन बच्चन की अनगिनत कविताओं की पंक्तियाँ लोगों की ज़बान पर होते हुए भी हिन्दी के आलोचकों द्वारा बच्चन की उपेक्षा की गई है, यह बात मुझे कुछ अजीब-सी लगती है।

हिन्दी का आलोचना-साहित्य अभी उन लोगों के हाथ में है जो या तो विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक हैं—जो प्राचीन मान्यताओं और परम्पराओं के अनुयायी हैं, जो दूसरों द्वारा कही बातों को ही अपना सत्य बना लेते हैं, क्योंकि उनमें स्वयं मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति नहीं है—या फिर उन लोगों के हाथ में है, जो दल बनाकर चलते हैं, जो स्वयं सृजनात्मक साहित्यकार बनने के क्रम में परस्पर-प्रशंसा का प्रश्रय लेते हैं, अपने दल के बाहर के लोगों की निन्दा करना जिन्होंने अपना धर्म बना रक्खा है।

जहाँ तक प्राध्यापकों की रूढ़िवादी परम्परा का प्रश्न है, वह धीरे-धीरे टूट रही है। स्वयं चिन्तन और मनन करने वाले लोग बढ़ रहे हैं गोकि उनके बढ़ने में भयानक बाधाएँ पैदा हो गई हैं। एक अजीब तरह की दलबन्दी इस प्राध्यापक वर्ग में भी पैदा हो गई है। देश में व्याप्त नैतिक ह्रास और पतन का क्रम विश्वविद्यालयों में भी बुरी तरह घुस गया है।

फिर भी इतना तो है कि मनुष्य की चेतना मूर्छित भले ही हो, वह मरी नहीं है। नवीन पीढ़ी के प्राध्यापकों में एक प्रवृत्ति आ गई है कि वह सही चिन्तन और स्वतन्त्र मूल्यांकन करें—और इस श्रेणी के लोगों में से हिन्दी के सशक्त आलोचक उभर रहे हैं।

मेरा व्यक्तिगत मत तो यह है कि बच्चन वर्तमान काल के हिन्दी के अमर कवियों में हैं। उनकी महानता को स्वीकार करने में लोगों को जो हिचकिचाहट होती है, उसका एक कारण सम्भवतः यह है कि हिन्दी में कविता में पाण्डित्य अथवा चमत्कार को खोजने की प्रथा आज भी क़ायम है, जब कि बच्चन का धरातल शुद्ध रूप से भावनात्मक है—उनके उन गीतों में जो साहित्य की अमर निधियाँ कही जा सकती हैं। फिर बच्चन की भाषा सहजगम्य और स्पष्ट है, लेकिन बच्चन के प्रसाद गुण की भी उनकी प्रचलित भाषा के कारण उपेक्षा की गई है।

और इस सबके साथ बच्चन की उपेक्षा का एक बहुत बड़ा कारण जो मुझे दिखता है, वह है बच्चन का स्वाभिमान, अनैतिकता अथवा छोटेपन के प्रति उनके अन्दर वाला विद्रोह जो अनजाने ही अपने को प्रकट कर दिया करता है। बच्चन आज के हिन्दी संसार में आदान-प्रदान की ओछी परम्परा को अपनाने में असमर्थ है; यही नहीं, वह स्पष्टवादी है, ग़लत आदमी को वह स्वीकार कर ही नहीं सकता।

और इसलिए मैं यह कह सकता हूँ कि कवि की भाँति, बच्चन स्वयं मुझे बड़ा प्यारा आदमी लगता है।

प्रथम बार बच्चन को मैंने देखा इलाहाबाद में, जहाँ विश्वविद्यालय की एक कहानी-प्रतियोगिता में मुझे निर्णायक की हैसियत से जाना पड़ा था। यह बात शायद सन् १६३३-'३४ की है, मैं उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में प्रवेश कर रहा था।

कहानी-प्रतियोगिता में मैंने एक प्रतिभावान युवक की कहानी सुनी, उसने मुझे प्रभावित किया। जहाँ तक मुझे याद है, प्रथम पुरस्कार बच्चन को ही मिला था, और उसके बाद मैं बच्चन को भूल-सा गया।

मैं उन दिनों जीवन के संघर्षों में बुरी तरह खोया हुआ था, एक जगह जमकर रह भी नहीं पाता था। ठीक तरह से तो नहीं कह सकता, बच्चन की प्रथम कविता 'मधुशाला' शायद मैंने उस कहानी-प्रतियोगिता के तीन-चार साल बाद, किसी कवि-सम्मेलन में सुनी थी और मैंने देखा कि लोकप्रियता में मैं बच्चन से पीछे रह गया हूँ। यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि उस समय सस्वर कविता-पाठ में लोकप्रियता के हिसाब से मैं हिन्दी कविता के क्षेत्र में सबसे आगे था। इस लोकप्रियता में पराजय की भावना इतनी प्रबल थी उस समय कि मैंने बच्चन की कविता के गुणों को स्वीकार ही नहीं किया। लेकिन वह पहली प्रतिक्रिया थी बड़ी स्वाभाविक-- आज मुझे उसपर हँसी आती है। और उस पहली प्रतिक्रिया ने मुझे एक लम्बे काल तक बच्चन के निकट नहीं आने दिया।

लेकिन बच्चन के प्रति मुझमें किसी तरह की कटुता नहीं पैदा हुई—यह भी सत्य है। वैसे बच्चन के हिन्दी कविता के क्षेत्र में आने से पहले मेरा जो कविता-पाठ और कवि-सम्मेलनों पर प्रभुत्व था, उसका टूटना मुझे अच्छा तो नहीं लगा, लेकिन इस ईर्ष्या अथवा कटुता को पालने की न मुझमें प्रवृत्ति थी और न मेरे पास समय था। यह वह काल था जब जीवित रहने के संघर्षों में मैं बुरी तरह व्यस्त था, कभी इलाहाबाद, कभी कानपुर, कभी कलकत्ता, कभी बम्बई—नियति के हिलकोरों में मैं बह रहा था। मेरे अन्दर वाला साहित्यकार विशुद्ध साहित्यकार के रूप में आगे बढ़ने में सतत प्रयत्नशील था और कविता को छोड़कर मुझे गद्य की विधा को अपनाना पड़ रहा था। धीरे-धीरे मैं यह भी भूलने लगा कि मैं कवि हूँ, मैंने सम्पादकीय लिखे, मैंने सिनेमा में संवाद लिखे, मैंने कहानियाँ लिखीं, मैंने उपन्यास लिखे। मुझे याद है कि जब मैं सन् १६४८ में बम्बई के सिनेमा-क्षेत्र को छोड़कर 'नव जीवन' के प्रधान सम्पादक की हैसियत से उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में वापस आया, हिन्दी जगत् के लोग यह भूल ही चुके थे कि मैं कवि भी हूँ।

लेकिन इतना तो है कि उखाड़-पछाड़ के इस लम्बे काल में मैं बच्चन के निकट सम्पर्क में नहीं आ पाया। यह अनायास ही था कि बच्चन और तेजी के विवाह के अवसर पर मैं अपने परिवार वालों से मिलने के लिए इलाहाबाद आया था, और मैं हिन्दी के दो-चार साहित्यकारों में एक था जिन्होंने उस समय बच्चन और तेजी को आशीर्वाद दिए थे। तेजी बच्चन आज भी मुझे उस शुभ मुहूर्त की याद दिला देती हैं, और इधर पिछले कई वर्षों से कुछ ऐसा योग आता रहा है कि बच्चन-तेजी के विवाह-दिन पर मैं दिल्ली में ही मौजूद रहता हूँ और उनके यहाँ जाता हूँ। पर बच्चन से मेरी घनिष्ठता नहीं स्थापित हो पाई, हम दोनों एक-दूसरे से दूर ही रहे।

मैं बच्चन से उम्र में केवल चार-पाँच वर्ष ही बड़ा हूँ। लेकिन मुझे हमेशा यह लगा है कि मैं बच्चन से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में बहुत आगे रहा हूँ। अपनी तरफ़ से बच्चन से आत्मीयता बढ़ाना मुझे कुछ ग़लत-सा लगा। और आज मुझे लगता है कि बच्चन अपनी प्रकृति से मजबूर था। वह अपने में बन्द, मितभाषी, अन्तर्मुखी है। वैसे शिष्टाचार और विनय की कमी मुझे बच्चन में कभी नहीं दिखी, लेकिन अन्य साहित्यकारों के विनय और शिष्टाचार के सम्बन्ध में अपने अनुभवों के आधार पर मैंने बच्चन के विनय और शिष्टाचार को ग़लत समझने की भूल की।

बच्चन के निकट सम्पर्क में आने का मौक़ा मुझे सन् १९५३-'५४ के बाद ही मिला, और अचानक ही मुझे लगा कि मैं एक लम्बे अरसे तक एक बहुत ऊँचे व्यक्तित्व की उपेक्षा करता रहा। मैंने अपनी ग़लती सुधार ली और धीरे-धीरे मुझे लगने लगा कि बच्चन मेरा आत्मीय बन चुका है।

वैसे आज भी बच्चन और मेरे सामाजिक परिवेश में बहुत बड़ा अन्तर है; बच्चन दिल्ली के राजनीतिक जीवन में आ गया है--इसके पहले वह सांस्कृतिक और साहित्यिक परिवेश में अग्रगण्य था, जब कि मैं निहायत बोहीमियन क़िस्म का आदमी हूँ—न मैं किसीको बड़ा मान सकता हूँ, न किसीको छोटा मानता हूँ। लखनऊ में राजनीतिक अथवा सामाजिक एवं सांस्कृतिक हलचलों से एकदम दूर पड़ा हूँ, लेकिन कहीं बच्चन में और मुझमें कुछ समानता है, जिसे मैं ठीक तौर से समझ नहीं पाता। वैयक्तिक जीवन में भी बच्चन और मुझमें बड़ा अन्तर है। बच्चन अन्तर्मुखी है, वह सुनता बहुत है, कहता बहुत कम है, जब कि मैं कहता ही रहता हूँ, सुनने से मुझमें ऊब पैदा होती है। लेकिन जहाँ तक साहित्यिक, नैतिक, सामाजिक और मानवीय मान्यताओं एवं मूल्यों का प्रश्न है, मुझे लगता है कि बच्चन मेरे बहुत निकट है। और इन्हीं मान्यताओं के कारण बच्चन का नुकसान होता रहा है और अब भी हो रहा है। मेरी ही भाँति उच्चन भी स्पष्टवादी है, लेकिन जो आदमी बोलता ही बहुत कम है, उसकी स्पष्टवादिता बहुत कम लोगों को अखरती है। वह तो जब बच्चन बोलने पर मजबूर हो जाता है, तब उसकी स्पष्टवादिता उसकी शत्रु बनती है।

लेकिन जीवन में बोलना ही तो सब कुछ नहीं है। मैं अपनी ही बात जानता हूँ—साफ़-साफ़ जो मन में आया, वह मुँह पर कह दिया और मन हलका हो गया। लेकिन

जो आदमी साफ़-साफ़ कहता नहीं, उसकी स्पष्टवादिता उसके व्यवहार से प्रकट होती रहती है। और इसलिए बहुत कम आदमी बच्चन के निकट आ पाते हैं, क्योंकि बहुत कम ऐसे आदमी होते हैं जो किसी आदमी को पूरी तौर से पसन्द आ सकें। इसके ये अर्थ नहीं कि ग़लत क़िस्म के आदमी बच्चन के निकट आ ही नहीं पाते, लेकिन यह ग़लत क़िस्म के आदमी ऐसे होते हैं, जिनसे समाज को अधिक हानि नहीं पहुँच सकती। मुझे तो कभी-कभी लगने लगता है कि बच्चन साहित्यिक समाज के क्षेत्र में कुछ अकेला-सा है।

सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी बच्चन घुलामिला दिखने के बावजूद, मुझे तो अकेला ही लगता है। कभी-कभी मुझे बच्चन निष्काम कर्म के योगी की भाँति दिखने लगता है—शायद उसका अन्तर्मुखी होना उसकी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है।

बच्चन का जीवन सात्त्विकता का प्रतीक है। आधुनिकतम विकृतियों से युक्त समाज में रहकर भी वह अछूता रह गया। वह निरामिषभोजी है, कभी किसी मादक द्रव्य का उसने सेवन नहीं किया। उसमें धार्मिक एवं नैतिक प्रवृत्तियाँ हैं। लेकिन अपनी विरोधी प्रवृत्तियों के प्रति वितृष्णा को वह ढोंग से नहीं, बल्कि अपने अन्दर ही ध्यानस्थ होकर छिपा सकता है।

मुझे बच्चन के साथ मिल-बैठकर, उससे बातें करके अपार सुख मिलता है। वह मेरे इने-गिने आत्मीयों में एक है।

सुनहला भावना-सेतु

सुमित्रानन्दन पन्त

लोग कहते हैं, दूर के ढोल सुहावने लगते हैं, पर बच्चनजी को आप चाहे दूर से देखिए चाहे निकट से, वे सर्वदा एक ही-से लगते हैं,—कपीश्वर के भक्त, हू-ब-हू तदाकार।

वैसे बच्चनजी को निकटता के अनुवीक्षण से निरखने-परखने पर उनका जो चित्र मन की आँखों में उभरता है, उसका यथातथ्य वर्णन करने में मेरे सामने अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो रही हैं। मैं उनके इतने निकट तथा घनिष्ठ सम्पर्क में रहा हूँ कि अगर मैं उनका कच्चा चिट्ठा सबके सामने रख दूँ तो मेरे बारे में 'घर का भेदी लंका ढाहे' वाली कहावत के चरितार्थ होने का डर है। वैसे इस बात पर मैं और तेजीजी दोनों एकमत हैं कि बच्चनजी जन्मजात कवि तो हैं ही, पर जन्मजात 'बुली' भी हैं। घर को बुली करने के लिए वे किन अमोघ अस्त्रों का प्रयोग करते हैं, इस सम्बन्ध में मौन रहना ही विवेकसम्मत होगा। पर मुझे उन्होंने समय-समय जिस प्रकार बुली किया है, उसके दो-एक उदाहरण निःसंकोच उपस्थित किए जा सकते हैं!

सत् १९४१ में मैं और बच्चनजी साथ ही, प्रयाग में 'बसुधा' नामक डाक्टर श्रीरंजन की कॉटेज में रहते थे। उस कॉटेज का नाम 'बसुधा' कैसे पड़ा, इसकी चर्चा बच्चनजी कहीं कर चुके हैं। प्रथम बार मुझे बच्चनजी के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य तभी प्राप्त हुआ। पहाड़ी होने के कारण मैं गर्मी से बहुत घबड़ाता हूँ और जब 'प्रचंड सूर्यः' निदाघ का आगमन हुआ तो मैं दिन भर कमरे के अन्दर ही रहना पसन्द करता था। बच्चनजी ऋषि-मुनियों के यज्ञों की आग से सिंके प्रयाग के पुण्यतीर्थ में पैदा हुए। उनकी देह मेरे वातानुकूलित शरीर की तुलना में ग्रीष्म की भट्टी में तपी हुई पक्की ईंट की तरह सहज ही तापानुकूलित बन गई है। वे मुझे घर के अन्दर दुबका देखकर अक्सर कहते, "आप भी, पंतजी, गर्मी से ऐसा घबड़ाते हैं कि बस। मुझसे कहिए, मैं नंगे पैर, नंगे सिर, जून के महीने में, भरी दोपहरी को प्रयाग की सारी सड़कों का चक्कर लगा सकता हूँ।" और कभी कहते, "आप क्या हर वक्त बीमार-से बने रहते हैं! मुझे देखिए, मैंने असाध्य से असाध्य रोग को केवल अपनी मनःशक्ति के बल पर, हफ़्तों उपवास रखकर, पेट में मिट्टी बाँधकर ठीक कर दिया है! मैं दैत्य हूँ! दैत्य!" अब भी कभी रात को उन दिनों की याद आने पर वे स्वप्न में चीख उठते हैं—"अहह, सो भुजबल अब मोहि नाहीं।"

पहिले-पहिल मेरा उनकी बातों से हीन भावना पीड़ित मन उनके रोब में आकर

उनके पौरुष-प्रदर्शन के सम्मुख ग्राश्चर्य ग्रौर भय से प्रणत हो उठता था। पर कुछ दिनों के बाद उनकी साहसिकता ग्रथवा दु:साहस की ग्रौर भी बढ़ी-चढ़ी हवाई बातें सुनकर मेरा माथा ठनका ग्रौर उनके भीतर छिपा हुग्रा 'बुली' कोहरे के हट जाने पर विन्ध्य के बौने ग्रनगढ़ शृंग की तरह यकायक मेरे मनोनयनों के सम्मुख उद्घाटित हो गया ! फिर क्या था, मुझे उनकी हर बात पर हँसी छूटने लगी, यहाँ तक कि मैं उनकी सही बात का भी मज़ाक उड़ाने लगा। मुझे पैंतरा बदलता देख बच्चनजी कुढ़कर कहते रहते कि मैं उनकी हर बात को मज़ाक समझता हूँ। ग्रसल बात यह है कि बच्चनजी भी गर्मी से उतना ही घबड़ाते हैं जितना कि मैं ! क्योंकि शरीर (उर्दू का नहीं, संस्कृत का शब्द) चाहे तथाकथित दैत्य हो या मुझ जैसा मनुष्य, वह लगभग — रूप या ग्राकार में न सही — प्राकृतिक गुणों में एक ही-सा होता है। ग्रौर मैं जानता हूँ कि ग्रगर बच्चनजी को जून के महीने में बाहर जाना होता तो वे रिक्शा में —तब उनके पास गाड़ी नहीं थी, वे शोध छात्र थे - खस की टट्टी लगाकर जाते। बहरहाल ऐसी बीसियों बातें हैं जिनपर यदि लिखा जाए तो 'गांधी युग पुराण' की तरह ही एक नया 'बच्चन पुराण' भी बन जाए।

उनकी बहादुरी की एक बात ग्रौर याद ग्राती है। वे हॉलैंड हाल में, ग्रन्य सहपाठियों के साथ — जिनमें मेरे ममेरे भाई भी थे — जिस बँगले में, शोधकार्य करते समय, रहते थे, उसमें रात को ग्रकेले बाथरूम में घुसने का साहस नहीं बटोर पाते थे, क्योंकि वह तब भुतहा बँगला माना जाता था। ग्रनिवार्य ग्रावश्यकता पड़ने पर वे मेरे ममेरे भाई को जगाकर साथ ले जाते थे। लेकिन डींग हाँकते समय वे ग्रपनी बहादुरी की बात भूलकर सिर पर हनुमानजी की तरह संजीवन पर्वत ही उठा लेते हैं।

बच्चनजी से सर्वप्रथम मेरी भेंट किस सन् में हुई, यह याद नहीं पड़ता। पर हुई प्रफुल्लचन्द्र ग्रोझा 'मुक्त' जी के प्रतिमा मन्दिर के किसी कवि-सम्मेलन में, यह निश्चित है। उनकी संगीत-मधुर वाणी तथा 'मधुशाला' की मादक रचनाएँ सुनने का पहला ग्रवसर मुझे तभी मिला था। सम्मेलन के बाद मुक्तजी ने हम दोनों को विशेष रूप से मिलने का ग्रवसर दिया। बच्चनजी तब दोनों हाथों से कुल्हड़ पकड़े चाय पी रहे थे, ऐसा मुझे स्मरण है। कुल्हड़ ही से संभवत: उन्होंने ग्रपनी 'मधुशाला' के प्रतीक प्याले की कल्पना की होगी, ऐसा तब मेरे मन में ग्राया। ग्रब मैं कह सकता हूँ कि इस प्रकार की काल्पनिक छलांगें मारना बच्चनजी खूब जानते हैं। वे मलाई ही नहीं, सभी प्रकार का बढ़िया तर माल खाने के बड़े शौकीन रहे हैं। मैं उन्हें मलाई पर लपकते देखकर प्राय: उनसे कहा करता हूँ कि 'हलाहल' पीने की कल्पना भी ग्रापने फ्रिज में रखी मोटी मलाई की परतों का स्वाद लेते हुए ही की होगी। क्योंकि जहाँ तक व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष का प्रश्न है, बच्चनजी ग्रपने को बराबर तीसमारखाँ साबित करते रहते हैं। उनके ग्रात्म-संघर्ष की बातें सुनकर शर-शय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह की याद ग्राने लगती है। लोग राई का पहाड़ किस तरह बना लेते होंगे, इसका ग्राभास मुझे बच्चनजी के मुँह से उनके जीवन-संघर्ष की कथा सुनकर ही मिला। बिचारे बच्चनजी ! उनका-सा जीवन-

संघर्ष इतिहास के पृष्ठों में शायद ही किसीने झेला हो—न भूतो न भविष्यति। लोगों की सहानुभूति तो—जो उनकी आत्म-दया पीड़ित अतिरंजना की कला से अनभिज्ञ हैं—वे बेबात की बात में, अँगुली के इशारे पर अपनी ओर कर लेते हैं और कुछ समय को स्वयं भी अपने कल्पित संघर्ष के विराट् आयोजनात्मक संतोष में खो जाते हैं।

सन् १९३९ में मुझे बच्चन और नरेन्द्र के साथ कुछ समय के लिए प्रयाग में दिलकुशा वाले मकान में रहने का सौभाग्य मिला था। तब बच्चनजी अपनी पत्नी श्यामाजी के बिछोह के कारण अत्यन्त दुःखी थे और 'निशा-निमन्त्रण' के गीतों में अपने हृदय की वेदना को उँडेलने का प्रयत्न कर रहे थे। कभी-कभी उनके मुँह से 'निशा-निमन्त्रण' की रचनाएँ सुनने पर उनके मन में छाए गहरे घने विषाद का संकेत मिल जाता था और उनके प्रति एक सहज सहानुभूति से चित्त विद्रवित हो उठता था और हम लोग अपने ही ढंग से उनका मनोरंजन करने का प्रयास करते थे। उन्हीं दिनों की बात है कि एक बार ब्यालू में रायते को खीर समझकर वे उसे अंत तक 'मधुरेण समापयेत्' के इरादे से अपनी थाली में सँजोए रखे रहे। और जल्दी-जल्दी भोजन समाप्त कर जब अधीरता के साथ उसपर टूटे तो मुँह के भीतर रायते की खटास कड़वाहट में बदल गई और बिचारे खिसियाई बिल्ली की तरह अपने अक्ल के पंजों से अपने ही को नोचते रहे। दही के धोखे कपास तो वे अनेक बार खाते रहते हैं, पर खीर के धोखे में रायता खाने का यह सम्भवतः उनका पहिला ही अवसर रहा होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि बच्चन के साथ मेरी मैत्री में प्रगाढ़ता तेजीजी से उसकी शादी होने के बाद ही आई और सम्भवतः मैं साईंदा भी तभी से बना। हमारे सम्बन्धों में इस प्रकार के रूपान्तर का सर्वाधिक श्रेय मेरी दृष्टि में तेजीजी ही को है, जिनके स्वभाव में एक सहज नारी-सुलभ मार्दव तथा उदारता तो है ही, मन के भीतर एक अज्ञात किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि भी है, जो जानती है कि किससे कैसा व्यवहार रखना चाहिए और किसे किस प्रकार के स्नेह-सद्भाव की आवश्यकता है। तेजीजी की परिष्कृत स्नेहयुक्त चेतना की पृष्ठभूमि एवं परिवेश पाकर बच्चन का व्यक्तित्व धीरे-धीरे निखरकर अधिक सभ्य तथा सुसंस्कृत बन सका और उसकी आत्मकेन्द्रित भावना में व्यापक आयाम प्रस्फुटित होने लगे। तभी से मैं बच्चन-दम्पती के गम्भीर स्नेह-सूत्र में बँध सका हूँ और इससे मुझे बड़ा सन्तोष मिलता है। जैसे कोई सूखा अनगढ़ पाषाण संगमर्मर की सौम्य सुघर प्रतिमा में परिणत हो जाए, तेजीजी की मधुर प्रखर स्नेह की छेनी तथा अलक्ष्य निष्ठा की सन्तुलित चोटों का बच्चन के मनोविन्यास में कुछ ऐसा ही मार्मिक प्रभाव पड़ा।

वैसे बच्चन के चरित्र में सदैव ही आत्मोन्नय एवं आत्म-प्रसार के लिए एक सशक्त अन्तः-संस्कार वर्तमान रहा है और वह अपनी भीतरी-बाहरी परिस्थितियों से अश्रांत जूझता हुआ—दैत्य जो ठहरा—सीढ़ी दर सीढ़ी ऊपर उठने के साथ ही सदैव आगे भी बढ़ता रहा है। उसका बाह्य स्वरूप व्यवहार-परुष, या आप चाहें तो, व्यवहार-सजग होने पर भी उसका आभ्यंतर रूप अत्यन्त निष्ठा-श्रद्धावान तथा आस्था-द्रवित है, जिसकी मुझे कई बार झाँकी मिल चुकी है। आदर्श और वास्तविकता में, वह आदर्श

को श्रद्धापूर्वक प्रणाम कर, वास्तविकता ही के पक्ष को महत्त्व देता है, ऐसा मेरा अनुभव है।

बच्चन का साहित्यिक मूल्यांकन करने का यह अवसर नहीं है, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि इस युग में उससे अधिक लोकप्रिय कवि दूसरा नहीं जन्म ले सका है और हिन्दी काव्य को मानवीय भाव-प्रवण संवेदना की इतनी सहज-मार्मिक सन्निकटता दूसरा कोई कवि प्रदान नहीं कर सका है। वह दिनकरजी का जोड़ीदार होने पर भी अनेक बातों में बेजोड़ है।

सन् १९६३ के जाड़ों तक मेरे-बच्चन के स्नेह-सम्बन्ध जिन सहज आस्था-विश्वास के शिखर पर खड़े थे, वह अब सम्भवत: खिसक गया है। स्नेह स्नेह का मुख पहचानता है। बच्चन के दृष्टिकोण में यह परिवर्तन उसके उपचेतन में प्रच्छन्न जिन कारणों से भी आया हो, उसका विश्लेषण मैंने नहीं करना चाहा। सम्भवत: उसकी तर्कबुद्धि की कसौटी में मेरे प्रति वह सहज आस्था खरी न उतरी हो। पर अब भी जो स्वच्छ विरल असंग सम्बन्ध-सूत्र हम दोनों के बीच शेष है, वह, मैं समझता हूँ, व्यावहारिक सौष्ठव तथा परस्पर सद्भावपूर्ण ही है और रहेगा। बच्चन और नरेन्द्र दोनों ही मेरे प्रिय मित्रों में रहे हैं, पर अब दोनों ही भौगोलिक तथा मानसिक कारणों से भी मुझसे दूर पड़ गए हैं। इसका कारण यह भी है कि जीवन परिवर्तनशील है। मैं दोनों का शुभैषी हूँ और दोनों की स्नेह-मधुर स्मृतियाँ अब भी मेरे मन में सुखद वातावरण का संचार करती रहती हैं।

इन थोड़े-से शब्दों में मैंने अपने और बच्चन के बीच जिस सुनहले भावना-सेतु को प्रलंबित किया है, मुझे विश्वास है, उसपर काल के परिवर्तनशील चरण भी क्षण भर रुककर सुख का अनुभव करेंगे और जीवन की आपाधापी की क्लांति मिटा सकेंगे। इति।

आधे के हिस्सेदार

रामधारीसिंह दिनकर

जो व्यक्ति जितना ही अधिक समीप होता है, उसके बारे में लिखना उतना ही अधिक कठिन होता है। यह बहुत कुछ वैसी ही कठिनाई है, जैसी कठिनाई तुरन्त घटित होने वाली घटनाओं अथवा तुरन्त सूझने वाले भावों को चित्रित करने में होती है। जब तक हम घटनाओं के बहुत क़रीब हैं, तब तक उनके बारे में अख़बारी चीज़ें ही लिखी जा सकती हैं। घटनाओं के साहित्य बनने में दूरी या व्यवधान चाहिए। किन्तु, बच्चन और मेरे बीच दूरी है ही नहीं। हम लोग जब मिलते हैं, हम केवल साहित्य, कला, अध्यात्म और राजनीति की ही बातें नहीं करते, हमारी बातचीत के बहुत-से विषय पारिवारिक भी होते हैं, वैयक्तिक भी होते हैं और कभी-कभी गोपनीय भी होते हैं। बच्चन के व्यक्तित्व के समान निश्छल और आनन्ददायी व्यक्तित्व मैंने बहुत कम लोगों का देखा है। मुझे दुःख है कि बच्चन के साथ अपने घनिष्ठ सम्बन्ध के नोट मैंने नहीं जुगाए, अन्यथा मेरी वह दुरवस्था नहीं होती, जो अभी हो रही है।

फिर भी क़िस्से का आरम्भ मैं आरम्भ से ही करूँगा। बच्चन और मैं दोनों ने साहित्य में उस समय आंखें खोली थीं जब छायावाद अपने शिखर पर पहुँच चुका था और जब ये आसार आशकार हो रहे थे कि कविता कोई अन्य मार्ग पकड़ने वाली है। हम दोनों पहले-पहल सन् १९३४ ई० में कलकत्ते में मिले, जब जापान के राष्ट्रकवि योन नोगूची के सम्मान में कलकत्ते में एक विशाल कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। महादेवीजी, भगवती बाबू, रामकुमारजी, मनोरंजनजी, हृदयेशजी, बिस्मिल इलाहाबादी आदि अनेक सुकवियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया था। महादेवीजी के मुख से पहले पहल मैंने इसी कवि-सम्मेलन में कविता सुनी थी। उसी यात्रा के क्रम में हममें से कई लोग पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी के नेतृत्व में शान्ति निकेतन गए थे। हम लोगों का काव्य-पाठ शान्ति निकेतन में आयोजित एक गोष्ठी में भी हुआ था। महादेवीजी ने उस गोष्ठी में भी काव्य-पाठ किया था। मगर, जहाँ तक मुझे याद है, उस गोष्ठी के बाद किसी और गोष्ठी में महादेवीजी को कविता पढ़ते मैंने नहीं देखा है।

बच्चन से जब मैं पहले पहल मिला, उसके पूर्व ही मैं उनकी कृतियों से परिचित हो चुका था। शायद वे भी तब तक मेरी दो-चार चीज़ें पढ़ चुके थे। एक दृष्टि से, हम दोनों के दोनों समान रूप से भाग्यशाली रहे हैं। हम लोगों की कविता के विरोधी या हमारे निन्दक साहित्य में नहीं रहे हों, यह बात नहीं है। मगर, जनता का समर्थन हमें आरम्भ से ही प्राप्त था। जनता मेरी ओर इसलिए उन्मुख हुई थी कि मेरा आरंभ राष्ट्रीय

चेतना के इर्द-गिर्द हुआ था। बच्चन उगते ही जनता के प्यारे इसलिए हो गए कि उन्होंने मस्ती और बेफ़िक्री के गीत एक अनुपम कलाकारिता के साथ आरंभ किए।

हम लोगों की बातचीत बड़ी ही अन्तरंग और कभी-कभी फूहड़ भी होती है। मगर एक ग़लती मुझसे हो गई जिसपर मेरी नज़र आज पड़ी है। मैं बच्चन से यह पूछना भूल गया हूँ कि कभी उनके भीतर यह लोभ जागा है या नहीं कि मेरे द्वारा रचित किसी कविता के नीचे हस्ताक्षर मेरा नहीं, उनका होता। मगर सच बात यह है कि बच्चन की कई कविताओं को देखकर मैं लुभा गया था और कभी-कभी यह भी सोचने लगा था कि काश, इन कविताओं के नीचे हस्ताक्षर मेरे हुए होते।

कलकत्ते में नोगूचीवाले कवि-सम्मेलन के अलावे एक-दो गोष्ठियाँ और हुई थीं जिनमें हमने साथ-साथ कविताएँ पढ़ी थीं। इन गोष्ठियों में बच्चन के साथ मेरी बात-चीत तो बहुत कम हो पाई, मगर, मैंने आँखों के सहारे उन्हें तोलने और आज़माने की कोशिश ज़रूर की। मुझे याद है कि उस समय बच्चन के प्रति मुझमें ममता का भाव जगा था, उनपर प्रेम और भक्ति उत्पन्न हुई थी। उन दिनों वे राजयक्ष्मा अथवा ऐसी ही किसी बीमारी से चंगे हुए थे, अतएव उनके प्रति श्रद्धा और ममत्व कुछ अधिक ही उत्पन्न हुआ था। शान्ति निकेतन के बाद जब मैं अपने कर्मस्थान को लौटा, पं० बनारसीदासजी ने एक पत्र लिखकर मुझे बताया कि आप दोनों कवि मित्र-भाव से रहें और मुझे बताएँ कि बच्चनजी आपको कैसे लगे हैं। यह उपदेश चौबेजी ने क्या सोचकर दिया था, इसका मुझे पता नहीं है। बच्चन और मैं कभी भी प्रतिस्पर्धी होकर प्रकट नहीं हुए हैं, न कलकत्ते में हमारे बीच कोई प्रतिस्पर्धा का भाव था। मैंने चौबेजी की ही शैली में उन्हें अंगरेज़ी और हिन्दी मिश्रित एक पत्र लिखा, जिसका अंगरेज़ी अंश उन्होंने 'विशाल भारत' में प्रकाशित किया था।

"बच्चन इज़ द हार्बिंजर ग्राफ़ स्टिल बेटर थिंग्ज़ इन अवर लिटरेचर। मे ही लिव लांग फ़ार ही विल डू मिरैकिल्स।" (बच्चन हमारे साहित्य में और भी श्रेष्ठ कृतियों के अग्रदूत हैं। वे दीर्घजीवी हों। उन्हें बहुत चमत्कार करने हैं।)

मेरा ख्याल है, मेरी भविष्यवाणी चरितार्थ हो गई। बच्चन की कविताओं की ऐसी धूम मची कि हिन्दी का काव्य-जगत् बच्चनमय हो उठा और प्राय: प्रत्येक नगर कोशिश करने लगा कि बच्चनजी, कम से कम एक बार, उसे भी अवश्य कृतार्थ करें। जिन लोगों ने उन दिनों बच्चन का सार्वजनिक काव्य-पाठ नहीं सुना, उन्हें इस बात पर यक़ीन नहीं होगा कि बच्चन की लोकप्रियता किस कोटि की थी। उनकी शुहरत की तुलना केवल सिने-सितारों की ही शुहरत से की जा सकती थी। जिस कवि-सम्मेलन में बच्चन पधार जाते थे, उसका भाग्य चमक उठता था और जनता इस बात के लिए तैयार रहती थी कि बच्चन-जी अगर सारी रात कविताएँ सुनाते रहें, तो जनता सारी रात आनन्द से बैठी रहेगी। और बच्चन ने भी कोताही नहीं की। ऐसे अनेक कवि-सम्मेलन हुए, जिनमें थोड़ी-सी रिलीफ़ ले-लेकर बच्चन रात भर काव्य-गायन करते रहे। उन दिनों कविताएँ तो मैं भी देर तक और बार-बार पढ़ता था, किन्तु बच्चन वाला धीरज मुझमें नहीं था और अक्सर मुझे इस बात से कुढ़न हो जाती थी कि बच्चनजी कवि-सम्मेलन को समाप्त क्यों नहीं

होने देते हैं।

यहाँ बच्चन का चेहरा मुझे एक करुण प्रसंग में याद आता है। उन दिनों मैं कहीं देहात में सब-रजिस्ट्रार था। अचानक मैंने सुना, बच्चन की पत्नी सख्त बीमार हैं और उनका इलाज डाक्टर भार्गव से करवाने को बच्चनजी उन्हें पटने ले आए हैं। अतएव, एक रविवार को मैं पटने आया और बच्चन से मिलने को अस्पताल गया। उस दिन वे धोती और कुरता पहने हुए थे। राजयक्ष्मा से वे खुद मुश्किल से उबरे थे, उसपर घातक रोग से ग्रसित पत्नी की चिंता। उनका चेहरा दुर्बल, उदास और ग़मगीन था, मगर उनके सिर पर के घुँघराले बाल उन्हें तब भी मनोज्ञ बनाए हुए थे। और उनके व्यक्तित्व का सारा तेज तब भी उनकी आँखों से झाँक रहा था। बच्चनजी की आँखें बड़ी नहीं हैं, मगर वे उनके व्यक्तित्व को बराबर व्यंजित करती हैं। उनमें कुछ तो तटस्थता दीखती है, कुछ गहराई और कुछ ऐसी वेधकता, जो बिलकुल ही अनिर्वचनीय है।

बच्चनजी मुझे श्यामाजी (उनकी प्रथम भार्या का यही नाम था) की रोगशय्या के पास ले गए और उनसे उन्होंने मेरा परिचय कराया। श्यामाजी का शरीर सूखकर काँटा हो गया था। वे खाट से लगी हुई थीं। फिर भी उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर मुझे नमस्कार किया और एक गुलाब का फूल दिया जो, न जाने, कैसे उनके सिरहाने पर पड़ा हुआ था। फिर बच्चनजी के कान में धीमे से उन्होंने कोई बात कही। बच्चनजी ने कहा, "इन्हें जब भी कड़वी दवा की घूँट पीनी पड़ती है, तब इनके मुख से तुम्हारी कविता की एक पंक्ति निकल जाती है।

हे नीलकण्ठ, संतोष करो, था लिखा गरल का पान तुम्हें।"

जब श्यामाजी की रोग-शय्या से हम हटे, बच्चनजी ने कहा, "भाई, मैं खुद थाइसिस से ग्रस्त हुआ था। लोगों ने मुझे बहुत उपदेश दिए कि अमुक जगह पर जाकर अमुक डाक्टर से इलाज करवाओ। मगर, उतने पैसे कहाँ से लाता? मैंने हर दोस्त से यही कहा कि अच्छा तो मैं केवल अपनी तपस्या से होऊँगा और तपस्या के ज़रिये ही मैं उस रोग से मुक्त भी हो गया। मगर श्यामा का कष्ट नहीं देखा जाता है। तुम समझ सकते हो कि मैं कैसी परीशानियों में मुब्तिला हूँ।"

बच्चन ने लाख प्रयत्न किए, मगर, श्यामाजी नहीं बच सकीं। और श्यामाजी के शरीरान्त के बाद बच्चनजी दर्द से बेहाल, बल्कि, विक्षिप्त हो गए। 'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' उन्हीं बेचैन दिनों की रचनाएँ हैं। "इस पार प्रिये, मधु है, तुम हो, उस पार न जाने क्या होगा" यह उन दिनों की रचना है, जब बच्चनजी अपनी बीमारी के कारण निराश थे। किन्तु, 'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' उनके विरही जीवन की अनुभूतियों से उत्पन्न हुए थे। बच्चनजी जब यह कहते हैं कि मैंने वही लिखा है, जो भोगा है, वे ज़रा भी अत्युक्ति नहीं करते। 'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' को देखकर यह अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि सच्ची कविता घटना होती है, जीवन का यथार्थ चित्रण होती है और जिस कविता में कवि खुद समाया होता है, वही कविता औरों के भी हृदय में समा जाती है। इलियट ने लिखा है कि एक ही व्यक्ति दर्द भी

भोगता है और कविता भी लिखता है। मगर कलाकार जितना ही बड़ा होता है, उसके भीतर के दर्द भोगनेवाले मनुष्य और रचना करनेवाले कवि के बीच की दूरी उतनी ही बढ़ जाती है। 'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' इलियट की इस उक्ति का खण्डन करते हैं, क्योंकि इन दो पुस्तकों की कविताओं में हमें दर्द भोगने वाले मनुष्य और रचना करने वाले कलाकार के दर्शन साथ-साथ होते हैं और हमपर प्रभाव उन दोनों का पड़ता है। हम हिन्दी-भाषी लोग बच्चनजी की वर्तमान सहधर्मिणी श्रीमती तेजीजी के बहुत-बहुत आभारी हैं कि उन्होंने भारत के एक रससिद्ध कवि के जीवन में फिर से वसन्त ला दिया और निराशा एवं विषण्णता की ओर बड़ी तीव्र गति से बढ़ती हुई बच्चन की कविता को एक नया मोड़ दे दिया।

उन दिनों लोगों के बीच यह कानाफूसी चला करती थी कि बच्चनजी केवल मधु के गीत ही नहीं लिखते, उसका सेवन भी करते हैं। कई बार उनपर यह आक्षेप भी हुआ था कि जब देश में आज़ादी की इतनी बड़ी लड़ाई चल रही है, तब बच्चनजी अपनी वेदना में क्यों पड़े हैं, वे देशभक्ति के गीत क्यों नहीं लिखते? बच्चनजी ने इन आक्षेपों के उत्तर भी दिए थे। एक आक्षेप का उत्तर उन्होंने यह कहकर दिया था कि मेरे पास जो शराब है, उसे मैं नहीं पीता, वही मुझे पीती है। और दूसरे आक्षेप के उत्तर में उन्होंने कई कविताएँ लिखी थीं जिनमें से एक पंक्ति अत्यन्त सबल थी।

हैं लिखे मधु गीत मैंने
हो खड़े जीवन-समर में।

मूर्खतावश एक दिन मैंने भी बच्चन से कहा था कि "अरे यार, अब रोना-धोना छोड़ दो और कभी-कभी देश और ज़माने से भी प्रेरणा लो।" बच्चन ने मुझे सटीक जवाब दिया था, "पहले मैं अपने-आपको तो सँभाल लूं।" उसके बाद मैंने फिर कभी यह बेहूदगी का सवाल नहीं किया।

बच्चनजी और मैं एक साथ कई सम्मेलनों में सम्मिलित हुए हैं और जहाँ साथ-साथ हमने वाहवाही लूटी है, वहाँ साथ-साथ डाँट और फटकार भी सुनी है। गोरखपुर के विराट् कवि-सम्मेलन में हम दोनों आसपास सटकर बैठे थे। हमारा दुर्भाग्य कि उन दिनों हम लोग शरीफ़ आदमियों की तरह चुपचाप नहीं बैठ सकते थे, बल्कि, फुसुर-फुसुर कुछ न कुछ बतियाते रहते थे। हमारी इस ग़लती को एक कवि ने पकड़ लिया और माइक पर उन्होंने पुकारकर कहा, "पीछे बैठे दोनों महाकवि तो आपस में बातें कर रहे हैं। कविता क्या खाक पढ़ी जाएगी!" जनता यह सुनकर ज़ोरों से हँस पड़ी, मगर हम दोनों काफ़ी हतप्रभ हो गए। उस दिन हमने प्रतिज्ञा की कि अब ऐसी ग़लती हम नहीं करेंगे, मगर प्रतिज्ञा ठीक से निभी नहीं। यह बात और है कि कृपालु कवियों में से किसीने फिर हमें डाँट नहीं सुनाई।

जब मैं साउथ एवेन्यू (नई दिल्ली) में रहता था, तब भी बच्चनजी विलिंगडन क्रिसेन्ट में ही रहते थे। हम दोनों अपने-अपने घर से सुबह में टहलने को चाणक्यपुरी की ओर चले जाते थे। जाते समय हमारा साथ नहीं होता था, मगर टहलने के क्रम में

हमारी भेंट अक्सर हो जाती थी। जब भी भेंट होती, मैं यह देखकर खूब हँसता कि बच्चनजी पत्थर का कोई टुकड़ा गरदन पर सँभाले, सड़क के ओवरसीयर के समान, चले आ रहे हैं। और कौतुक उन्हें भी होता था कि मैं अक्सर नीम के दातुन तोड़कर उन्हें कन्धे पर उठाए चलता था। उन दिनों बच्चनजी को पत्थरों से सांकेतिक प्रतिमाएँ बनाने का शौक हो गया था। उन्होंने इस काम के लिए छैनी, हथौड़ी और कुछ रंग भी खरीद लिए थे। रास्ते में चलते समय वे पत्थरों के टुकड़ों को ग़ौर से देखते और कल्पना लड़ाते कि किसी टुकड़े में कोई मूर्ति छिपी हुई है या नहीं। अगर कोई टुकड़ा उन्हें ऐसा दिखाई देता, जिसके भीतर से मूर्ति उभारी जा सकती थी, तो वे उसे उठाकर अपने कन्धे पर रख लेते और घर आकर छेनी, हथौड़ी और रंग के प्रयोग से कोई मूर्ति तैयार कर लेते। ऐसी अनेक प्रतिमाएँ अब भी उनके बरामदे की शोभा बढ़ाती हैं।

बच्चनजी के इस शौक पर मैं यह टिप्पणी करता था कि "कवि कोई कौतुक रचे बिना शायद जी नहीं सकता है। देखो न, महादेवीजी ने ढेर की ढेर बिल्लियाँ, गिलहरियाँ और बहुत-से कुत्ते और पक्षी पाल रखे हैं। सुना है, जानकीवल्लभजी के यहाँ भी कई दरजन बिल्लियाँ पल रही हैं, जिनमें से प्रत्येक का नाम उन्होंने किसी अप्सरा के नाम पर रखा है। और तुम्हें कुछ न सूझा, तो पत्थर में लग गए हो।"

उन दिनों काव्य-चर्चा के प्रसंग में बच्चनजी अक्सर एक पते की बात कहते थे, "कविता का रंग-ढंग बदल गया और हमें भी जो लिखना था, हम लिख चुके हैं। क्या तुम्हें यह नहीं लगता कि हम लोग अपनी ही सीमा में घिर गए हैं? अब जो लिखने लगता हूँ, तो साफ़ दिखाई देता है, इधर 'मधुशाला' राह रोके खड़ी है, उधर 'मधुबाला' है और बाक़ी दिशाओं में 'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत'। और तुम क्या 'हुंकार', 'कुरुक्षेत्र' और 'रसवन्ती' की सीमाओं को लाँघ सकते हो? (तब तक 'उर्वशी' नहीं लिखी गई थी।) एक उम्र में आकर कवि अपनी ही पूर्व कृतियों के वृत्त में घिर जाता है और वह अपनी ही परिधि का उल्लंघन नहीं कर सकता।" बच्चन की बात वैसे ठीक है, मगर, रवीन्द्रनाथ इस नियम के अपवाद माने जाएँगे।

बच्चनजी बड़े ही निश्छल और निर्लिप्त मनुष्य हैं। दिन-दिन मैं जितना ही उनके समीप पहुँचा हूँ, उतना ही मैंने उन्हें निर्मल और विश्वसनीय पाया है। मित्रता उनकी ऐसी प्रगाढ़ है कि सन् १९६७ ई० में, जब मैं जीवन की सबसे बड़ी विपत्ति में फँसा, वे बराबर समय निकालकर मेरे पास आते थे और देर तक मुझे ढाढ़स बँधाते थे। उन दिनों जितना बल मुझे प्रार्थनाओं से मिलता था, उतनी ही प्रेरणा बच्चन की सत्संगति से भी प्राप्त होती थी।

कुन्ती ने भगवान श्रीकृष्ण से कहा था कि प्रभो, मुझे हमेशा विपत्ति में रखो जिससे मैं तुम्हें भूल नहीं जाऊँ। मेरी विपत्ति सन् १९६३ ई० में आरम्भ हुई और जिस क्षण मेरी विपत्ति जन्म ले रही थी, ठीक उसी समय बच्चनजी पटने में मेरे घर पर विद्यमान थे। विपत्ति के झोंके ने मुझे साधुओं, सन्तों और भगवान की ओर झुका दिया। तब से बच्चनजी के साथ मेरी अधिकांश चर्चा अध्यात्म को लेकर चलती रही है। बच्चन-जी खुद अध्यात्म की ओर मुड़ गए हैं। उन्होंने गीता के दो-दो अनुवाद प्रकाशित करवाए

हैं। किन्तु, चर्चा के दौरान वे अक्सर यही कहते हैं, "दिनकर, मुझे तो बुद्धि कहीं बँधने नहीं देती। तुम्हें यदि अमृत मिल जाए, तो मुझे भी चखाना।"

मैं जिस अमृत की तलाश में हूँ, वह इस जीवन में मुझे प्राप्त होगा या नहीं, यह मैं नहीं जानता। किन्तु, यदि वह प्राप्त हो गया, तो भगवान से मेरी प्रार्थना होगी कि उसका स्वाद बच्चन को भी प्राप्त हो।

इलाहाबाद के साहित्यकार-संसद् ने जब 'कुरुक्षेत्र' काव्य के लिए मुझे सम्मानित किया था और एक हज़ार रुपये का पुरस्कार दिया था, उस समय गंगा की रेत पर महादेवीजी ने एक अद्भुत समारोह आयोजित किया था—ऐसा समारोह, जिसका जोड़ मैंने तब से आज तक नहीं देखा है। उस समय हिन्दी के अनेक श्रेष्ठ कवियों और लेखकों ने मेरे लिए आशीर्वाद और प्रोत्साहन के बड़े ही मार्मिक उद्‌गार प्रकट किए थे। जब बच्चनजी की बारी आई, उन्होंने कहा, "दिनकर और मैं जोड़ीदार हैं। जो चीज़ मुझे मिलती है, उसमें आधा हिस्सा उसका है; जो चीज़ उसे मिलती है, उसमें आधा हिस्सा मेरा है। इसलिए, मैं दिनकर से कहता हूँ, भाई, अद्धो।"

मगर सभा में मैं कृतसंकल्प होकर गया था। मुझे जो भी पुरस्कार मिला, उसे मैंने भारत कला भवन को दान कर दिया। लेकिन अमृत की प्राप्ति अगर मुझे हुई, तो उसका आधा हिस्सा बच्चन को मिल जाए, यह मेरी एकान्त कामना है। मैं जिस शक्ति की आराधना में हूँ, वही हम दोनों की तृषा मिटा सकती है। अथवा यह भी सम्भव है कि अमृत की प्राप्ति पहले बच्चन को ही हो और मैं उसका हिस्सेदार बनूँ। बच्चन के पास जो 'डायनेमो' है, उसकी शक्ति असाधारण है। उस 'डायनेमो' का रुख़ अध्यात्म की ओर होने से बच्चन उस दिशा में भी दूर तक पहुँचेंगे।

जब पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' के दूसरे भाग का नवीन संस्करण निकाला, उसमें उन्होंने एक ऐसी बात लिख दी, जो शायद लिखने लायक़ नहीं थी। उन्होंने लिखा था, "दिनकर और बच्चन प्रतिद्वन्द्वी कवि हैं। एक की भाषा लाजवाब है, दूसरे के भाव बड़े उन्मादक हैं। इनमें से जो भी कवि अपने प्रतिद्वन्द्वी का गुण ग्रहण कर लेगा, वही अगले युग का नेता होगा।" मेरे भावों की उन्मादकता शायद कम हो चुकी है, क्योंकि एक उम्र पर आकर यह गुण रूपान्तरित हो जाता है। मगर मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि बच्चन की भाषा आज भी लाजवाब है।

लड़ी संस्मरणों की

नरेन्द्र शर्मा

पिछले छत्तीस वर्षों में देश-काल कुछ ऐसी तीव्र गति से और इतना बदला है कि बीती बातों की स्मृतियों को चुनने के लिए मन को पीछे छूटी हुई भूमिकाओं की ओर ले जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

संकेत पाते ही मन उस ओर मुड़ जाता है। बिखरी हुई स्मृतियों को चुनकर, मन संस्मरणों की लड़ियाँ बनाने लगता है। और जब स्मृतियाँ अरुचिकर नहीं होतीं तो वह आज की परिस्थितियों और आवश्यकताओं को भूलकर, सहज भाव से बीती बातों में रम जाता है। तब ऐसा लगता है कि जैसे देश-काल नहीं, केवल मन बदलता है; देश-काल नहीं, केवल मन चलता है।

तो क्या दुनिया एक बहुत बड़ी झील है कि मन की नाव जिस दिशा में द्रुत गति से अग्रसर हो, तट के तरु उसकी विपरीत दिशा में दौड़ने लगते हैं? पूर्व दिशा की ओर चलें, तो तट पर की तरु-पांति पश्चिम की ओर भागती है। और नाव को पश्चिम की ओर मोड़ दें, तो पूर्व ही पश्चिम बन जाता है।

मेरे मन की नाव छत्तीस वर्ष पहले के इलाहाबाद की ओर मुड़ गई है। मन नौका से पक्षी बन गया है। उसके पंखों में तेज़ी आ गई है। ऐसा लगता है, जैसे वह रैनबसेरा करने के लिए अपने किसी चिरपरिचित नीड़ की ओर उड़ा जा रहा है।

छत्तीस बरस पहले का इलाहाबाद और वहाँ मेरा प्रथम काव्योन्मेषलीन छात्र-जीवन आज भी मन में ललक-पुलक उत्पन्न कर देता है। बेचलर आफ आर्ट्स (बी०ए०) का नवयुवक छात्र उदीयमान कवि कहलाने लगा था। प्रतिष्ठित कवियों और साहित्यिकों के बीच उठना-बैठना शुरू हो गया था। साहित्यिक पत्रिकाओं में कविताएँ छपने लगी थीं। अल्प-स्वल्प साधन-सामग्री की उपलब्धि में भी उत्साह और आनन्द अमित-अबाध था। होस्टल के साथी और कवि-मित्र वीरेश्वरसिंह, केदारनाथ अग्रवाल और शमशेर-बहादुर सिंह और अग्रज कवियों में भगवती बाबू और पंतजी का सहवास, सान्निध्य। कवि-गोष्ठियों में जाना-आना। 'सरस्वती' और 'चाँद' के संपादकों से परिचय। हिन्दी और अंग्रेज़ी काव्य का पठन और अनुशीलन। कविताएँ लिखने में अत्यधिक रुचि, फिर वे चाहे जैसी हों। प्रथम कविता-संग्रह 'शूल-फूल' तैयार हो चुका था। साहित्यिकों से प्रोत्साहन मिल रहा था। उसी समय पंडित प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त' से मित्रता हुई। उनके माध्यम से ही बच्चन से मेरा प्रथम परिचय हुआ। 'मुक्त' जी की बच्चन से घनिष्ठता थी। वे मुझे इलाहाबाद के मुट्ठीगंज स्थित बच्चन के घर ले गए। घर की

ऊपरली मंज़िल पर बच्चन का कमरा था। कमरे के बीचों-बीच मेज़ के सहारे, बच्चन उत्तर की ओर मुँह किए, कुर्सी पर बैठे थे। वह अपनी 'मधुशाला' की प्रतिलिपि बना रहे थे। या यों कहना चाहिए कि वह प्रतिलिपि का पुनर्निरीक्षण कर रहे थे। मुझे अब तक याद है कि 'मधुशाला' की प्रतिलिपियाँ बच्चन ने विद्यालय के परीक्षार्थियों को दी जाने वाली कापियों पर बनाई थीं।

बच्चन एम० ए० प्रथम वर्ष की परीक्षा कुछ वर्ष पहले पास कर चुके थे और संभवत: अपनी पारिवारिक ज़िम्मेदारियों को निभाने के लिए उन दिनों अग्रवाल विद्यालय में शिक्षक का कार्य कर रहे थे।

बच्चन की पहली पत्नी सौभाग्यवती श्यामाजी तब जीवित थीं। उनकी बड़ी-बड़ी उजली आँखों में एक प्रकार का अद्भुत स्निग्ध तेज था। कविता में उनकी रुचि थी। रुचि बहुत परिष्कृत थी। मुझे ऐसा विश्वास हो गया था कि बच्चन-काव्य में मधुऋतु बुलाने वाली कोकिल वही थीं। उनके स्निग्ध सहवास में बच्चन के भावों में गहराई और शब्द-शिल्प में सुथराई अवश्य आई होगी। उनका स्वभाव अत्यन्त प्रेमल था।

बच्चन से मिलना-जुलना बढ़ा। बच्चन की स्नेह-भरी सौम्यता के कारण हमारा परिचय मित्रता में परिवर्तित होता गया। बच्चन ने इस बात का ध्यान भी मेरे मन में न आने दिया कि वे मुझसे लगभग छ: वर्ष बड़े हैं और इससे भी अधिक अनुपात में वे प्रतिभा, ज्ञान, अनुभव, करतब, ज़िम्मेदारी और समझदारी में मुझसे आगे हैं।

'मधुशाला' का अत्यन्त अप्रत्याशित, अनौपचारिक, आकस्मिक और भव्य उद्घाटन-समारोह भी मुझे देखने को मिला। वह आजकल का-सा कोई ग्रंथ-विमोचन कार्यक्रम न था। था एक कवि-सम्मेलन। बनारस के हिन्दू विश्वविद्यालय में। विश्व-विद्यालय के शिवाजी हाल में। कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष प्रोफेसर मनोरंजनप्रसाद सिन्हा थे, विद्यार्थियों के बीच जिनकी लोकप्रिय साख थी।

श्रोता विद्यार्थियों की भारी भीड़ थी। हाल खचाखच भरा था। विद्यार्थी स्थानीय सहपाठी-कवियों को ही नहीं, कई एक आमंत्रित कवियों को भी उखाड़ चुके थे। बारी आई बच्चन के कविता सुनाने की। तब वे लगभग अनजाने कवि थे। काशी में तो निश्चय ही उन्हें प्रिय कवि के रूप में तब तक कोई न जानता रहा होगा।

बच्चन ने अप्रकाशित 'मधुशाला' का काव्य-पाठ आरम्भ किया। सार्वजनिक रूप में वह 'मधुशाला' का प्रथम काव्य-पाठ था। श्रोताओं पर एकबारगी गहरी निस्तब्धता छा गई। कुछ क्षणों को शायद साँस लेना भी सब भूल गए। और फिर प्रशंसा का बाँध एकाएक टूट पड़ा। वातावरण पर ऐसा जादू छा गया कि वाह-वाह और तालियों की गड़गड़ाहट भी प्रशंसा के गहरे समुद्र और ऊँचे आकाश में न कुछ जैसी लगती थीं। कवि और सहृदय का ऐसा अद्वय आत्मीय संबंध न पहले कभी देखा-सुना था और न फिर कभी इस प्रकार उसका अनुभव हुआ।

बच्चन की सफलता बच्चन की भाव-साधना, उत्कट लगन और घनघोर परिश्रम की सफलता थी। यह ठीक है। लेकिन केवल इतने से ही 'मधुशाला' की अभूतपूर्व लोक-प्रियता का रहस्य नहीं समझा जा सकता।

लोकप्रियता का मुख्य कारण यह भी नहीं है कि 'मधुशाला' का कवि जिस आपसदारी, भाईचारे और हेलमेल के सहज भाव के साथ सहृदय से मिला था, वह इसके पूर्व सर्वथा दुर्लभ था।

मध्ययुगीन भारतीय मनीषा मधुभीत या मधु से भयभीत थी। आर्ष काव्य के मधुगीत और आर्य जीवन का आनन्द-वन मधुभीत मध्ययुग में न जाने कब का और कहाँ तिरोहित हो चुका था। जीवन के आनन्द-वन की जगह, मध्ययुग भयावह भवाटवी (भव के महावन) और मधु के स्थान पर भयंकर भवसागर के प्रतीक उपस्थित करता था। मध्ययुगीन मनीषा का द्योतन करने वाली एक प्रतीक कथा है कि भवाटवी में भटकता हुआ एक भयभीत पथिक किसी ऐसे अन्धे कुएँ पर जा पहुँचता है, जिसके तट पर कोई व्यक्ति औंधे मुँह लटका हुआ है। कुएँ के ऊपर एक घना वृक्ष है, जिसकी ऊँची डाल पर मधुच्छद लटका है। बूँद-बूँद जो मधु टपकता है, उसे चखने के लालच में, औंधे मुँह पड़ा हुआ मनुष्य मुँह बाए है। हवा के झोंकों से मधु की बूँदें इधर-उधर हो जाती हैं। मुँह में एक बूँद भी नहीं पड़ती। फिर भी बिसुध और मुग्ध मनुष्य आस लगाए है। उधर वह डाल, जिसे वह मनुष्य थामे हुए है, सफेद और काले चूहों द्वारा निरंतर कुतरी जा रही है। आधार और सहारे का नष्ट हो जाना निश्चित है। नीचे कुएँ में एक अजगर घात लगाए है कि उसका खाजा, वह मधुलुब्ध मनुष्य, अब गिरा तब गिरा!

बच्चन से पहले का आधुनिक हिन्दी काव्य हितवादी और छायावादी था। कवि सहृदय द्वारा आदृत और प्रशंसित था। बच्चन ने ही पहली बार सहृदय श्रोताओं के जमघट में घुसकर धड़ल्ले से मधुस्फोट करने की ठानी थी। बनारस विश्वविद्यालय के शिवाजी हॉल में मैंने बच्चन को मधुभीत मध्ययुग का भूत झाड़ते देखा था और देखा था मध्यवर्गीय संकोचशील शालीनता को अनावश्यक सिद्ध करते हुए। 'मधुशाला' के उद्घाटन का यह रूप आज भी मेरे मन में घर किए हुए है।

अपने भावावेश की ऊर्जा-तरंगों और सफल कवि-कर्म की उमंगों में बहते हुए, बच्चन का शरीर उसी प्रकार शिथिल होकर टूटने लगा, जैसे बाढ़ में उमड़ी हुई नदी में किसी तैरने वाले का। बच्चन बीमार हो गए। पर काव्योन्मेष का जादू ऐसा था, जो सिर पर चढ़कर उतरता ही न था। बच्चन को यक्ष्मा हो गया। उस कालखण्ड में भी अनेक बार बच्चन से मिलना-जुलना हुआ, घर पर भी और कवि-सम्मेलनों में भी। बच्चन के काव्योन्मेष, जीवनी-शक्ति और संकल्पनिष्ठा की उन दिनों की छाप आज भी मेरे मन पर है। उन दिनों श्यामाजी अपने पति के साथ छाया की तरह रहती थीं।

श्यामाजी के प्रेम, हिन्दी के भाग्य और अपनी विश्वास-शक्ति से बच्चन बच गए। किन्तु अपने पति को आरोग्य लाभ कराकर, श्यामाजी चली गईं। कवि न होते तो उस आघात से बच्चन पागल हो जाते। कवि ही दुःख की उस घनघोर अँधेरी रात को काट सकता है, जो ऐसी परिस्थिति में पड़े हुए किसी एकाकी अभागे मनुष्य पर उतर आती और उसे खा जाती है। सर्व का दुःख स्व में समेट लेने वाले कवि का दुःख भी सर्व में बँटता और कविता लिखने से हल्का हो जाता है। बच्चन का कविता-संग्रह 'निशा-निमंत्रण' इस आचरित सत्य का उदाहरण है।

'निशा-निमन्त्रण' और 'प्रवासी के गीत' के कवि, बच्चन और नरेन्द्र उन दिनों बहुत निकट रहे हैं। हमने कई रातें साथ-साथ जागकर, आपबीती कहते-सुनते, सूनी या सजल आँखों में बिताई हैं।

फिर भी, हम दोनों में से कोई भी कवि न तो इतना सुकुमार बना कि अपने कामकाजी जीवन के भार को ढोने से आनाकानी करे, अपनी ज़िम्मेदारियों से मुँह मोड़े या 'मूड' न बनने के बहाने काव्यानुशीलन से कतराए। हमारी मित्रता 'सेंटीमेंटल' या अति भावुकता के आधार पर नहीं, वरन् न घबराने और न कतराने के समान सिद्धान्त पर टिकी रही है।

'अहोरूपमहोध्वनिः', तू मरा काज़ी बगोयम मी तुरा काज़ी बगो या म्यूचुअल एडमिरेशन सोसाइटी के सिद्धांत पर मित्रता क़ायम करने या बनाए रखने की बात हम दोनों में से किसीको कभी नहीं सूझी। परस्पर स्पष्टवादिता और खरे विचार-विनिमय की जो निर्भीक-निस्संकोच नीति-रीति हमने अपनाई थी, वह आज भी क़ायम है।

बच्चन का 'एकांत संगीत' और मेरा 'पलाश-वन' दोनों काव्य-संग्रह लगभग साथ-साथ ही निकले। लगता था, जैसे हम दोनों गहरी अँधेरी रात से साथ-साथ ही उबरे या उबर रहे हैं।

अनेक कवि-सम्मेलनों में हम साथ ही उपस्थित हुए हैं। मुझे कायस्थ पाठशाला के एक कवि-सम्मेलन की यह बात आज भी याद है कि बच्चन ने बड़े भाई के नाते मुझ-से कविता को और अधिक प्रभावकारी ढंग से प्रस्तुत करने को कहा था। लेकिन मैं लोकप्रियता अर्जित करने के प्रति तब भी बहुत उत्साही नहीं था। अदायगी के प्रति मेरी उदासीनता की तह में शायद उन दिनों भी मेरा वह अभिमान था, जिसे मैं कविर्मनीषी का जन्मसिद्ध अधिकार मानता हूँ।

मेरी कुछ कविताओं में छोटे मुँह बड़ी बात वाली कहावत शायद बहुत पहले से ही चरितार्थ होती रही है। इस ओर लक्ष्य करके बच्चन ने इन्दौर में साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन के अवसर पर मुझे चेताया था—"यू वेअर अ ग्रे हेड ओवर योर गे शोल्डर्स!"—यानी कि तुम अपनी अवस्था से कहीं अधिक गम्भीरता ओढ़े रहते हो।

आत्मीयता की धुरी से सम्बद्ध हम दोनों बहुधा दो ध्रुव भी होकर रहे हैं। जब प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन उठा और मैं अनायास उस आन्दोलन के उन्नायकों में गिना जाने लगा, तब बच्चन मुझे साहित्य और सामयिकता के प्रश्न पर अक्सर चेताते थे। एक इसी प्रश्न पर नहीं, साहित्य विषयक और भी बहुत-सी मान्यताओं पर हम दोनों में मतभेद उपस्थित हो जाते थे।

मैं तो छोटा ठहरा, पर पन्तजी से भी बच्चन युगवाणी और युग-युग की वाणी के प्रश्न पर अपना मतभेद छिपाते न थे। पन्तजी हम दोनों के मान्य गुरुजन हैं। लेकिन हम तीनों के विवाद और विनोद भाइयों और मित्रों के-से होते हैं। पन्तजी को हम दोनों अपने-अपने परिवार के बड़े भी मानते हैं।

पन्तजी से हम दोनों छोटे हैं। इसलिए हम दोनों के बीच भाईचारा कुछ अधिक आपसदारी के साथ निभता है। पन्तजी के दायें-बायें हम दोनों बैठे हों, तो जगण (लघु

गुरु लघु) का रूप सिद्ध हो जाता है।

बच्चन और मैं इलाहाबाद में यों तो साथ रह रहे थे, पर थे वास्तव में दोनों ही एकाकी—अकेले। कभी रात का खाना साथ भी खा लेते थे। एक शाम नौकर ने खाना रुचि से पकाया और संयोगवश उस अवसर पर हम दोनों समय पर घर आ गए। थालियाँ परोसी गईं: एक प्लेट में गाढ़े मीठे दही का रायता भी था। बारीक कटे हुए हरे धनिये से रायते को सुदर्शन और सुस्वादु बनाया गया था। सफ़ेद पदार्थ और उसमें हरे धनिये के पुट ने बच्चन के मन में खीर का भ्रम पैदा कर दिया। सोचा पिस्ते वाली खीर पकी है! लपककर उन्होंने प्लेट को अलग रखा कि 'मधुरेण समापयेत्' सिद्धान्त के अनुसार खीर को अन्त में खाएँगे। मैं ताड़ गया कि हज़रत खीर के शौकीन हैं और रायते से खीर के धोखे में पड़ गए हैं। जैसे सम्मेलन में कोई सहृदय श्रोता बड़े चाव से अन्तिम इसलिए सबसे बड़े कवि की कविता सुनने को उन्मुख होता है, वैसे अंत में बच्चन ने अलग रखी हुई प्लेट को उठाया और चम्मच भरकर मुँह से लगाया। जैसे बिजली का तार छू गया हो, बच्चन चौंके। चेहरे पर निराशा का भाव था—'सोचा, हुआ परिणाम क्या!'

"धोखा, धोखा!" मैंने बनावटी सांत्वना देते हुए साथ दिया। लेकिन बात सच थी कि हम दोनों ने जीवन में रस कोई और चाहा था और पाया कुछ और! हँसी-मज़ाक के बाद, आधी रात और आधी बात के बीच हम दोनों अपने-अपने काम में लगे, यानी काव्यानुशीलन की एकान्त साधना में!

कुछ दिनों बाद मैं पन्तजी के साथ एक मकान लेकर रहने लगा। कुछ महीनों बाद मैं बनारस चला गया और वहाँ से जेल में। लगभग दो वर्ष मैं राजबंदी रहा, जिसके उपरान्त, अब से पचीस वर्ष पहले, मैं बम्बई आ गया। बन्दी-जीवन और बम्बई-वास के कारण बच्चन और मैं कई वर्षों तक मिल नहीं सके। जब मैं वर्षों बाद इलाहाबाद गया तो देखा बच्चन के ध्वस्त नीड़ का फिर निर्माण हो चुका था। बच्चन के नये घर में मुँह मीठा किया। सौभाग्यवती भाभी तेजीजी से भेंट हुई। श्यामाजी के बाद गौरा को देखा, जिन्होंने अपने सुखद-सुफल सहवास में बच्चन के जीवन को गौरवपूर्ण बनाया है।

गृहस्थ के रूप में भी बच्चन वैसे ही ज़िम्मेदार आदमी हैं, जैसे कि कवि के रूप में। तेजीजी के सुसंस्कृत हाथों ने और उनकी सुरुचिपूर्ण सूझ-बूझ ने बच्चन की गृहस्थी को जो सुन्दर रूप दिया है, वह अप्रतिम है। बच्चन का व्यक्तित्व और घर संस्कृति और साहित्य की संस्था बन गए हैं। यह तेजीजी की ही देन है। इस विषय में आधुनिक हिंदी काव्य और बच्चन के सहृदय कविता-प्रेमियों को तेजीजी के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। मैं तो इस गौरवशालिनी, सुन्दर, सुखद गृहस्थी के प्रति सौ कारणों से कृतज्ञ और कृत-कृत्य हूँ। बच्चन के दाम्पत्य और गार्हस्थ्य जीवन के इस शुक्ल पक्ष में मैं सौ बार अनु-गृहीत हुआ हूँ।

गत वर्ष, यानी सन् उन्नीस सौ सड़सठ में बच्चन-तेजी-परिणय की रजत-जयन्ती और बच्चन के यशस्वी जीवन की हीरक-जन्म-जयंती थी। सत्ताईस नवम्बर को बच्चन

की षष्टि-पूर्ति के अवसर पर मैं दिल्ली में उपस्थित था। बच्चन ने आग्रहपूर्वक इस मंगल अवसर को सार्वजनिक उत्सव का रूप ग्रहण नहीं करने दिया। घरेलू उत्सव की अनौपचारिक आत्मीयता मेरे मन में एक मधुर अनुभूति बनकर समा गई है।

बच्चन साठ पार कर चुके हैं और मैं पचपन। लेकिन जब भेंट होती है तो ऐसा ही लगता है जैसे भोगे हुए वर्षों की गिनती में से दस-बीस तो हम अवश्य ही भूल जाते हैं। जब मिलते हैं, तब देश-काल के व्यवधानों को भूलकर।

वर्षों पहले की बात है। बच्चन अंग्रेज़ी साहित्य के विशेष अध्ययन के लिए विलायत जा रहे थे। वे बम्बई से प्रस्थान करने को थे। लेकिन बम्बई आकर बीमार पड़ गए। इस बेक़ायदा बीमारी से बच्चन का मन क्षुब्ध था। मैं मिलने गया, तो कहा, "तुम्हारा ज्योतिष किस दिन काम आएगा ?"

काव्य-साधना के आरंभिक वर्षों में जैसे 'गे शोल्डर्स' पर मेरा 'ग्रे हेड' उनकी टीका-टिप्पणी का विषय बनता था, वैसे ही विगत कुछ वर्षों में मेरा ज्योतिष। मैं भी हँसकर कह देता हूँ कि लोग गुड़ खाते हैं, गुलगुलों से आन करते हैं। बच्चन के बारे में मेरी भविष्यवाणी दो-चार बार सही भी साबित हुई, पर बच्चन इस विषय में मुझे प्रमाणपत्र देने में कृपण और उलाहना देने में उदार रहे हैं।

स्नेह देने में बच्चन उदार हैं और काम करने में इतने परिश्रमी कि हर साँस का हिसाब देने के लिए तैयार रहते हैं। मुझे तो ऐसा लगता है कि शिवमंगलसिंह ने साँसों के हिसाब वाली अपनी कविता बच्चन के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रेरणा पाकर ही लिखी होगी।

बच्चन का अध्ययन व्यापक और स्मरणशक्ति तीव्र है। सन् उन्नीस सौ तिरसठ में कानपुर में मेरे जीवन की अर्धशती-पूर्ति के उपलक्ष्य में मेरा अभिनंदन हुआ। बच्चन सभापति थे। अवसर पर उपस्थित मेरी पत्नी की ओर संकेत करते हुए बच्चन बोले—आजकल नरेन्द्र बहुधा गंभीर विषयों पर कविता रचते हैं, किन्तु इनके कुमार-जीवन में वह भी दिन थे, जब नरेन्द्र "सखि, यह सावन की सरस रात ! पल-पल प्रस्वेदित शिथिल गात।" जैसी पंक्तियाँ लिखा करते थे।

मैं अक्सर उन्हें पूछता था कि 'प्रणय-पत्रिका' में 'तुम्हारे नील झील-से नैन' वाली सुन्दरी कौन है ? क्या नील झील और वह नयन कहीं मरकत द्वीप में दिखाई पड़े थे ? शायद कानपुर में उन्होंने मेरी छेड़छाड़ का ही जवाब दिया था। और वह भी अवसर देखकर।

पिछले कुछ वर्षों से हम दोनों का मन अध्यात्म की ओर भी झुका है। स्वतन्त्र भारत के बदलते हुए देश-काल को देखकर, हमारी वाणी में क्षोभ भी अभिव्यक्त हुआ है। ऐसी मानसिक परिस्थिति में, कभी-कभी हम 'एंग्री ओल्ड मैन' नाम धराने लायक़ भी बने हैं। लेकिन हम दोनों को कालकूट पी जाने की भी आदत है। बच्चन इस विषय में आयु-मान के अनुपात की अपेक्षा भी कहीं अधिक बढ़े-चढ़े हैं।

योग्यता और सामर्थ्य, व्यक्तित्व और कृतित्व में मेरी और बच्चन की कोई बराबरी नहीं है। फिर भी मैंने अपने संस्मरणों में बार-बार निज को उनके समकक्ष रखा है।

इसका कारण न मेरी उच्चाकांक्षा है, न धृष्टता। बच्चन ने मुझ छोटे को स्नेहवश, उदारतावश, अपने सहज बड़प्पन के कारण, मित्रता में बराबर का दर्जा दिया है। इसे अपना सौभाग्य मानकर ही, मैंने मित्रता का नाता निभाया है। किन्तु अपनी इस भूमिका में भी मैं बच्चन के गौरव, वैशिष्ट्य और बड़प्पन को कभी नहीं भुलाता। इसे मैं फूल-पत्ते का संयोग ही मानता हूँ।

संस्मरणों की लड़ी फूल-पत्ते या मणि-प्रवाल के संयोग से बनी है। इसमें दृष्टि ने सूचिका और स्मृति ने कच्चे धागे की डोर का काम किया है। बुद्धि के तात्कालिक चयन में यदि विनय का अभाव झलकता हो, तो मैं विनम्रता के साथ क्षमा-प्रार्थी हूँ।

बच्चन और मैं, गोस्वामी तुलसीदासजी के परमभक्त हैं। छोटों को बड़ा बनाने की शिक्षा बच्चन ने मुझसे कहीं अच्छी तरह से तुलसी के राम से ली है : "प्रभु तरुतर कपि डार पर, किये ते आप समान। तुलसी कहूँ न राम-से साहिब सीलनिधान।" तो अपने शील के कारण ही बच्चन ने मुझे बराबर के मित्र का दर्जा दिया है।

बच्चन की षष्टि-पूर्ति के अवसर पर उन्हें मैंने अपना कविता-संग्रह 'बहुत रात गए' समर्पित किया। बच्चन ने सधन्यवाद भेंट स्वीकार की और कविताओं को ध्यान से पढ़-कर, संग्रह की सराहना की। पत्र पाकर मेरा प्रसन्न होना तो स्वाभाविक ही था, क्योंकि "निज कवित्त केहि लाग न नीका, सरस होउ अथवा अति फीका।" किन्तु इस प्रसंग में बच्चन का स्वभाव, कि किसी अन्य कवि के कार्य की वे भूरि-भूरि प्रशंसा कर सकते हैं, स्पष्टत: प्रकट हुआ। ऐसे उदार कवि बहुत नहीं होते, जैसा कि गोस्वामीजी ने कहा भी है : "जे परभणित सुनत हरषाहीं, ते वर पुरुष बहुत जग नाहीं।"

स्व० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' परभणित पर हर्षाने वाले कवियों में अग्रणी थे। एक बार वे इलाहाबाद आए। उन दिनों पन्तजी, बच्चन और मैं साथ ही थे। हमारा ठिकाना इलाहाबाद के नया कटरा में था। 'नवीन'जी ने आते ही अपनी ज़िंदादिली का सूरज दसों दिशाओं में उदित कर दिया और फिर 'किमाश्चर्यम्' की प्रश्नसूचक मुद्रा में एका-एक बोले, "रँडुवे तीन-तीन, राँड एक भी नहीं!" मैंने विनम्रता से संशोधन प्रस्तुत किया, "आपको मिलाकर हम चार हुए, जिनमें से पंतजी और मैं, दो तो क्वाँरे हैं!" 'नवीन' जी बोले, "बेटा, तुम ब्याह कर लेते, तो चाय-पानी का प्रबन्ध तो होता! मैंने तो इसीलिए तुम्हें छेड़ा था!"

इलाहाबाद के वे दिन कितने मधुर थे। अपेक्षाकृत अल्प-स्वल्प साधनों के रहते हुए भी, हम सब कितने सुखी थे। इलाहाबाद हमारा साधनानीड़ था। पन्तजी अब भी उसे बसाए हुए हैं। लेकिन बच्चन दिल्ली में हैं और मैं बम्बई में।

मन-पंछी मन मारकर, पुन: बम्बई लौट आया है। चला था संस्मरणों की लड़ी बनाने। ध्वस्त साधना-नीड़ के तिनके चुनकर ही बनानी है लड़ी संस्मरणों की।

पहली मुलाक़ात

डॉ० नगेन्द्र

बच्चन से मेरी पहली मुलाक़ात शायद सन् १९३९ में हुई थी। उस समय मैं कॉमर्स कॉलिज में अंगरेज़ी का अध्यापक था और बच्चन शायद बी० टी० में पढ़ रहे थे। बच्चन किसी काम से दिल्ली आए हुए थे और मेरे निमन्त्रण पर कॉलिज की साहित्य-सभा में उनके कविता-पाठ का आयोजन किया गया था। मेरी अवस्था उस समय २३-२४ वर्ष की थी और बच्चन लगभग तीस वर्ष के रहे होंगे यद्यपि उनकी मुखाकृति पर अभी कैशोर्य-भावना की झलक विद्यमान थी। पहली भेंट में ही वे काफ़ी घुल-मिल गए। मैंने अनुभव किया कि उनका स्वभाव ग्रंथियों से और व्यावहारिक औपचारिकता से मुक्त था। वे जीवन को मुक्त भाव से जी रहे थे—भौतिक और मानसिक संघर्ष काफ़ी झेल चुके थे, परन्तु उसकी कड़वाहट उनके मन में नहीं थी, यद्यपि शरीर पर हलकी-सी छाया रह गई थी। अपनी काव्य-यात्रा में वे पहले दौर को पार कर दूसरे में प्रवेश कर रहे थे—यानी 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के बाद 'निशा-निमन्त्रण' के गीत लिख रहे थे। मेरे मन पर छायावादी काव्य-चेतना का उस समय और भी गहरा प्रभाव था, अतः मुझे पहले दौर की कविताओं के प्रति कोई आकर्षण नहीं था—वास्तव में जो लोग 'मधुशाला' की अतिपरिचित रुबाई 'और चिता पर जाय उँडेला' को बच्चन की तर्ज़ पर गाकर झूमते थे, उनके काव्य-संस्कार मुझे बड़े 'अनगढ़' लगते थे। मुझे लगता था कि इस प्रकार के कथन में अनुभूति की सच्चाई कैसे हो सकती है—व्यंग्य अथवा विडम्बन के रूप में तो ऐसा छन्द स्वीकारा जा सकता था, परन्तु प्रगीत कविता के रूप में उसका आस्वादन कैसे संभव हो सकता था ? 'मधुबाला' की रचनाओं में अनुभूति की प्रामाणिकता अपेक्षाकृत अधिक थी—'वह पगध्वनि मेरी पहचानी' अथवा 'इस पार — उस पार' जैसी कविताओं में संवेदन की सूक्ष्मता असंदिग्ध थी, फिर भी निश्छल आत्माभिव्यक्ति सबसे पहले मुझे 'निशा-निमन्त्रण' के गीतों में ही मिली और छायावाद की कला-समृद्धि का अभाव रहने पर भी मेरा मन अनायास ही उनके प्रति उन्मुख होने लगा। बच्चन ने पहले अपनी पसंद से 'निशा-निमन्त्रण' के कुछ गीत सुनाए : 'दिन धीरे-धीरे ढलता है।...' 'आज मुझसे दूर दुनिया' की स्वर-लहरी आज भी मेरे मन में गूँज रही है। फिर मेरे कहने पर 'पगध्वनि' का सस्वर पाठ किया — सारा श्रोता-समाज झूम उठा। काव्य में मूर्ति, चित्र और नृत्य आदि सभी कलाओं का वास है, इसका स्पष्ट प्रमाण उस काव्य-पाठ को सुनकर मिलता था। अन्त में बच्चन ने सभा को सम्बोधित करते हुए कहा, "अब तक मैंने अपनी संयोजक महोदय की पसंद की रचनाएँ सुनाईं — अब मैं आपकी

पसन्द की एक कविता सुनकर काव्य-पाठ समाप्त कर दूँगा।" यह सुनते ही हाल से आवाज़ें आने लगीं—'मधुशाला!' फिर क्या था—'मधुशाला' की अनेक रुबाइयाँ बच्चन ने पूरी मस्ती और हाव-भाव के साथ पेश कीं। इसके बाद आवश्यक धन्यवाद-प्रस्ताव आदि के साथ सभा समाप्त हो गई और बच्चन कुछ मित्रों के साथ मेरे घर भोजन करने आए। भोजन के समय थोड़ी-सी साहित्य-चर्चा भी होने लगी, जिसमें मैंने 'मधुशाला' की आलोचना की। मेरा तर्क था कि उसकी प्रेरक अनुभूति प्रामाणिक नहीं है। बच्चन ने प्रतिवाद में उसके प्रतीकार्थ पर बल दिया और बहस कुछ बढ़ गई। इस-पर बच्चन ने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर इतमीनान से कहा, "देखो, तुम अभी उतने बड़े आलोचक नहीं हो जितने बड़े कवि हम हैं; हमारी बात ही ठीक है, उसे मान लो।" मैं अपने को बड़ा आलोचक तो नहीं मानता था, फिर भी बच्चन की बात को भी मानने के लिए तैयार न था। खाने के लिए देर हो रही थी—यह देखकर एक प्रौढ़ मित्र ने, जिनकी उम्र हम दोनों से काफ़ी अधिक थी, बीच में बोलते हुए कहा, "सच बात तो यह है कि न अभी तुम बड़े आलोचक हो और न ये बड़े कवि हैं; परन्तु हमें तुम दोनों से बड़ी आशाएँ हैं—तुम दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में बड़ा पद पाओगे, ऐसी हमारी आशा है और यही कामना है। अब खाना खाया जाए!" इसपर हम लोग हँसते हुए खाने की मेज पर चले गए।

इस बात को आज पूरे तीस वर्ष हो गए। बच्चन आज निश्चय ही बड़े कवि हैं। अनुभूति की जिस प्रामाणिकता के अभाव की शिकायत मैंने उस दिन 'मधुशाला' के संदर्भ में की थी, इस लम्बी काव्य-यात्रा में वही उनका सबसे बड़ा सम्बल रही है। उन्होंने जो सहा है और भोगा है, उसीको कविता में गाया है: जीवन के सहज अनुभवों की ऐसी ऋजु और प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हिन्दी-काव्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

संजीवनी से पोषित

जगदीशचन्द्र माथुर

मेरा ख़्याल है कि इलाहाबाद की विभूतियाँ दिल्ली के वातावरण में कुछ इसी भाँति अपनापन खो देती हैं जैसे कमल का फूल ड्राइंग रूम के गुलदस्ते में सजाए जाने पर संदर्भहीन लगता है। जवाहरलालजी को जैसे हम लोगों ने इलाहाबाद में जाना था, उनका वह व्यक्तित्व दिल्ली में 'पंडितजी' शब्द के आभामंडल में कुछ दब गया। बच्चन-जी एक इलाहाबादी की नज़र में जो रहे हैं, उसे दिल्ली वाले समझ पाएँगे, इसमें मुझे संदेह है। लेकिन चूँकि मैं स्वयं ही दिल्ली की भीड़भाड़ में कंधे छिलवाने के लिए आ गया हूँ इसलिए शिकायत करना मेरे लिए वाजिब न होगा।

दिल्ली के आकर्षणों में भी यादगारों की बस्ती मनोरम जान पड़ती है। बच्चनजी से मेरी पहली मुलाक़ात सन् १९३३ या सन् १९३४ में यूइंग क्रिश्चियन कॉलेज की एक सभा में हुई थी, जो हम लोगों ने इलाहाबाद के कवियों के सम्मानार्थ आयोजित की थी। उसके कुछ महीने बाद शायद सन् १९३५ के वसन्तोत्सव पर प्रयाग विश्वविद्यालय के गंगानाथ झा होस्टल (जो उन दिनों न्यू होस्टल कहलाता था) में आयोजित एक कवि-सम्मेलन में बच्चनजी का एक अनुपम अभिषेक होता देखा। उन दिनों अभिनन्दनों की ऐसी झड़ियाँ नहीं लगती थीं जैसा आजकल रिवाज हो गया है। वसन्तोत्सव का कवि-सम्मेलन अभिनन्दन-समारोह नहीं था। सभापतित्व कर रहे थे, स्वर्गीय रामनरेश त्रिपाठी। राष्ट्रीय उल्लास का युग था और जब सुभद्राकुमारी चौहान ने अपनी कविता 'वीरों का कैसा हो वसन्त' पहली बार सुनाई तो युवक समाज मंत्रमुग्ध हो गया। किन्तु उसके बाद नवयुवक कवि बच्चन ने मधुशाला की तान छेड़ी, रणभेरी के बाद रागानुरागभरी वंशी का स्वर! क्या जादू था उस स्वर में कि जिसके स्पर्श मात्र से वीररस की फड़क शृंगार की मस्ती और अनादि रहस्य के आमंत्रण में परिवर्तित हो गई। शायद 'मधुशाला' की वह पहली पुकार थी, जिसकी प्रतिध्वनि उसके बाद दशकों तक कवि-सम्मेलनों और साहित्य-समाजों को अनुगुंजित करती रही है। वह पहली पुकार मानो प्रभात में किसी अनजाने देश से आए उन्मुक्त पक्षी का स्वर थी, मानो क्षितिज में भोर के तारे की पहली झलक।

रामनरेश त्रिपाठी झूम उठे। उन्होंने अपने गले से माला निकाली और बच्चन-जी के गले में डालते हुए तत्कालीन हिन्दी काव्य के गौरवगृह में बच्चनजी का स्वागत किया। बच्चन के उस सर्वप्रथम और अविस्मरणीय अभिषेक का मैं अक्सर ज़िक्र करता रहता हूँ।

तदुपरांत बच्चनजी के सम्पर्क में अक्सर आने का मौक़ा मिलता रहा, क्योंकि मैं विश्वविद्यालय में छात्र था और बहुत दिनों के विराम के बाद बच्चन ख़ुद फिर से अंग्रेज़ी में एम० ए० करने के लिए विश्वविद्यालय में दाखिल हुए। सन् १९३५ से सन् १९४० का काल इलाहाबाद के साहित्यिक-इतिहास में अत्यन्त रोचक समय था। पन्तजी ने 'रूपाभ' नाम की पत्रिका का सम्पादन शुरू किया, जिसके मुख्य कार्यकर्त्ता थे नरेन्द्र शर्मा। भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, बच्चन इत्यादि की गोष्ठियाँ अक्सर चलती रहती थीं। प्रगतिशीलता की धारा सभीको अभिसिंचित कर रही थी। कुछ समय बच्चन और नरेन्द्र साथ-साथ नया कटरा में रहा करते थे। तब मुझे अवसर वहाँ उनके दर्शन मिलते रहते।

किन्तु उनके निकट सम्पर्क में आने का एक अनूठा अवसर मुझे मिला सन् १९४० के जून महीने में। मेरे मित्र आनन्दस्वरूप गुप्त (जो आजकल उत्तर प्रदेश में एडिशनल इंस्पेक्टर जनरल आफ़ पुलिस हैं) की बारात-पार्टी प्रयाग से लायलपुर की लम्बी यात्रा पर चली। मंडली में इने-गिने मित्र ही थे, जिनमें बच्चनजी और मैं भी शामिल कर लिए गए। कड़ी गर्मी थी और यद्यपि आनन्दस्वरूप ने बारात को इतनी दूर फ़र्स्ट क्लास में ले जाने की व्यवस्था की थी, तथापि उस मौसम में वे तीन दिन आसानी से न कटते यदि बच्चनजी जैसे ज़िन्दादिल साथी मौजूद न होते। उस यात्रा में अनेक रोचक घटनाएँ घटीं जिनका ज़िक्र यहाँ अप्रासंगिक होगा। किन्तु वातावरण में घुमस और गर्मी आती देखकर बच्चनजी ने मंडली का नेतृत्व अपने हाथों में लिया और एक के बाद एक लोकगीतों का सहगान आयोजित कर उन्होंने पंजाब मेल की तेज़ रफ़्तार को द्विगुणित कर दिया। 'ओ मेरे साजन कलाई मोरी तड़की' वाला लोकगीत हम लोगों का यात्रा-संबल बन गया। लायलपुर में बच्चनजी की कविताओं का पाठ हुआ और लौटते समय मुझे लाहौर में इक़बाल का निवास-स्थान देखने का भी अवसर मिला।

सन् १९४० से लगभग १५ वर्ष तक मुझे उड़ीसा और बिहार में सरकारी काम-काज में लगे रहने के कारण बच्चनजी के दर्शन दुर्लभ हो गए। आकाशवाणी में आने के बाद मुझे यह सौभाग्य मिला कि बच्चनजी की प्रतिभा को इस लोकप्रिय माध्यम के लिए उपलब्ध करा सकूँ। आकाशवाणी में तो वे कुछ महीने के लिए ही टिके, किन्तु दिल्ली आने के उपरान्त लायलपुर वाली यात्रा के लोकगीतों की याद करके मैंने उनसे अनुरोध किया कि वे लोकधुनों के आधार पर कुछ रचनाएँ दें। बच्चनजी की प्रतिभा सर्वदा लोकधर्मी रही है। इसीलिए उनकी प्रतिभा अजस्र भी जान पड़ती है। लोकधुनों पर जो 'चीज़ें' उन्होंने तैयार की हैं, मेरा बस चले, तो उन्हें देश के विभिन्न अंचलों में, विद्यालयों तथा किशोर-किशोरी मंडलियों में सिखाने की व्यवस्था करूँ।

मेरी धारणा है कि नयी और पुरानी कविता, छायावाद और परम्पराशील काव्य, प्रगतिशील और व्यक्तिवादी अभिव्यंजना – इन सब वाद-विवादों के गुबार की गर्द जब बैठ जाएगी, तब भी लोक-मानस में बच्चनजी की कविता बराबर गूँजती रहेगी। बच्चन सर्वदा अपने समकालीनों में अपवाद रहे, किन्तु विद्रोही नहीं। यही सभी पीढ़ियों में उनके स्वीकार्य होने का कारण है। अपवाद वही हो सकता है जिसमें साहस

हो, कठमुल्लापन नहीं, जो दूसरों से भिन्न होने से कतराता नहीं, किन्तु खड्गहस्त होकर जहाद भी नहीं बोलता।

छायावाद के मध्याह्न काल में बोलचाल की खड़ीबोली में व्यक्तिमूलक संवेदना और सांकेतिकता का स्वर देना साहस का काम था। बच्चन ने छायावाद की प्रेषणीयता का विस्तार किया। अर्से तक वे इस लीक में अकेले ही डटे रहे। वस्तुतः उनका कोई 'वाद' नहीं रहा और जिन लोगों ने 'हालावाद' का सेहरा उनके माथे बाँधने की कोशिश की, वे तो सरासर ग़लती पर थे। हालावाद जैसी कोई चीज़ ही नहीं थी। बच्चन का कथ्य मूलतः छायावादी ही था। किन्तु अपनी सम्प्रेषणशील शब्दावली और लय द्वारा उन्होंने उसी विषय वस्तु और भावना-जगत् की गति को तीव्र और उनके प्रभाव को विस्तृत कर दिया। उनकी सर्जना-शक्ति ने अवगुण्ठनवती छायावादी कविता की मुखदीप्ति से सभामंडप को जगमगा दिया। रसज्ञों के सीमित दायरे से बाहर जनसाधारण की रुचि के वातास से छायावाद की नाज़ुक कली का स्पर्श करा दिया और वह मुरझाई नहीं।

काव्य और गान का नाता भारतवर्ष में पुराना रहा है। कवि-सम्मेलनों से नाक-भौं सिकोड़ने वाले साहित्यकार परम्परा के आग्रह की उपेक्षा भले ही कर लें, किन्तु उस परम्परा की क्षमता को अस्वीकार नहीं कर सकते। बच्चन कवि-सम्मेलनों के 'हीरो' रहे हैं। उनकी सफलता ही ने सवैयों और कवित्तों के पाठ की प्रणाली के लुप्त होने पर उस रिक्तता को गीतों के प्रचलन से पूरा किया। अगर गीत-रचना और गीत-पाठ को बच्चन ने प्रतिष्ठित न किया होता तो हिन्दी साहित्य और हिन्दी क्षेत्र के सामान्य पाठकों एवं श्रोताओं के बीच वह खाई, जो हमारे वर्तमान अग्रगामी, बुद्धिजीवी साहित्य की विशेषता है, इतनी चौड़ी हो जाती कि बाद में उसे पाटना भी कठिन हो जाता।

लोकप्रियता और बोधगम्यता से उन्हें अपने काव्य की मर्यादा का ह्रास होने की आशंका कभी नहीं रही। पिछले दिनों समय के साथ उनके काव्य में उलझनों से त्रस्त, अनिश्चयता के कुहासे में गुमराह, बुद्धिजीवी मानव की अटपटी वाणी की प्रतिध्वनि भी मिलती रही है। परन्तु इसने उनकी टकसाली शब्दशक्ति को क्षीण नहीं किया है। मेरा अनुमान है कि यदि बच्चनजी कोशिश भी करना चाहें तो भी वे अस्पष्टता के जंजाल में खो नहीं सकते। उनकी अभिधा का अभिमन्यु विकट से विकट चक्रव्यूह को भेद कर बाहर आ जाता है।

जब मैं आकाशवाणी में था, तब हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध कवियों ने मेरा अनुरोध मानकर अन्य भारतीय भाषाओं के चुने हुए कवियों की कविताओं का अनुवाद वार्षिक सर्वभाषा कवि-सम्मेलनों के लिए किया। मैंने देखा कि बच्चनजी ने इसे मात्र कर्तव्य न मानकर, अपनी मौलिक सर्जनात्मक प्रतिभा को रूपान्तर की प्रक्रिया में जुटा दिया। रहमान राही की कश्मीरी कविता और अमृता प्रीतम की पंजाबी कविता के उनके अनुवाद राष्ट्रभारती के चरणों में अछूते श्रद्धा-सुमनों के तुल्य थे।

बच्चनजी ने नई दिशा में क़दम रखने में कभी हिचकिचाहट नहीं दिखाई और न उद्देश्य-विशेष के लिए काव्य-रचना को अपनी प्रतिष्ठा के विपरीत समझा। गणतन्त्र

दिवस के लिए मार्चिंग गीतों की जरूरत पड़ी। डिफ़ेंस मन्त्रालय ने ताल का बंधन कर दिया और आकाशवाणी के संगीत-संयोजकों ने कुछ धुनें दीं। कुछ झिझकते हुए मैंने बच्चनजी से भी अनुरोध किया। अगर वे मना कर देते तो न तो मैं बुरा मानता और न मुझे आश्चर्य होता। किन्तु बच्चनजी ने सहज स्वभाव से यह अनुरोध स्वीकार किया और उसी सावधानी और शिल्पकौशल से मार्चिंग गीत रचे जैसे वे किसी उच्चकोटि की पत्रिका के विशेषांक के लिए कोई कविता लिखते हों। कवि के रूप में बच्चनजी ने अपने को जन-साधारण का सेवक माना है, नायक नहीं। नायक बनने का दम तो हरेक कवि भरता है, किन्तु सेवकत्व का शील सबके बस की बात नहीं।

एक बार बाल-दिवस के लिए जवाहरलालजी के घर कुछ बच्चों को ले जाकर एक गीत प्रस्तुत करना था। लोग कह सकते हैं कि चूँकि बच्चनजी का नेहरू-परिवार से पुराना और निकट का सम्बन्ध रहा है, इसलिए उस अवसर के लिए काव्य-रचना तो बच्चन कर ही देते। नेहरूजी के व्यक्तित्व की कशिश में बच्चनजी ही नहीं अनेक कवि आए थे। किन्तु बच्चन ने नेहरूजी के अभिनन्दन में कोई कविता उस समय नहीं लिखी। गीत बच्चों को गाना था, धुन संगीतकार ने दी, शब्द और भाव बच्चनजी को प्रस्तुत करने थे। उस कोटि के बहुत कम कवि ऐसी सामुदायिक प्रक्रिया में शामिल होने के लिए तैयार होते। बच्चन की विशेषता यह रही है कि जहाँ एक ओर तो वे निर्झर की भाँति आप ही आप फूट पड़ते हैं, वहाँ दूसरी ओर परिस्थिति, उद्देश्य और ताल एवं लय के फ्रेम, इन तीनों ही का संतुलन करके हृदयग्राही और लोकमानस में टिक जाने वाली कविताएँ भी लिख देते हैं।

यह संतुलन उनके व्यक्तित्व में एक गहरी और ठोस प्रज्ञा का द्योतक है। प्रज्ञा जिसे अंग्रेज़ी में 'कॉमनसेंस' और 'प्रैग्मेटिज़्म' का पर्याय कह सकते हैं, बच्चन की विशेष सामर्थ्य है। महाभारत के उद्योगपर्व में जीवन में सुख, शांति और सफलता के लिए प्रज्ञा की महिमा गाई गई है। प्रायः कवियों को, विशेषतया आधुनिक कवियों को प्रज्ञा का पथ-गामी नहीं माना जाता। इसमें भी बच्चन कवियों में अपवाद हैं।

अपनी हाल ही की कुछ कविताओं में बच्चन ने अपने को अस्ताचलगामी सूरज के समान दीप्तिहीन, तापहीन स्वरूप में देखा है। मजबूरियाँ, विवशता और कुण्ठा सबको सताती हैं और यदि ६० वर्ष की आयु के बाद कोई कवि अपने कृतित्व को इनसे घिरा पाता है तो यह अशुभ लक्षण नहीं है। यह तो उसकी जिजीविषा का चिह्न है। मुझे विश्वास है कि जीने की यह चाह, जिसे प्रसिद्ध इटैलियन दार्शनिक बर्गसाँ ने चिरंतन शक्ति-प्रवाह (एलन विटेल) की संज्ञा दी है, बच्चन के संताप की जननी है। बात यह है कि बच्चन संयम और अध्यवसाय की आधारशिला पर सर्वदा स्थिर रहे हैं। उनकी इच्छा-शक्ति प्रबल रही है। मुझे याद है कि जब वे इलाहाबाद में नया कटरा में रहा करते थे तो कड़ी सर्दी में भी बाहर बरामदे में ही सोया करते थे। इसीलिए पिछले दिनों रोगों का सामना करने में उन्हें इतनी कठिनाई नहीं हुई, जितनी अन्य संवेदनशील व्यक्तियों को होती है। वर्तमान हिन्दी साहित्य में तप और साधना का अर्थ प्रायः अभावग्रस्त होना, व्यथा और पीड़ा का शिकार होना ही माना जाता है। पीड़ा और त्रास में यह अग्निप्रवेश

सर्वदा ही तेजस्विता का प्रतीक हो, यह ज़रूरी नहीं। तप और साधना का एक दूसरा भी पहलू है – निष्ठा, अध्यवसाय, आत्मसंयम और संतुलन। बच्चन में ये गुण पर्याप्त मात्रा में हैं। यही उनका शक्तिपुंज है और चूंकि यह शक्तिपुंज क्षीण नहीं हो पाया है, इसीलिए कभी-कभी आज के वातावरण में उसका यथेष्ट उपयोग न होने पर उन्हें बेबसी का अहसास होने लगता है। किन्तु यह बेबसी उस कुण्ठा और भूल-भुलैया से बिल्कुल पृथक् है, जिसमें अनेक आधुनिक कवियों को तृप्ति का आभास होता है।

मुझे विश्वास है कि बच्चनजी यात्रा के अन्त तक इस संजीवनी से पोषित होते रहेंगे।

'जग बदलेगा किंतु न जीवन'

इलाचन्द्र जोशी

जहाँ तक मुझे याद है, बच्चन की प्रारम्भिक रचनाएँ सन् '३२ के आसपास विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थीं। मैं तब कलकत्ते में था। उन रचनाओं को पढ़कर मुझे तभी निश्चित रूप से यह विश्वास हो गया कि हिन्दी-जगत् में एक प्रतिभाशाली मौलिक गीतकार का आविर्भाव हो चुका है। उन गीतों में एक मार्मिक संवेदना भरी रहती थी, अन्तःस्वर एकदम नवीन था और भाषा सहज और आडम्बरहीन थी। तत्कालीन हिन्दी कविता में जिन परिमार्जित किंतु भारी-भरकम संस्कृत शब्दों की भरमार पाई जाती थी, बच्चन के गीतों की भाषा उनसे भिन्न थी। उनकी शब्दावली बोलचाल के मुहावरों के एकदम निकट थी। बोलचाल की शब्दावली के माध्यम से इस क़दर तीखी वेदना ऐसी सहज स्वाभाविक शैली में, ऐसे चुभते हुए ढंग से अभिव्यक्त हो सकती है, यह मेरे लिए एक नया अनुभव था।

तब तक यह सूचना भी मुझे मिल चुकी थी कि कवि बच्चन कवि-सम्मेलनों में प्रारम्भ से ही अपना सिक्का जमा चुके हैं। मन में उनसे मिलने की तीव्र लालसा जग उठी। पर कई कारणों से सन् '३६ से पहले उनसे मिलना न हो सका।

सन् '३६ के शरत्काल में जब मैं इलाहाबाद में आकर बस गया, तब एक दिन एक आपसी गोष्ठी में पहली बार मुझे उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे खद्दर का कुर्ता और खद्दर की ही धोती पहने थे। मेरे नाम से वे पहले से ही परिचित थे। मिलते ही एक गहरी भावुकता-भरा उद्गार उनके मुँह से निकल पड़ा, "जोशीजी, आपसे तब मिलना हो रहा है, जब मेरा अन्तर एकदम रिक्त हो चुका है।" उनके स्वर में एक अत्यन्त गहरी और असहनीय व्याकुल वेदना फूट पड़ी थी। पूछने पर पता चला कि उनकी सहधर्मिणी (प्रथम पत्नी) का देहान्त कुछ ही दिन पूर्व हुआ है और उनके समान भाव-प्रवण कवि इस तीखी अन्तर्वेदना से जूझने में अपने को असमर्थ पा रहा है। उनकी वह भाव-विह्वलता इतनी सहज और आन्तरिक थी कि सांत्वना के लिए मेरे मुँह से कोई शब्द नहीं निकल पाता था। प्रबल चेष्टा से मैंने अपना मुँह खोला। बोला, "वेदना चाहे कैसी ही मार्मिक क्यों न हो, आपके समान विवेकशील कवि की जीवन-प्रगति में उसे बाधक नहीं बनना चाहिए, और न वह कभी बाधक बन सकेगी।"

मेरी बात सुनकर बच्चनजी के मुख पर एक सहज अविश्वास-भरी मन्द-करुण मुसकान छा गई। मैं मन ही मन सिकुड़ गया — यह सोचकर कि मैंने ग़लत अवसर पर शायद एक ग़लत बात एक भावुक कवि से कह दी है।

उसके बाद उन्होंने उपस्थित मित्रों के आग्रह से दो-तीन गीत सुनाए। उन दिनों बच्चनजी के गीत या तो नव यौवन की सहज विद्रोहपूर्ण मस्ती से भरे होते थे या मार्मिक रूप से भाव-वेदनापूर्ण। जो गीत उस समय उन्होंने सुनाए थे, वे वेदनारस से लबालब भरे थे। एक गीत में तो वेदना को व्याकुल स्वर में सीधे सम्बोधित किया गया था। उनके अकेले कण्ठ की यह पुकार अन्तर को झकझोर देने वाली थी और अपनी निजी भावुकता के ऊपर जो कवच मैंने ओढ़ रखा था, उसे सुनने के बाद वह दो-एक जगह फट पड़ा और एक हल्का-सा वाष्प मेरी दोनों आँखों में छा गया।

तब से विभिन्न कवि-गोष्ठियों में बच्चनजी से प्राय: मिलना होता रहता था। बाद में पता चला कि वे अंगरेज़ी में किसी विषय पर पूरी लगन से रिसर्च करने पर जुट गए हैं। तब भी वे प्रतिमास १६ तारीख़ को व्रत रखते थे —अपनी स्वर्गीया जीवन-संगिनी के मृत्यु-दिवस के उपलक्ष्य में। फिर भी मैं देख रहा था कि एक अस्पष्ट-से परिवर्तन का बीज उनके भीतर की उर्वरा मिट्टी में प्रवेश कर गया है। वह परिवर्तन धीरे-धीरे स्पष्ट से स्पष्टतर होता चला गया। धोती, कुर्ते और चप्पल की जगह अब वे सूट-बूट पहनने लगे थे —उनका स्वास्थ्य उत्तरोत्तर निखरता चला जा रहा था और चेहरे में चमक के साथ ही जैसे एक विशिष्ट चिंतन की (चिंता की नहीं) प्रगाढ़ छाया उनकी अन्तर्निविष्ट आँखों में, उनकी सघन भौंहों में और उनके कपाल की अलक्षित नसों की गति में मुझे सुस्पष्ट दिखाई देने लगी थी। लगता था जैसे यह मधु-लोभी भ्रमर, कमल-कोश में रात भर बन्द रहने के बाद एक नवीन प्रभात में उस कोश को खुला हुआ पा गया है और अब मुक्त उड़ान भरने लगा है। और, साथ ही, नव जीवन के खुले मैदान में जो-जो भी नये-नये दृश्य, नये-नये रूप, नये-नये रंग उसके दृष्टिपथ में आते चले जाते हैं, उनके रहस्य को तल तक पैठकर देखने और समझने की उत्कट इच्छा उसके मन में पैदा हो गई है।

बच्चनजी के बहुत निकट न रहने पर भी मैंने दूर ही से यह भी पाया (कैसे, यह नहीं बता सकूँगा) कि इन सब बातों के साथ ही वे जीवन और मरण के सम्बन्ध में गम्भीरतर रूप से सोचने लगे हैं। गम्भीर रूप से तो वे 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के युग से ही सोचने लगे थे।

उनसे अधिक मिलना न होने पर भी मित्रों से उनकी एक-एक हरकत के बारे में पूछता रहता था। पता चला कि वे कॉलेज के बजाय विश्वविद्यालय में अंगरेज़ी के अध्यापक नियुक्त हो गए हैं। उन्हीं दिनों 'मधुकलश' सामने आया। मैं बहुत उत्सुक था, यह जानने के लिए कि 'मधुबाला' के बाद बच्चनजी के जीवन में जो परिवर्तन कई कारणों से आया, वह नये काव्य में किस रूप में अभिव्यक्ति पाता है। पुस्तक हाथ में आते ही मैंने सूची पढ़कर सबसे पहले 'कवि की वासना' वाला पन्ना खोला। प्रारम्भ में ही ये पंक्तियाँ पढ़ने को मिलीं :

कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्‌गार मेरा।
सृष्टि के प्रारम्भ में मैंने उषा के गाल चूमे,
बाल रवि के भाग्यवाले दीप्त भाल विशाल चूमे

प्रथम संध्या के अरुण दृग चूमकर मैंने सुलाये,
तारिका-कलि से सुसज्जित नवनिशा के बाल चूमे
वायु के रसमय अधर पहले सके छू होंठ मेरे
मृत्तिका की पुतलियों से आज क्या अभिसार मेरा !

मैंने देखा कि मधु की मादकता से आत्म-विभोर कवि का वह मधुकलश तूफ़ानी धक्कों से छलकने लगा है। अब कवि आदिम प्रकृति को चुनौती देने लगा है। आदिम उषा के गाल चूमने के बाद अब प्रलय-सिंधु की लहरों को आमंत्रित करने लगा है। बंद मधुशाला के चौखटे से समुद्री लहरों के मुक्त प्रवाह तक वह एक लम्बी कूद थी। अंबर के असंख्य तारकों की छाँह से नीचे अपार जलराशि के मुक्त प्रांगण में विचरने का प्रथम अवसर इस विद्रोही रूमानी कवि को मिला था। सागर की गहराइयों में डूबने-उतराने के साथ ही कवि-मानस के अनुभवों का प्रसार और विस्तार भी बढ़ता चला गया।

उसके बाद जब कवि किनारे से आकर टकराया, तब थककर चित लेट गया और अगम अंधकार के बीच अनंत आकाश में टिमटिमाते हुए महाविश्वों की युग-युगव्यापी लीला में खो गया। अब दिन का बचकाना खेल समाप्त हो गया था और ओर-छोरहीन सृष्टिचक्र का महाराग कवि के प्राणों में बजने लगा था। कवि ने असमय में ही निशा का मौन निमन्त्रण स्वीकार कर लिया था।

अब निशा देती निमंत्रण।
महल इसका तम-विनिर्मित,
ज्वलित इसमें दीप अगणित,
द्वार निद्रा के सजे हैं स्वप्न से शोभन-अशोभन।
भूत-भावी इस जगह पर
वर्तमान-समान होकर
सामने हैं देश-काल-समाज के तज सब नियंत्रण !

महाकाल के जिस जीवन-बिन्दु पर तब कवि पहुँचा हुआ था, उसमें लग रहा था कि 'असम्भव सपने' भी सत्य हो जाएंगे। न कहीं कोई बाधा, न कहीं कोई विघ्न।

और शीघ्र ही एक 'असंभव सपना' सत्य हो भी गया। पुरानी बातें बीत चुकी थीं. पुरानी यादें भूलने लगी थीं। यह अनुभव होने लगा कि पुराने घावों को हरा करना बुद्धिमानी का काम नहीं है। जो बातें बीत चुकीं, जो घटनाएँ घट चुकीं, उनके मोह में आजीवन बँधे रहना, उनके शोक में अन्त तक डूबे रहना जीवन की चिरगतिशीलता के अवरोध का व्यर्थ प्रयास है।

और इसी नयी प्रेरणा ने एक दिन कवि को जीवन के एक नये चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया। कवि ने एकांत संगीत के क्षण में फिर एक बार अम्बर की ओर देखा। उसके कितने तारे प्रति रात टूटते चले जा रहे थे, कितने साथी प्रतिदिन छूटते जाते थे ! पर उस मौन-गम्भीर अम्बर ने क्या एक क्षण के लिए भी कभी उन छूटे हुओं के लिए एक बूँद आँसू गिराया ? तब अकेला वही क्यों अपने अन्तर के रुद्ध शोक-भवन में कोप करता हुआ बन्द पड़ा रहे ?

इस जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर वह एक दिन सचमुच ग्रम्बर में एकाकी जलती हुई एक प्रदीप्त तारिका को स्वप्नलोक से ठोस धरती पर उतार लाया। नयी संगिनी को पाकर कवि बच्चन की जीवन-धारा ही एक नयी दिशा की ग्रोर मुड़ गई।

मिलन-यामिनी ग्राई। नया वसंत नये रागों ग्रौर नये रंगों की बहार साथ में लेकर ग्राया—पहले से ग्रधिक उज्ज्वल ग्रौर ग्रधिक मोहक छटाएँ ग्रपने चारों ग्रोर बिखेरता हुग्रा। पर बड़ी तेज़ी से इस नये वसंत ने ग्रपनी सुषमा का सारा भण्डार रीता करना ग्रारम्भ कर दिया। ग्रन्तर में सब समय उमड़ती रहने वाली तरल भाव-वेदना का उद्वेल मन्द पड़ने लगा। तीव्र रागात्मक संवेदना की 'सैड सेटाएटी (दु:खद तृप्ति) के लक्षण दिखाई देने लगे। विशुद्ध काव्यात्मक भावुकता बौद्धिक भाव-चेतना में बदलने लगी। वायवीय ग्रौर 'एथीरियल' रेशमी रश्मियाँ ग्रब लकड़ी ग्रौर पत्थर के ठोस बिम्बों ग्रौर प्रतिमाग्रों का रूप धारण करने लगीं। रंगीन सपनों का स्पर्शातीत रूमानी संसार ग्रब ग्राधुनिक यथार्थता के ड्राइंग रूम में परिणत होने लगा। प्रकृति के ग्रादिम क्रोड में क्रीड़ा करने वाला कवि बच्चन ग्रब 'एडेल्फ़ी' के 'डिनर हॉल' की भौतिक शोभा बढ़ाने के काम में व्यस्त ग्रौर दत्तचित्त दिखाई देने लगा। ग्राखिर ग्राधुनिक जीवन के केन्द्रबिन्दु कॉफ़ी हाउस, ड्राइंग रूम ग्रौर 'डिनर हॉल' ही तो हैं। यदि सुख-सुविधा से जीना है तो भी इन्हींको सजाना है ग्रौर यदि ग्राधुनिकतम साहित्य के मूल उपादान खोजने हैं तो वे यहीं निहित मिलेंगे।

पर ग्राधुनिकतावादी कवियों की दौड़ में बच्चन पिछड़ गए, क्योंकि चूक गए। चूक यह कि कवि-प्राणों की सहज रोमांटिक चेतना को साँप की केंचुली की तरह एक-दम त्यागने से उनका मन बराबर कतराता रहा, जब कि नये जीवन के सद्य:ग्राविर्भूत उपकरण उस रूमानी चेतना की एक-एक चिनगारी को मिट्टी, धूल ग्रौर राख के ढेरों से दबाने की क़सम खाए हुए थे। ऐसी स्थिति में बच्चन का यह ग्रनुभव स्वाभाविक ही था कि "जग की सौ-सौ सुख-सुविधा में मेरा मन वनवास-दिया-सा"।

फिर भी उन्होंने हार नहीं मानी ग्रौर रस-रिक्त, कठोर, युग-जीवन के बड़े-बड़े, कठिन ग्रौर कठोर खम्भों में वे नये-नये खूंटे गाड़ते चले गए। चारों ग्रोर पूर्णत: विरोधी वातावरण के बीच भी वे निरन्तर जूझते रहे। न उन्होंने हथियार डाले, न ग्रवकाश या विश्राम लिया। ग्रकेला मानव मूलगत मानवीय मूल्यों के प्रति हठपूर्वक ग्राग्रहशील बना रहा ग्रौर चट्टान की तरह ग्राज भी खड़ा है। मन उसका द्रुत परिवर्तनशील युग-जीवन की भूलभुलैया में खो गया है, पर बुद्धि स्थिर है ग्रौर ग्रब भी विकासशील है।

प्रश्न सहज ही उठता है कि भविष्य के लिए बच्चन की कोई देन शेष रहेगी या नहीं? ग्रौर यदि रहेगी तो किस रूप में? मेरा ग्रपना यह विश्वास है कि साहित्य में 'सोफ़िस्टिकेशन' की तीव्र प्रगति के बावजूद इस 'ग्रति' का दौर एक दिन काव्य के निर्मम नियम की किसी चट्टानी सीमा से टकराकर ही रहेगा ग्रौर युवा-प्राणों की रूमानी प्यास ग्रपनी तृप्ति के लिए फिर नये सिरे से भाव-वेदना के बन्द ग्रादिम स्रोतों को युग-युग में खोदेगी। ग्रौर तब बच्चन की यह ग्रान्तरिक पुकार फिर एक बार, धुएँ के धरहरों के बीच, सम्मिलित युवा कण्ठों में गूँज उठेगी :

फल-भरे तरु तोड़ डाले
शान्त मत लेकिन पवन हो,
वज्र घन चाहे गिराए
किन्तु मत सूना गगन हो।
बढ़ बहा दे बस्तियों को
पर न हो जलहीन सरिता,
हो न ऊसर देश चाहे
कंटकों का एक वन हो।

यह वह पुकार है, जो हर युग के रसरिक्त, निर्जीव, निष्क्रिय, 'सेटिएटेड' और 'सोफ़िस्टिकेटेड' प्राणों में नित नया जीवन और नयी-नयी उमंगें भरती रहेगी, क्योंकि प्रकृति का यह चिरन्तन नियम है कि 'लक्स सैड सेटाएटी' कभी स्थायी नहीं रह सकती।

मेरी प्रौढ़ युवावस्था में भी बच्चन की कविताओं ने मेरे प्राणों को तरंगित किया है। कभी अकेले में और कभी कुछ समानधर्मा मित्रों के साथ इसी प्रयाग की सड़कों पर चलते हुए उनकी विभिन्न कविताओं की चुनी हुई पंक्तियाँ निर्द्वन्द्व भाव से गाता रहा हूँ। 'वह पगध्वनि मेरी पहचानी' तो कई बार पूरे का पूरा हमने गाया है और निम्न पंक्तियाँ भी अक्सर गुनगुनाया करता था :

वे देतीं प्याले घूम-घूम
वे बाँट रहीं मधु घूम-घूम
वे झुक-झुककर वे झूम-झूम
मैं उन्हें पिलानेवाला हूँ
मैं ही मालिक मधुशाला हूँ।

जवानी की जादूभरी मस्ती मुक्त रूप से लुटाने वाला यह कवि कभी पुराना नहीं पड़ सकता और न कभी सहज में भुलाया ही जा सकेगा।

आदमी और कवि

केदारनाथ अग्रवाल

देह के बच्चन — मन के बच्चन — समाज के बच्चन — सभ्यता और संस्कृति के बच्चन — सरकार के बच्चन — जनता के बच्चन — और काव्य के बच्चन — ये सब बच्चन मुझे एक जैसे ही लगे हैं।

देह का बच्चन मध्यमवर्ग की ज़मीन में पनपा बच्चन है। उस वर्ग के एक ओर निम्न वर्ग है — दूसरी ओर उच्च वर्ग है। मध्यमवर्ग का प्राणी बीच का प्राणी है, जो दोनों ओर देखता-सुनता-समझता है और वश भर निम्न वर्ग की तरफ नहीं जाना चाहता — मगर वश चला तो उच्च वर्ग की तरफ ज़रूर चला जाता है। देह का बच्चन ऐसा ही एक बीच का प्राणी है। उसकी देह न सुर की देह है — न असुर की — न यक्ष की — न किन्नर की, यानी कि वह न देह से दरिद्र रहा है, न महाजन। शायद इसीलिए देही बच्चन का इन्द्रिय-बोध न जड़-भौतिकी रहा है — न सूक्ष्म दैवी रहा है। शायद इसीलिए देही बच्चन के इन्द्रिय-बोध की कविताएँ न जड़ हो सकीं — न सूक्ष्म; वे हुईं साफ़-सुथरे, पढ़े-लिखे नागरिक की साफ़-सुथरी संयत-शोभनीय कविताएँ।

मन का बच्चन देह के बच्चन का अभिन्न, अन्तरंग-आत्मीय है। बड़ी ख़ूबी है कि दोनों एक-दूसरे के बड़े ख़ैरख़्वाह हैं। द्वन्द्व में—संघर्ष में भी एकजुट रहते हैं— रस्साकशी नहीं करते कि एक हारे, दूसरा जीते। जितना जिये दोनों साथ-साथ उतना जिये। न कम, न बेशी। शायद इसीलिए बच्चन की कविताओं में तन और मन की एकता और तन्मयता मिलती है। शायद इसीलिए बच्चन की कविताएँ उतनी ही मन की कविताएँ हैं, जितनी देह की। न देह का हनन है—न मन का। देह का दिया भी उसी लौ से जलता है, जिस लौ से यज्ञ का दिया जलता है। दोनों एक आँच—एक उजाला देते हैं और दोनों की अभिव्यक्ति एक आँच और एक उजाले की अभिव्यक्ति है और यही अभिव्यक्ति बच्चन की कविता है।

समाज का बच्चन अच्छा पड़ोसी — हमदर्द साथी — मर्यादित कुटुम्बी है। समाज ने उसे बहुत कुछ दिया है। समाज से उसने बहुत कुछ लिया है। वह समाज में जिया है — समाज उसमें जिया है। समाज ने उसे गढ़ा, बनाया, तोड़ा, सँवारा और समृद्ध किया है। उसने समाज के मन को गढ़ा, बनाया, तोड़ा, सँवारा और समृद्ध किया है। समाज ने उसपर चोट की, उसने उसपर चोट की। लेकिन ऐसा नहीं हुआ कि समाज का बच्चन समाज-विमुख हुआ हो। समाज स्वयं में बुरा नहीं है। समाज में जीने के लिए ज़रूरी है कि आदमी आदमी रहे। समाज से भागकर, समाज की बुराई

से बचना, यह आदमियत नहीं—यह मूर्खता है। शायद इसीलिए बच्चन—सामाजिक बच्चन—समाज में रहना पसन्द कर सके—उसके और अपने अधिकार और कर्तव्य में ताल-मेल बैठा सके—और समाज के इंद्रिय-बोध को और अपने इंद्रिय-बोध को, विवेक से एक करके, काव्य की पंक्तियों में ग्रहणशील बना सके। तभी वे न अराजक थे, न हैं, न रहेंगे। तभी आज की सामाजिक अराजकता में भी बच्चन अराजक नहीं हैं और न समाज में अराजकता चाहते हैं। अराजकता नकारात्मक होती है। विध्वंसशील होती है। अराजकता की स्थिति स्वीकार कर लेने बाद कोई भी व्यक्ति काव्य की सृष्टि नहीं कर सकता। बच्चन यह खूब जानते हैं। यही वजह है कि बच्चन इस समय भी रचना पर रचना करते चले जाते हैं जैसे उन्हें कोई बात या घटना कुंठित ही नहीं करती। यह धमाचौकड़ी का माहौल बहुतों को बेतरह पस्त कर चुका है। पर वाह रे बच्चन, कि पस्त होना ही नहीं जानते !

सभ्यता और संस्कृति का बच्चन उतना ही दमदार है जितना दमदार देह का बच्चन—मन का बच्चन—और समाज का बच्चन। बच्चन का जीवन सभ्यता का जीवन है। असभ्यता उसे छू तक नहीं गई। सभ्यता ने उसे विवेक और बुद्धि दी है। संस्कृति ने उसे मानवीय गरिमा प्रदान की है। शायद इसीलिए बच्चन की कविता सभ्य और संस्कृत है और उसका विकास और इतिहास देश की सभ्यता और संस्कृति के विकास और इतिहास से सम्बद्ध और सम्पृक्त है। तभी उसकी कविता एक स्वस्थ अभिरुचि की कविता है। न वह क्रुद्ध पीढ़ी की कविता है, न वह मृत्युमुखी कविता है। बच्चन की कविता सभ्य नागरिक की संवेदनशील कविता है।

सरकार का बच्चन बिका बच्चन नहीं है। वह सरकार का वेतनभोगी रहा है—जरूर रहा है, मगर वैसे नहीं रहा है, जैसे और रहते हैं कि जिसकी खाएँ उसकी बजाएँ और बिककर बेजान हो जाएँ। नहीं—कदापि नहीं—बच्चन सरकार का होकर भी सरकार का पिट्ठू नहीं रहा। न उसने सरकार की बेसुरी बाँसुरी बजाई, न इसका खोखला ढोल बजाया। न उसने मान-सम्मान पाने के लिए सरकार के आगे घुटने टेके। स्वाभिमान के साथ और अपनी स्वाधीनता के साथ बच्चन ने अपना धर्म निबाहा और सरकार का धर्म निबाहा। यहाँ भी दोतरफ़ा निर्वाह करके बच्चन ने कमाल दिखाया। शायद इसीलिए बच्चन की कविता सरकारी प्रशस्ति की कविता नहीं है। शायद इसीलिए बच्चन की कविता सरकारी योजनाओं की कविता नहीं है। बच्चन की कविता में देश का समझदार आदमी बोलता है—सरकार का आदमी नहीं। बहरहाल आजकल तो सरकार और जनता में भेद-विभेद है ही। दोनों अच्छी भी हैं और बुरी भी। बच्चन दोनों की अच्छाइयों को देखकर प्रेरित होते हैं और दोनों की बुराइयों को देखकर क्षुब्ध होते हैं। यहाँ भी संतुलित दृष्टिकोण ही काम करता है और बच्चन विभ्रम में कभी किसी क्षण नहीं पड़ते।

जनता का बच्चन जनता के साथ साँस लेकर उसके साथ जीता है। जनता के मनोबल का इतिहास उसके मनोबल का इतिहास है। जनता की भावना का ग्राफ़ उसकी भावना का ग्राफ़ है। जनता के विचार उसके विचार हैं। उसकी कविता में वह बोलता

है और उसके बोल से भारत की जनता का दिल बोलता है। बंगाल में अकाल पड़ा। बच्चन की कविता ने उसे वाणी दी। वैसे भी बच्चन, आज भी देश की जनता के पक्ष का प्रबल समर्थक है और उसकी बात कहने में नहीं चूकता। बच्चन है इसीलिए जनता के भाव और विचार की सहज-सरल स्फुरणशील कविता भी हिन्दी में है।

काव्य का बच्चन पहले आदमी है और फिर कवि। तभी बच्चन का कवि आदमियत को अपनाए रहता है और आदमियत में रहकर ही आदमियतकी कविता करता रहता है। इसीलिए—शायद इसीलिए—बच्चन की कविता में न शब्दों का खिलवाड़ मिलता है—न पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन—न गहन-गुरु-गम्भीर निनाद—न चमत्कार—न चीत्कार—न अलंकार—न व्यर्थ का वाग्व्यभिचार—न आत्म-दोहन—न दुराग्रह।

मैं ऐसे बच्चन को—अपने बड़े भाई को—हिन्दी में समझदार कवि को—साठ साल पूरे करने पर हार्दिक बधाई देता हूँ और अभी और इतने ही वर्ष तक उनके जीने की कामना करता हूँ। मुझे निकट से भी बच्चन वही लगे, जो दूर से लगे। मैं कोई फ़र्क नहीं पाता।

एक ईमानदार प्रतिभा

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

बच्चन व्यक्ति को मैंने बहुत नज़दीक से देखा है। उनके सुख-दुःख और उनके संघर्ष तथा सफलता के क्षणों और दिनों में, मैं उनके साथ रहा हूँ। बच्चन कवि की अधिकांश रचनाएँ मैंने पढ़ी हैं और सैकड़ों उनसे सुनी हैं। उनका स्वर, उनकी दृष्टि और उनका चिन्तन मेरा जाना-पहचाना है, पर कभी-कभी लगता है कि मैं उन्हें पहचान नहीं पा रहा हूँ। कुछ समय पूर्व हम दोनों 'ओबेराय इण्टर कौन्टिनेंटल' में निमन्त्रित थे। मध्याह्न-पूर्व का समय था। बच्चनजी और मैं बातचीत करते-करते होटेल के बड़े लाउँज के मध्य से बाहर निकलकर पत्थर के जँगले के उस भाग पर पहुँचे, जहाँ से घुमाव लेकर संगमरमर की सीढ़ियाँ बड़े तालाब की ओर उतरती हैं। इस सुन्दर गोलाई लिए तालाब को तीन ओर से होटेल की इमारत ने घेर रखा है और चौथी तरफ़ की सीधी ऊँचाई लतागुल्मों से आवेष्टित है। तालाब के चारों तरफ़ हरे-भरे लॉन हैं, जिनपर बेंत की रंगीन आरामकुर्सियाँ पड़ी रहती हैं। इन कुर्सियों पर बीसों विदेशी युवक-युवतियाँ और बच्चे नहाने की पोशाक में बैठे थे। अप्रैल का महीना था, जब मध्याह्न-पूर्व के समय तालाब में तैरना बहुत सुखद प्रतीत होता है। इन विदेशी यात्रियों में कहीं बीअर का दौर चल रहा था और कहीं अन्य पेयों तथा खाद्यों का। सम्पूर्ण वातावरण ऐसा था, जो भारत का नहीं, यूरोप या अमेरिका के किसी भी प्रदेश का हो सकता है। सुबह से हम लोगों में अपने देश की समस्याओं की चर्चा चल रही थी। बिहार के अकाल की चर्चा स्वभावतः प्रमुख थी। थोड़ी ही देर में मैंने पाया कि बच्चनजी मेरी किसी बात का जवाब नहीं दे रहे हैं। मैं भी चुप हो गया। उस चुप्पी में मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मैं किसी पूरी तरह अपरिचित व्यक्ति के साथ खड़ा हुआ हूँ। बच्चनजी अपलक नेत्रों से उस दृश्य को देख रहे थे, जो भारत में होता हुआ भी सौ फ़ीसदी विदेशी प्रतीत होता है। चिन्तन की उस मुद्रा में बच्चनजी न सिर्फ़ मुझे ही, बल्कि शायद अपने आपको भी भूल गए थे। मैं होटेल के उस चिरपरिचित दृश्य के साथ बच्चनजी का अध्ययन कर रहा था। किसी तरह का क्रोध या खिन्नता का भाव उनके चेहरे पर नहीं था। उनके गहरे चिन्तन की शान्त मुद्रा से मुझपर यही प्रभाव पड़ा, जैसे वे सोच रहे हों कि क्या किसी दिन हमारे देश भारत के जन-साधारण के लिए भी ये आमोद-प्रमोद सुलभ नहीं हो सकते ! काफ़ी देर तक हम दोनों चुपचाप खड़े रहे, तब तक जब कि हमारे मेज़बान ने नज़दीक आकर बच्चनजी को पुकारा नहीं। करीब पन्द्रह मिनट की उस जाग्रत् निद्रा से उबरकर बच्चनजी ने मुझसे कहा, "हाँ, तो आप क्या कह रहे थे ?"

इसी तरह का एक और अनुभव । बम्बई से दिल्ली वापस आते हुए मैंने बहुत-से इरादे बनाए थे । भारत आज जिस तरह बिखरता दिखाई दे रहा है, उसका एक प्रमुख कारण इस देश में भावनात्मक एकता की कमी है । एक लम्बे अरसे से मेरी यही धारणा रही है कि भावनात्मक एकता के विकास का उपाय यह है कि भारत की १५ राष्ट्रीय भाषाओं का सम्पूर्ण श्रेष्ठ साहित्य सभी भारतीय भाषाओं में उपलब्ध हो । इस विषय की पूरी योजना के साथ मैं दिल्ली आया, तो सबसे पहले बच्चनजी को इस सम्बन्ध में साथ लेने की बात मेरे ख़याल में आई । मैं टेलीफ़ोन करके उनके यहाँ पहुँचा । उस दिन मैं बच्चनजी से काफ़ी समय बाद मिला था । हालाँकि बम्बई से भी मेरा उनसे पत्र-व्यवहार निरन्तर रहा था । उस दिन वे मुझे सदा की अपेक्षा कहीं अधिक चिन्तामग्न और गम्भीर दिखाई दिए । मैंने अपनी योजना बतानी शुरू की । वह योजना महात्मा गांधी ने न सिर्फ़ पसन्द की थी, बल्कि योजना के सम्बन्ध में मुझसे कई बार बातचीत भी की थी । योजना की प्रति अन्त तक उनके कागज़ों में थी और अपने महाप्रयाण से ३ सप्ताह पूर्व उन्होंने मुझसे कहा था कि "मैं कोई कागज़ व्यर्थ में अपने पास नहीं रखता ।" बच्चनजी को योजना के आधारभूत सिद्धान्त बहुत संक्षेप में बताकर जब मैंने पृष्ठभूमि के रूप में गांधीजी की दिलचस्पी का ज़िक्र शुरू किया, तो एकाएक बच्चनजी ने कहा, "क्या आप अभी तक यह समझते हैं कि गांधीजी का नाम लेने से आज की सरकार का कोई बड़ा आदमी प्रभावित होगा ?" मुझे प्रश्न का उत्तर देने का मौक़ा न देकर उन्होंने कहा, "चन्द्रगुप्तजी, दिल्ली एकदम बदल गई है । चार-पाँच साल पुरानी दिल्ली को आप एकदम भूल जाइए ।" इसके बाद बहुत काफ़ी देर तक उन्होंने आज की स्वार्थ-परायण मनोवृत्ति और सभी क्षेत्रों में गुट बनाकर दूसरों को धक्का देते हुए आगे बढ़ते जाने की व्यापक प्रवृत्ति की चर्चा की । आज भारत की राजधानी दिल्ली के सभी कामों में, चाहे वे अच्छे हों या बुरे, किसी न किसी प्रमुख व्यक्ति का कोई छिपा हुआ निहित स्वार्थ ज़रूर होता है । आज की व्यापक रूप से भ्रष्ट परिस्थितियों के प्रति उनका आवेश स्पष्ट था । जैसा कि मैं कह चुका हूँ, मेरी धारणा है कि बच्चन व्यक्ति और बच्चन कवि को मैं बहुत निकट से जानता हूँ । बम्बई रहते हुए मुझे जो सूचनाएँ प्राप्त हुई थीं, उनके अनुसार राज्यसभा के सदस्य मनोनीत होने के साथ बच्चन को राजधानी में एक ऐसा विशिष्ट स्थान प्राप्त हो गया है, जो सम्पूर्ण हिन्दी जगत् के लिए स्पृहणीय हो सकता है । पर आज की परिस्थितियों में सम्मान के शिखर पर पहुँचकर भी यह व्यक्ति खिन्न और काफ़ी हद तक असहाय अनुभव कर रहा है, यह मेरे लिए आश्चर्य की बात थी ।

'बच्चन' नाम से मेरा पहला परिचय १९३३ में हुआ । इलाहाबाद से आने वाले मित्रों ने बताया था कि 'बच्चन' नाम का एक युवक कवि जनसाधारण में बहुत लोक-प्रिय हो रहा है । उन्हीं दिनों मैं इलाहाबाद गया था और ठाकुर श्रीनाथसिंह मुझे अपने साथ मुट्ठीगंज में बच्चन के घर भी ले गए थे । पर बच्चन उस दिन इलाहाबाद में नहीं थे । केवल उनके चचा मुन्शी कन्हैयालालजी से ही भेंट हो पाई थी, जो मुझे बहुत दिल-चस्प व्यक्ति प्रतीत हुए थे । किसी इलाहाबादी मित्र ने बताया था कि बच्चनजी की

लोकप्रियता के दो कारण हैं – एक तो उनका मधुर कण्ठ, दूसरा उमर ख़ैयाम की तर्ज़ पर 'मधुशाला' और 'मधुबाला' सम्बन्धी उनकी रचनाएँ। शायद इसी कारण जब १९३४ में जापानी कवि नोगुची के सम्मान में कलकत्ता में बुलाए गए कवि-सम्मेलन के अवसर पर मैं बच्चन से पहली बार मिला, तो सिर्फ़ रस्मी तौर पर। परन्तु कलकत्ता में ही किसी मित्र के घर बच्चनजी की ५-६ रचनाएँ सुनकर मैं उनका प्रशंसक बन गया था।

सबसे पहले मुझे बच्चन की रचनाओं ने अपनी ओर आकृष्ट किया। उनकी कविताओं में मुझे असाधारण सूझ, ताज़गी और माधुर्य दिखाई दिए। बहुत जगह ऐसा अनुभव हुआ जैसे बच्चन मेरे जी की बात कह रहा है। बच्चन की रचनाओं से विशेष प्रभावित होने का एक कारण शायद यह भी है कि मूलतः मेरी रुचि कहानी की ओर है और बच्चन की कविताओं में अमूर्त या मूर्त कथानक अधिकांशतः विद्यमान है। इस अंश में कि बच्चन की बहुत-सी कविताएँ एक-एक सजीव चित्र प्रस्तुत करती हैं। शायद वे हिन्दी के एकमात्र कवि हैं, जिनकी कितनी ही रचनाओं में स्पष्ट 'क्लाइमैक्स' भी विद्यमान है। बहरहाल, बच्चन कवि की रचनाएँ मुझे बहुत अधिक पसन्द आईं।

बच्चन व्यक्ति से मेरा परिचय निरन्तर बढ़ता चला गया। अप्रैल १९३४ ही में हम लोग गुरुकुल काँगड़ी में मिले। उसके बाद वे लाहौर आए, तो मेरे यहाँ ही ठहरे। लाहौर हिन्दी का केन्द्र नहीं था। वह उर्दू, अंग्रेज़ी और पंजाबी का केन्द्र था। १९३२ में मैंने लाहौर से 'विश्व साहित्य ग्रन्थमाला' का प्रकाशन आरंभ किया। हिन्दी के कितने ही अच्छे लेखक उन दिनों लाहौर में थे—पं० सन्तराम, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, उपेन्द्रनाथ अश्क, पृथ्वीनाथ शर्मा, ब्रजकिशोर नारायण, मोहनसिंह सेंगर, बलराज साहनी और कुछ वर्षों के लिए सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन। हम लोगों ने वहाँ 'हिन्दी भवन' नामक एक साहित्यिक संस्था की स्थापना की थी। इस संस्था के तत्त्वावधान में बच्चनजी का जो स्वागत और सम्मान हम लोगों ने आज से २९ वर्ष पहले लाहौर में किया था, किसी साहित्यकार का वैसा स्वागत-सम्मान आज दिल्ली में भी आयोजित करना कठिन है।

लाहौर जैसे अहिन्दी क्षेत्र में बच्चनजी बहुत शीघ्र अत्यन्त लोकप्रिय हो गए थे। उनकी कविताएँ सुनने को लाहौर के विभिन्न हॉल (जिनकी संख्या वहाँ काफ़ी थी) खचाखच भरे रहते थे। लाहौर उत्तर भारत का सबसे बड़ा सांस्कृतिक केन्द्र था, पर वहाँ प्रेमचन्दजी के बाद पहली बार किसी हिन्दी लेखक को इतनी लोकप्रियता प्राप्त हो रही थी। प्रेमचन्दजी उर्दू और हिन्दी दोनों के सर्वश्रेष्ठ कथाकार थे, इससे लाहौर के अधिकांश लोगों ने उनका स्वागत-सम्मान उर्दू लेखक के रूप में किया था। लाहौर के अधिकांश कॉलेजों, पंजाब विश्वविद्यालय के सांस्कृतिक केन्द्रों, नगर की समस्त साहित्यिक संस्थाओं तथा लाहौर के ऊंचे स्तर के क्लबों – सभी जगह बच्चन की चर्चा थी। हिन्दी माध्यम से लाहौर का हृदय जीतने वाले पहले व्यक्ति बच्चन ही थे। बच्चन की शैली और बच्चन के चिन्तन का प्रभाव कितने ही उर्दू और पंजाबी के युवक कवियों पर भी पड़ा था।

× × ×

सन् '३६ की गर्मियों में जब बच्चनजी मेरे यहाँ लाहौर में ठहरे थे, तब 'निशा-निमन्त्रण' प्रकाशित हो चुका था। और 'एकान्त संगीत' लिखा जा रहा था। अपने जीवन की एक बहुत बड़ी मानसिक चोट से वे उबर तो चुके थे, पर उसका प्रभाव अभी तक बाक़ी था। अपने सम्मान में आयोजित समारोहों में बच्चन शामिल होते, अपनी कविताएँ सुनाते, नये लोगों से ठीक तरह से मिलते भी—पर उनकी आँखों में एक खोया-खोया-सा भाव निरन्तर बना रहता। समारोहों में लोग उनसे 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश' के गीत सुनाने का आग्रह करते। उनकी फ़रमाइशें पूरी करते हुए बच्चन 'निशा-निमन्त्रण' के गीत पूरी तन्मयता से सुनाते, जिन्हें बहुत अधिक पसंद किया जाता। मुझे याद है, एक समारोह में राजा नरेन्द्रनाथ और जस्टिस अब्दुल क़ादिर (ये दोनों व्यक्ति उस युग के सांस्कृतिक लाहौर के सर्वमान्य प्रमुख थे) दोनों ही 'निशा-निमन्त्रण' का 'रात आधी हो गई है' गीत सुनकर शब्दशः फड़क उठे थे। विशेषकर ये पंक्तियाँ—

> दे रही कितना दिलासा
> आ झरोखे से ज़रा-सा
> चाँदनी पिछले पहर की पास में जो सो गई है !

बच्चन को पाँच-छः बार यह गीत दोहराना पड़ा था।

मैं उन दिनों लाहौर के 'आशा निकेतन' नामक जिस मकान में रहता था वह अपने क्षेत्र का सबसे ऊँचा मकान था। रात को जब हम लोग इस मकान की छत पर लेटते, तो बच्चन से कविताएँ सुनाने का आग्रह होता। अधिकांशतः 'आकुल अन्तर' के उन्हीं दिनों लिखे जा रहे गीत तथा 'निशा-निमन्त्रण'। पहले बच्चन बड़ी तन्मयता से अपने गीत सुनाते। जब वे पूरी तरह मूड में आ जाते, तो हम लोग भी साथ ही साथ उन गीतों को 'मुखर' करने लगते। समा बँध जाता। कि अचानक बच्चन चुप हो जाते। एकाएक ऐसा प्रतीत होता कि चारों ओर गहरा सन्नाटा व्याप्त हो गया है। उस बड़े नगर की रात का यह सन्नाटा और भी अधिक प्रभावकारी होता था। हम लोगों में से कोई भी इस चुप्पी को तोड़ने का प्रयास न करता। कुछ समय के बाद यह गहरी चुप्पी कवि के कण्ठ से निकली एक हूक से टूटती—बच्चन का अन्तस्तल अत्यन्त द्रावक स्वर में पुकार उठता—"ओ माँ !"—और कुछ क्षणों के बाद फिर से कविता-पाठ शुरू हो जाता। फिर से समा बँधता और अन्तराल लेकर फिर से चुप्पी छा जाती। ऐसा कई बार होता। आज २६ बरस बीत जाने पर भी मैं बच्चन के अन्तस्तल से उठने वाली 'ओ माँ !' की वह अत्यन्त अनुभूतिपूर्ण पुकार नहीं भूला हूँ।

उसके बाद अगले ३ वर्षों में बच्चन कितनी ही बार लाहौर आए। हम लोगों ने यह प्रबन्ध भी किया था कि वे लाहौर ही के एक अच्छे कॉलेज के अंग्रेज़ी विभाग में नियुक्त हो जाएँ। लाहौर में बसने की बात तो उन्हें स्वीकार नहीं थी, पर १६४२ के प्रारम्भ में लाहौर में तेजी से उन्होंने विवाह किया, इस तरह वे आधे लाहौर वाले ज़रूर बन गए।

सन् १६४२ से उनके जीवन का नया दौर प्रारम्भ हुआ। वे 'जो बीत गई सो बात गई' जैसी कविताएँ लिखने लगे थे। उसी वर्ष के अन्त में मैं इलाहाबाद गया

और बच्चनजी के घर ठहरा। तेजीजी उन दिनों बाहर गई हुई थीं। बच्चनजी के साथ २-३ दिन मैंने खूब मज़े में बिताए। गृहिणी घर पर नहीं थी, सो कोई नियम-क़ायदा नहीं चलता था। बच्चनजी का सामान उनके कमरे में बिखरा रहता और मेरा मेरे कमरे में। जब मर्ज़ी उठो और जब मर्ज़ी सोओ। प्रातः जब नींद टूटती तो बच्चनजी अपने खान-सामे को आवाज़ देते —"सुदामा, चाय लाओ" (यह सुदामा बच्चनजी का इतना फ़रमा-बरदार अनुचर था कि उसके बाद आए अपने सभी नौकरों को बच्चनजी काफ़ी वक़्त तक 'सुदामा' कहकर ही पुकारते रहे) मैं बच्चनजी के कमरे में आ जाता और गप्पें मारते हुए 'बेड टी' चलती। उसके बाद नाश्ता, दोपहर का भोजन, साँझ की चाय, रात का खाना—जिसमें कुछ बाहर के लोग भी निमन्त्रित रहते। सुदामा सब काम बड़ी खूबी से निभाता। यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि वह बाज़ार से घर की सब चीज़ें लाता, पर अपने साहब से कभी उसने एक पैसा भी नहीं माँगा। बाद में पता चला कि घर की रोज़मर्रा की ख़रीद-फ़रोख्त के लिए तेजीजी उसे काफ़ी पैसे दे गई थीं।

तीसरे दिन की प्रातः तार आया कि तेजीजी दोपहर की ट्रेन से वापस आ रही हैं। बच्चनजी ने मुझसे पूछा, "तेजी को लेने स्टेशन पर चलोगे ?" मैंने कहा, "ज़रूर। पर वहाँ से मैं लखनऊ की ट्रेन पकड़ लूँगा।"

बच्चनजी युनिवर्सिटी से सीधा स्टेशन चले गए। बच्चन दम्पती का हनीमून-वर्ष चल रहा था, इससे मैं स्टेशन पर तो नहीं गया, पर अपना सब सामान मैंने बाँध लिया। तेजीजी सफ़ाई और क़ायदे की पाबन्द हैं, इससे अपना कमरा मैंने पूरी तरह ठीक कर दिया। इरादा किया कि रात की गाड़ी से जाऊँगा। दोपहर को मेरे एक मित्र मुझे अपने साथ ले गए। साँझ की चाय के वक़्त लौटा और सीधा कमरे में गया तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। कमरे की पूरी सज्जा बदली हुई थी। टेबलों पर नये टेबल-क्लाथ बिछे थे, कुर्सी की गद्दियों के कवर और कमरे के पर्दे तक सब बदल दिए गए थे। फूलदान में गुलाब के ताज़े फूल महक रहे थे। मेरा बिस्तरा खोलकर बिछा दिया गया था और उसपर रेशम का बेड कवर बिछा हुआ था। मैं आश्चर्यचकित हो ही रहा था कि तेजी-जी कमरे में आईं। नमस्कार आदि के बाद उन्होंने कहा, "यह कहाँ का क़ायदा है कि मेज़बान आए और मेहमान चल पड़े ?"

मैं पूरे तीन दिन और इलाहाबाद में रुका। कुशल गृहिणी की देखरेख में घर का जीवन और वातावरण अत्यन्त सुखद और प्रसन्नतापूर्ण था।

सन् १९४४ के नवम्बर में लाहौर से कलकत्ता जाते हुए मैं इलाहाबाद रुका। दिल्ली से मैं प्रातः का कालका-कलकत्ता मेल पकड़ा था, जो साँझ को इलाहाबाद पहुँचा था। दिन भर ट्रेन की सभी क्लासों में बेहद भीड़ रही थी। महायुद्ध के दिन थे, जब दिन के सफ़र में किसी क्लास में संख्या की प्रतिबद्धता नहीं थी। मैं सफ़र में काफ़ी थक गया था। लाहौर के मुक़ाबले में इलाहाबाद का मौसम मुझे खुला-खुला-सा प्रतीत हुआ। बच्चनजी की स्ट्रैची रोड वाली कोठी के सामने अच्छा लॉन था। हम लोग इसी लॉन में बैठे। चाय

मँगवाई गई। मैंने बच्चनजी से पूछा, "इन दिनों आप क्या लिख रहे हैं ?"

"हाल ही में एक लम्बी कविता लिखी है।"

"किस विषय पर ?"

"बंगाल के अकाल पर।"

"कितनी लम्बी कविता है ?"

"लगभग १००० पंक्तियाँ। सुनोगे ?"

मेरी उत्सुकता चरम सीमा पर थी। पर मैं सचमुच थका हुआ था। पिछली रात ठीक से सो नहीं पाया था। सिर भी कुछ भारी प्रतीत हो रहा था। फिर भी मैंने कहा—"ज़रूर !"

उसी समय चाय भी आ गई। बच्चनजी भीतर से कविता की पांडुलिपि ले आए। पाठ शुरू हुआ। सचमुच बड़ी ज़बरदस्त रचना है—'बंगाल का काल'। कुछ ही देरमें मेरी थकान, नींद और सिरदर्द सब पूरी तरह ग़ायब हो गए। और जब बच्चनजी ने पढ़ा—

या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः।

तो विश्व भर के सब प्राणियों में व्याप्त महान् भूख का विशद चित्र मेरे संमुख खिंच गया।

भूख प्रबल है
भूख सबल है
भूख अटल है
भूख कालिका है, काली है !

सजीव चित्र खींचने की बच्चनजी की प्रतिभा इस लम्बी कविता में अद्भुत रूप से अभिव्यक्त हुई है।

बच्चन को मैं भारतीय काव्य-जगत् की एक असाधारण प्रतिभा मानता हूँ। भारत में साहित्यिक प्रतिभाओं को जो स्वीकृति और सम्मान साधारणतः मिलता है, उससे अधिक स्वीकृति, सम्मान, लोकप्रियता और सफलता बच्चन को प्राप्त हुई है। फिर भी बहुत बार उन्हें ग़लत समझा गया है। 'कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा' से लेकर आज तक। इसका कारण यह है कि बच्चन जो कुछ कहते हैं, उसमें दुरूहता नहीं होती। उनकी बात साफ़-सुथरे ढंग से कही गई सीधी बात प्रतीत होती है और शायद इसी कारण उसकी प्रतीकात्मकता की ओर पाठक का ध्यान बहुत बार नहीं जा पाता।

कवि बच्चन व्यक्तिगत बच्चन से कहीं अधिक दार्शनिक, निर्मम, ऑब्जेक्टिव और द्रष्टा है। व्यक्ति बच्चन इस कवि बच्चन का उपादान भर है, इससे कथ्य में स्पष्टता लाने के लिए वह व्यक्ति बच्चन की अनुभूतियों का बिना लाग-लपेट के, पूरी तरह 'निस्संग' रूप में प्रयोग करता है। 'बहुत दिन बीते' में जब बच्चन कहता है कि—

मुझ समाज के विद्रोही के मन में
किसने उससे समझौता कर लेने की
असमय कमज़ोरी भर दी ?

तो वह व्यक्ति बच्चन की नहीं, आज की एक पूरी पीढ़ी की बात कहता है। वह एक कटु सत्य का उद्घाटन करता है, जो स्वाधीन भारत की शायद सबसे बड़ी 'ट्रेजडी' है। पर अच्छे-अच्छे लोगों ने भी इस वस्तुस्थिति को समझा नहीं। वे इसे और इस तरह की अन्य बातों को बच्चन की व्यक्तिगत आत्म-स्वीकृति के रूप में ले लेते हैं।

सन् '३९ की ही बात है। लाहौर के बुद्धिजीवियों और प्रोफ़ेसरों के मजमे में जब बच्चन पहुँचे तो हॉल खचाखच भर चुका था। श्रोताओं के बीच में से होकर जब वे मंच की ओर बढ़े तो उन्होंने अपना हाथ मेरे कन्धे पर रक्खा हुआ था। श्रोताओं ने बच्चन को बहुत अधिक पसन्द किया। दूसरे दिन मैं लाहौर के गवर्नमेण्ट कॉलेज में किसी काम से गया (पंजाबियों का दावा था कि लाहौर का गवर्नमेंट कॉलेज भारत का सबसे अच्छा कॉलेज है।) स्टाफ़रूम में बच्चन की चर्चा थी। एक प्रोफ़ेसर से मेरा परिचय करवाया गया तो मैंने उनसे पूछा कि बच्चन की कविताएँ उन्हें कैसी लगीं? उन्होंने कहा—"कविताएँ तो बहुत अच्छी लगीं। सुनकर मज़ा आ गया। पर यह शख़्स हर वक्त पिए क्यों रहता है? मुशायरे के बाद भले ही पी ले, मगर वे तो पहले ही पीकर आए थे।"

"बच्चन पीकर आए थे?"

"जी हाँ। मैंने कल खुद देखा कि जब वे हॉल में पहुँचे तो ठीक से चल भी नहीं सकते थे। किसी शख़्स के कन्धे पर हाथ रखकर वे चल रहे थे।

मैंने कहा, "जनाब, पिछले ५-६ दिन से बच्चनजी मेरे मेहमान हैं और हर वक्त मैं उनके साथ रहा हूँ। उन्होंने शराब को हाथ तक नहीं लगाया। जिस शख़्स के कन्धे पर हाथ रखकर वे चल रहे थे, वह शख़्स मैं ही हूँ।"

प्रोफ़ेसर साहब अपनी झेंप मिटाने के लिए बोले, "ख़ैर, मेरी ग़लतफ़हमी की वजह शायद उनकी 'मधुशाला' सम्बन्धी कविताएँ होंगी। जाने दीजिए। मैं भी सोच रहा था कि आपका चेहरा बहुत वाकिफ़-सा लग रहा है। जी हाँ, कल ही तो मैंने आपको देखा था।"

व्यक्ति बच्चन भी बहुत खरा है। वह अपने दृष्टिकोण को उदात्त और व्यापक बनाने का अधिकतम प्रयास करता है। बच्चन की ग्रहणशीलता अभी तक अक्षुण्ण रूप से क़ायम है। वे अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने समाज व देश के प्रति और सबसे बढ़कर सम्पूर्ण मानव जाति के प्रति पूरी तरह ईमानदार हैं।

चंचला लड़की और फक्कड़ कवि

उपेन्द्रनाथ अश्क

बच्चन से मेरी मुलाक़ात का कारण काव्य की बजाय कवियों में दिलचस्पी लेने वाली एक चंचल भावुक लड़की थी। और बच्चन का नाम भी मैंने पहले पहल उसीके मुँह से सुना था।

यह तो मुझे याद नहीं कि आती अथवा जाती हुई गर्मियों के दिन थे, इतना याद है कि १९३४ का ज़माना था। छत पर सोते थे और सुबह-शाम खुनकी हो जाती थी। मैं क्या करता था, यह भी मुझे याद नहीं, इतना एहसास है कि मेरा दिन का समय प्रायः खाली रहता था। मेरे शुरू के संघर्ष में कुछ महीने ऐसे भी आए हैं—जून १९३३ से सितम्बर १९३४ तक, जब मैंने एक के बाद एक अख़बार की नौकरियाँ छोड़ीं और फ्री लांसिंग करता रहा। ग़ालिबन उन्हीं दिनों की बात है, पहली पत्नी जालन्धर थी और मैं अपने बड़े भाई के साथ लाहौर में रहता था। दस-बीस रुपये महीने कमा लेता था, जो उस ज़माने में खाने-रहने के लिए काफ़ी थे और चूँकि हिन्दी में लिखने की बड़ी साध थी, इसलिए दिन का अधिकांश प्रेमीजी (श्री हरिकृष्ण प्रेमी) के यहाँ गुज़ारता था और कई बार रात को भी वहीं सो जाता था।

प्रेमीजी मध्य प्रदेश के किसी गाँव अथवा कस्बे (शायद गुना) के रहने वाले हैं और पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी के शिष्य और कदाचित् उन्हींके माध्यम से हिन्दी भवन, लाहौर से निकलने वाली मासिक पत्रिका 'भारती' के सम्पादक होकर आए थे और उनके आगमन के बाद लाहौर के हिन्दी साहित्यिक और पत्रकार आपस में मिलने-मिलाने और गोष्ठियाँ और सभाएँ करने लगे थे।

रेलवे रोड पर रतनचन्द रोड के सामने काफ़ी खाली जगह थी। जहाँ कृष्णा गली की कॉलोनी बस रही थी, शायद वहीं एक नये बने मकान में दो मंज़िले पर प्रेमीजी आकर टिके थे। तीन-चार बड़े खुले रौशन कमरों का फ़्लैट उनके पास था। मेरा अड्डा स्थायी नहीं था। गर्मियों में मैं और मेरे बड़े भाई चंगड़ मुहल्ले अथवा संतनगर वगैरह में कहीं किसी छत पर एक-आध कमरा ले लेते थे और सर्दियों में दुकान की परछत्ती पर डेरा जमाते थे। मैं उन दिनों कविता नहीं करता था। प्रेमीजी की सहायता से अपनी उर्दू कहानियों को हिन्दी रूप देने का प्रयास कर रहा था। स्व० माखनलाल चतुर्वेदी के कहने पर प्रेमीजी ने मेरा नाम 'अश्क' के बदले 'अश्रु' कर दिया था और भाभी—श्रीमती प्रेमी—मुझे 'अस्रू' जी कहकर पुकारती थीं और अपने कर्कश अक्खड़ स्वभाव के बावजूद बहुत स्नेह देती थीं।

प्रेमीजी लाहौर में जमना चाहते थे और मैं हिन्दी क्षेत्र में प्रवेश पाना चाहता था और हम दोनों में एक अलिखित मौन समझौता था कि मैं लाहौर में उनके लिए मैदान बनाऊँ और वे हिन्दी क्षेत्र में मेरा पथ प्रशस्त करें। जैसा कि मैंने कहा, हम दोनों सारा दिन इकट्ठे गुज़ारते थे। गोष्ठियों और सभाओं में साथ-साथ जाते थे। प्रेमीजी कविता पढ़ने के लिए खड़े होते तो मैं उनके कवि का विस्तृत परिचय देता और यदि मैं किसी गोष्ठी में कोई हिन्दी कहानी पढ़ता (जो उन्हींके हाथों संशोधित होती) तो उर्दू की सीमित दुनिया से हिन्दी के विशाल क्षेत्र में आने पर वे मेरे 'उदीयमान' कथाकार का स्वागत करते और हिन्दी वालों को बताते कि यह कथाकार उर्दू में कौन-से तीर मार चुका है और कैसे उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द इसके उर्दू कथा-संग्रह की भूमिका लिख चुके हैं। 'मन तुरा हाजी बगोयम, तू मुरा मुल्ला बगो'— यानी तू मुझे हाजी कह और मैं तुझे मुल्ला कहूँ— वाली बात थी और हमारा यह समझौता कुछ वर्षों तक निरन्तर चलता रहा।

प्रेमीजी नाम ही से नहीं, वास्तव में प्रेमी जीव थे— वो किसीने कहा है ना :

मेरा मिज़ाज लड़कपन से आशिकाना था।

तो यह मिसरा उनपर पूरी तरह फ़िट होता था। वे सीधी-सरल भाषा में लम्बी-लम्बी प्रेमभरी कविताएँ लिखा करते थे, जो उनकी पत्रिका में हर महीने छपा करती थीं।

आज तो वे कविताएँ मुझे खासी बचकानी लगती हैं और हिन्दी के दूसरे कवियों का परिचय पाने के बाद कुछ ही वर्षों में तभी उनका जादू टूट गया था, पर सच्ची बात यह है कि उन शुरू के दिनों में वे सीधी-सरल प्रवहमान, भावुकता भरे, प्रेम से छलकती हुई लम्बी-लम्बी कविताएँ मुझे बहुत अच्छी लगती थीं। कविता लिखते ही प्रेमीजी मुझे सुनाया करते थे। 'भारती' में छपने पर अंक मिलते ही मैं उन्हें भाव-विभोर होकर पढ़ा करता था और न केवल वे मुझे बहुत अच्छी लगती थीं, वरन् स्वर न अच्छा होने के बावजूद मैं उन्हें तन्मय भाव से गाया भी करता था और बार-बार गुनगुनाने के कारण वे मुझे कण्ठस्थ भी हो जाती थीं।

एक दिन मैं प्रेमीजी के यहाँ गया तो मैंने वहाँ एक लड़की को बैठे देखा— मँझला क़द, छरहरा बदन, आँखें ज़रा-सी चुँधी, पर तबीयत में बेहद चुलबुलापन और प्रेमीजी ही की तरह भावुक! उसके हाथ में एक मोटी-सी हस्तलिखित कापी थी, जिसके पहले पृष्ठ पर हाथ से बने एक सूर्यतुमा सुन्दर फूल के दरम्यानी गोले में बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखा था—'मधुशाला!' और नीचे लिखा था 'बच्चन!'

'बच्चन' किसी कवि का नाम हो सकता है, यह तब मुझे बड़ा अजीब लगा था। पर वह लड़की बड़ी भावुकता से 'मधुशाला' की रुबाइयाँ प्रेमीजी को सुना रही थी। बाद में मैंने बच्चन द्वारा लिखित 'ख़ैयाम की मधुशाला' भी देखी और उनकी मौलिक 'मधुशाला' भी— बच्चन ने पहले ख़ैयाम की रुबाइयों का अनुवाद किया होगा, फिर उसी रौ में मौलिक रुबाइयाँ लिख डाली होंगी। जैसे अज्ञेय ने जापानी 'हाइकू' का अनुवाद करने के बाद स्वयं भी तीस-चालीस मौलिक 'हाइकू' लिखे। लेकिन जहाँ तक

मुझे याद पड़ता है, उस कापी पर 'मधुशाला' ही लिखा था। 'खैयाम की मधुशाला' नहीं।

मैं जब जाकर किंचित् दूरी पर बैठ गया तो प्रेमीजी ने उसे मेरा परिचय दिया और उसके बारे में मुझे बताया कि उनकी 'सहोदरा' है— दिल्ली से उन्हें मिलने आई है और बच्चन एक कवि है जिसने खैयाम की मधुशाला को अपनी अलबेली शैली में रूपांतरित किया है।···बीच ही में उनकी बात काटकर उस चंचला ने बच्चन के बारे में मेरा ज्ञानवर्धन किया कि बच्चन बड़ा मस्त और फक्कड़ कवि है और उस जैसा स्वर हिन्दी में किसी युवक कवि का नहीं और जब वह अपने अद्वितीय स्वर में अपनी रुबाइयाँ सुनाता है तो युवक झूम-झूम जाते हैं; एक-एक रुबाई को बार-बार सुनते हैं और एक बार बच्चन मंच पर आकर बैठ जाए तो उसे उठने नहीं देते।

मैं 'सहोदरा' का अर्थ नहीं समझ पाया। घर आकर मैंने शब्दकोश देखा तो मालूम हुआ कि सगी बहन को कहते हैं। मुझे कुछ हैरत हुई। वह लड़की तो प्रेमीजी की बहन नहीं लगती थी। न रंग-रूप से और न चाल-ढाल से, और यद्यपि वह बड़ी प्यारी शुद्ध हिन्दी बोलती थी, पर थी पंजाबिन, क्योंकि उसके नाम के साथ उसकी उपजाति जुड़ी हुई थी, जो उसके नाम का अंग थी और उसके पंजाबी होने की चुगली खाती थी। शायद वे लोग काफ़ी दिनों से दिल्ली में बसे हुए थे, इसी कारण वह इतनी शुद्ध हिन्दी बोलती थी और प्रेमीजी ने भी शायद अतिरिक्त स्नेह ही से उसे 'सहोदरा' कहा था।

बहरहाल यह शब्द मुझे बहुत अच्छा लगा। मेरे तो कोई बहन न थी। होती तो मैं भी उसे 'सहोदरा' कहता। लेकिन इस शब्द का उपयोग करने से मैं बाज़ नहीं आया। यह और बात है कि उससे बात नहीं बनी।

बात यह हुई कि वह लड़की वहाँ आठ-दस दिन रही। यों तो 'भारती' के सम्पादक होने के नाते प्रेमीजी के यहाँ हिन्दी लेखक और पत्रकार आते ही रहते थे, पर उन दिनों उनका आना-जाना कुछ ज्यादा ही बढ़ गया। उस लड़की के पास ढेर-से रंग-बिरंगे छोटे-छोटे रेशमी टुकड़े थे, जिन्हें बड़ी दक्षता से चारों तरफ़ मोड़कर रेशमी तागे की तुरपन कर उन्हें रूमालों की शक्ल देकर उनपर कोई फूल-पत्ती बना, एक कोने में अपना नाम लिखकर अपने आने वाले सहोदरों को बड़ी उदारता से भेंट कर देती थी। प्रेमीजी के यहाँ उन दिनों कोई ही साहित्यकार ऐसा आया होगा, जिसे उस लड़की ने अपनी यादगार के तौर पर रूमाल भेंट न किया हो।

उन दिनों उस कमरे में इतने लोग आए, कविता-पाठ के अलावा हास-परिहास का इतना बाज़ार गर्म रहा कि सामने वाले दकियानूसी पंजाबी परिवार को ख़ासा भ्रम हो गया और एक सुबह सामने के मालिक मकान पड़ौसियों को लेकर नीचे आ इकट्ठे हुए। मैं भी हिन्दी वालों में बैठकर हिन्दी बोलने लगा था। मैंने उन लोगों को हिन्दी में प्रेमीजी का महत्त्व समझाना चाहा और बताया कि वे उस लड़की को अपनी सहोदरा समझते हैं। मुझे इतना याद है कि यह शब्द मैंने कई बार इस्तेमाल किया, किन्तु वे मूर्ख इस शब्द को सुनकर और भी बिफर गए और वाही-तबाही बकने लगे। तब मैंने शुद्ध पंजाबी में उन्हें सारी स्थिति समझाई और शान्त किया।

एक दिन उस लड़की ने बड़ी कृपा कर मुझे भी एक रूमाल देना चाहा। पर मैंने उसे लेने से इन्कार कर दिया। शायद इतने सारे लोगों की 'सहोदरा' को अपनी बहन अथवा प्रेमिका मानना मेरे अहं को स्वीकार नहीं हुआ। हाँ, कुछ महीने बाद उन्हीं रूमालों को लेकर मैंने एक कहानी लिखी — 'माया'! जो टेकनीक के लिहाज़ से शायद मेरी पहली सफल कहानी है। बहुत वर्ष बाद इलाहाबाद आने पर यशपाल ने बताया कि शादी के बाद न केवल वह स्थिर हो गई थी, वरन् ख़ासी सख़्त क़िस्म की पतिव्रता भी हो गई थी। यशपाल की अत्यन्त मनोरंजक कहानी 'धर्मयुद्ध' उसी लड़की के भाई और परिवार को लेकर लिखी गई है।

बच्चन से 'मधुशाला' की प्रतिलिपि लेकर (अथवा प्रतिलिपि करने की अनुमति लेकर, क्योंकि तब तक बच्चन की कोई भी पुस्तक न छपी थी) उस लड़की ने उन्हें कितने रूमाल दिए, यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन लाहौर के हिन्दी प्रेमियों को रूमालों के साथ-साथ वह बच्चन का नाम दे गई और साथ ही उनकी कविताओं के प्रति प्रबल अनुराग। क्योंकि यह सच है कि लाहौर से उसके जाने के बाद वहाँ के साहित्यकारों की बातचीत में बार-बार बच्चन का नाम आने लगा और जब-जब उनकी कोई रचना छपती, उसकी विशद चर्चा होती।

मैंने उस चंचला से रूमाल तो नहीं लिया, लेकिन बच्चन के प्रति वह मुझे जिज्ञासा ज़रूर दे गई। मैं मान लूँ कि 'मधुशाला' मुझे अच्छी नहीं लगी थी। शायद उस वातावरण के कारण जिसमें मैंने उसकी रुबाइयाँ सुनीं अथवा उस कापी में पढ़ी थीं या शायद इस कारण कि न केवल उमर ख़ैयाम की रुबाइयाँ मैंने अंग्रेज़ी में पढ़ रखी थीं, वरन् फ़ारसी रुबाइयों का अनुवाद उर्दू रुबाइयों में भी पढ़ रखा था और मुझे 'मधुशाला' में कोई नयापन नहीं लगा। फिर बच्चन की जिस चीज़ को रुबाई कहा जाता था, वह मुझे रुबाई नहीं लगती थी। या फिर शायद उनके लिए मेरा मन उमर ख़ैयाम को 'क्रेडिट' देता था, बच्चन को नहीं। जो भी हो, चूँकि वह लड़की बच्चन के प्रति मेरे मन में जिज्ञासा भर गई, इसलिए इस नाम के नीचे जो भी कविता छपी, मैंने उत्सुकता से पढ़ी और जल्द ही मैंने पाया कि मैं उस लड़की से कहीं ज़्यादा बच्चन का शैदाई हो गया हूँ। क्योंकि उसपर तो शायद काव्य से ज़्यादा बच्चन के स्वर अथवा व्यक्तित्व का जादू होगा, जब कि मैं तो उन कविताओं को पढ़कर ही मुग्ध हो गया।

मुझे तारीखें याद नहीं, न यह स्मरण है कि बच्चन की कौन-सी कविता मैंने पहले पढ़ी। हलका-सा इतना आभास है कि किसीने (शायद सम्पादक 'विशाल भारत' ने) बच्चन की कविताओं पर वासनामयी होने का आरोप लगाया था और बच्चन ने 'कवि की वासना' नाम से कविता ही के माध्यम से बड़ा ज़ोरदार जवाब दिया था और मुझे वह कविता बहुत अच्छी लगी थी। इतनी अच्छी कि फ़ौरन ज़बानी याद हो गई थी। फिर 'विशाल भारत' के किसी अंक में (जहाँ पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी प्रायः निराला काव्य की दुर्गमता और दुरूहता के खिलाफ़ जिहाद बोले हुए थे) बच्चन के गीतों की सरलता और सहजता पर दो-दो लेख छपे थे और साथ ही बच्चन की प्रसिद्ध कविता 'मिट्टी का प्याला' छपी थी, जो मुझे और भी अच्छी लगी थी। उस ज़माने की अन्य

कविताओं में 'इस पार : उस पार', 'वह पगध्वनि', 'लहरों का निमन्त्रण' मेरी प्रिय कविताएँ थीं। --'प्रिय कविताएँ थीं', यह वाक्य उस उन्माद को, जो इन कविताओं को लेकर दिमाग़ पर छाया रहता था, जरा भी व्यक्त नहीं करता। मेरी स्मरण-शक्ति लड़कपन ही से बहुत अच्छी है। दो-चार बार पढ़ने पर ही मुझे अपनी प्रिय कविता याद हो जाती है और 'मधुबाला' और 'मधुकलश' की न जाने कितनी कविताएँ मुझे कण्ठस्थ थीं और मैं पागलों की तरह उन्हें गाया और गुनगुनाया करता था। न जाने इन कविताओं को कितनी बार एकांत में गाया और गुनगुनाया है, कितनी बार दूसरों को सुनाया है और इनमें कितना रस पाया है। इतना जानता हूँ कि महादेवी वर्मा के गीतों से परिचय पाने से पहले बच्चन मेरे अकेले प्रिय कवि थे।

तब यह आश्चर्य की बात नहीं कि जब तीन वर्ष के बाद मुझे इलाहाबाद जाने का सुयोग मिला तो बच्चन को एक नज़र देखने और उससे बात करने की बड़ी लालसा मेरे मन में थी।

लाहौर बैठे-बैठे मेरे जैसे साधनहीन बेकार युवक के लिए इलाहाबाद की यात्रा करने की सुविधा पाना विलायत जाने की सुविधा पाने के बराबर था। हुआ यह कि अचानक १९३६ के उत्तरार्ध में मैं कवि हो गया। मई में मैंने डिस्टिंक्शन से लॉ पास किया (१९३४ ही में मैंने क़ानून में दाखिला लिया था) लेकिन जिसके कारण मैंने लॉ किया था, वह मेरी पत्नी यक्ष्मा से खाट पर पड़ गई। बीमार तो वह १९३५ में ही हो गई थी, पर उसे यक्ष्मा है, इसका ज्ञान नहीं था। मैं कभी उर्दू में ग़ज़लें लिखा करता था, पर १९३१ के बाद मैंने एक भी ग़ज़ल न लिखी थी और कहानियाँ लिखने लगा था। अचानक एक दिन उसके बिस्तर के पास बैठे-बैठे मैंने एक ग़ज़ल लिख डाली। लॉ करने के बाद मेरा इरादा कम्पीटीशन में बैठने का था, पर यक्ष्मा का नाम सुनकर मेरा सारा उत्साह ख़त्म हो गया। अन्तिम दिनों में मेरी पत्नी को कोई तकलीफ़ न हो, इसलिए लाहौर जाकर मैंने एक हिन्दी दैनिक में रात की नौकरी कर ली। प्रेमीजी का साथ था। उनसे मैंने एक छन्द सीखा, मात्राएँ गिनना सीखा और हिन्दी में कविता करने लगा। पहली कविता लिखी -- 'विदा!' वह मैंने 'विशाल भारत' को भेजी। आशा नहीं थी, पर वह अगले ही अंक में छप गई। दूसरी भी छपी और तीसरी तो 'विशाल भारत' के पहले पृष्ठ पर छपी। मेरी पत्नी का देहान्त १९३६ के दिसम्बर में हो गया। नौकरी छोड़कर मैं अपने भाई के पास अबोहर चला गया और उस वक़्त जब मैंने केवल छह कविताएँ लिखी थीं, मेरे पास गोरखपुर के अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन का निमन्त्रण पहुँचा और मैं तत्काल तैयार हो गया। किसी अखिल भारतीय हिन्दी कवि-सम्मेलन में भाग लेने से कहीं ज़्यादा अपने प्रिय कवियों से मिलने का उत्साह मेरे मन में था। गोरखपुर जाते वक़्त मैं पाठकजी (श्री वाचस्पति पाठक) के यहाँ ठहरा। वे बहुत बीमार थे। मुझे याद नहीं, उन्होंने मुझे किसके साथ गोरखरपुर भेजा। वापसी पर मैं दस-पन्द्रह दिन भगवतीप्रसाद वाजपेयी के घर दारागंज में ठहरा और बच्चन से मिला।

मुझे उस पहली मुलाक़ात की बहुत धुँधली-सी याद है। मुट्ठीगंज के एक तंग-से दो-मज़िले मकान का एक छोटा-सा आयताकार कमरा। इतना याद है कि वहाँ एक मेज़-कुर्सी भी थी और एक आरामकुर्सी भी। मेरे साथ कौन गया और वहाँ कौन था, मुझे कुछ भी याद नहीं। इतना स्मरण है कि जब हम कमरे में पहुँचे थे तो बच्चन आरामकुर्सी पर बैठे थे। वे कुछ बीमार थे। उनकी सूरत का भी धुँधला-सा नक्श मन पर है – साँवला, दुबला चेहरा, कल्ले किंचित् धँसे और जबड़े की हड्डियाँ कद्रे उभरी हुईं, मोटे सेंसुअल होंठ, चौड़ा माथा और लम्बे-काले घुँघराले, लेकिन रूखे बाल जिनके कारण चेहरा कुछ अतिरिक्त दुर्बल लगता था। पहली नज़र में बच्चन मुझे बहुत अच्छे लगे – लाउबाली, मस्त, फक्कड़, वेपरवाह – जो तस्वीर कि मैंने मन में उनकी बना रखी थी। यह हो सकता है कि गोरखपुर के कवि-सम्मेलन में मैंने उन्हें देखा और सुना हो और वापसी पर इलाहाबाद आकर मिला होऊँ, पर गोरखपुर में उनके संदर्भ में कुछ भी याद नहीं। तीन सौ से ऊपर कवि उस सम्मेलन में पहुँचे थे और अधिकांश को पढ़ने का अवसर भी न मिला था और वे खाते-पीते पान चबाते पंडाल के बाहर घूमते थे। उस कवि-सम्मेलन की वह बात तो याद है कि जब 'चोंच' एक घण्टे से जमे हुए थे और श्रोता उन्हें उठने न देते थे तो ठाकुर श्रीनाथसिंह ने (मेरे ही सुझाने पर) सहसा यह घोषणा कर दी थी कि अब सिर्फ़ 'चोंच' ही पढ़ेंगे तो सहसा 'चोंच' स्वयं ही उठकर चले गए थे। तब श्रीनाथसिंह ने एक के बाद एक कई कवियों को, जिसमें बच्चन का नाम भी था, बुलाया था और कोई तैयार न हुआ था तो उन्होंने मेरा ही नाम 'एनाउंस' कर दिया था (क्योंकि मैं काफ़ी वक़्त से उन्हें परेशान कर रहा था) और जब मैं उठा था तो मुझे लगा था, जैसे मेरे अंगों को फ़ालिज मार गया है लेकिन दूसरे कवियों की तरह बैठकर पढ़ने की बजाय मैंने मंच पर आगे बढ़, लोई को कंधे पर डालते हुए, खड़े-खड़े उर्दू कवियों के हाव-भाव से कविता पढ़ी थी और न केवल वह जम गई थी, बल्कि मैंने एक और कविता भी सुनाई थी। बच्चन ने कब पढ़ा, मुझे याद नहीं। सिर्फ़ मुट्ठीगंज के उस पुराने मकान के किंचित् कम रोशन कमरे और उसमें कुछ बीमार बच्चन की याद है। यह भी याद है कि उन्होंने अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में बताया था कि वे रोज़ बाक़ायदगी से लिखते हैं। मुझे कुछ परामर्श भी दिए थे। शायद मेरी एक-आध कविता भी सुनी थी और मुझे शब्द इधर-उधर करके उन्हें छन्द में 'फ़िट' करना सिखाया था। मैं मुट्ठीगंज में उनसे मिलकर लौटा था तो बड़ा प्रसन्न था।

बच्चन से मेरा परिचय घनिष्ठ नहीं हुआ। चन्द पत्रों का आदान-प्रदान (मेरी फ़ाइल में उनके तीन पत्र और उनके हाथ के लिखे 'निशा-निमन्त्रण' के दो गीत हैं।) और पाँच-दस संक्षिप्त मुलाक़ातें। इनमें हिंदी साहित्य सम्मेलन के शिमला अधिवेशन की याद आज भी ताज़ी है। हम चोर बाज़ार की धर्मशाला के ऊपर नये बने सिनेमा हॉल में ठहरे थे। हॉल के लम्बे-चौड़े लकड़ी के फ़र्श पर बीचोंबीच निराला नंगे बदन तहमद लगाए सामने शराब की बोतल रखे अपने बिस्तर पर बैठे थे और सबको चिढ़ाकर पी रहे थे। बच्चन, सुमन, यशपाल स्टेज पर बिस्तर जमाए थे। बच्चन का काव्य और उनकी मस्ती

अपने शबाब पर थी। कवि-सम्मेलन में स्वागत मंत्री और 'निराला' में झगड़ा हो गया था। स्वागत मन्त्री ने अपने भाषण में नये कवियों पर कुछ छींटे कस दिए थे और निराला ने क्रोध में उठकर घोषणा की थी कि हिन्दी का कोई नया कवि यहाँ कविता नहीं पढ़ेगा। सब नये कवियों ने बाइकाट कर दिया था और बच्चन ने परम चंचलता से रेडियो पर होने वाले कार्यक्रम को भी भंग करने का प्रयास किया था—यह कहकर कि वे कविता पढ़ेंगे, माइक हाथ में लेकर उन्होंने घोषणा की थी कि नये कवि सम्मेलन का बाइकाट कर रहे हैं, और वातावरण में खासी बदमज़गी और तनाव आ गया था।

लेकिन बच्चन की उस चंचलता से कहीं ज़्यादा मेरे मन पर जाकू की उस सैर की याद है, जब हम--बच्चन, सुमन, यशपाल, मैं और चन्द दूसरे मित्र जाकू की सैर को गए थे, हँसते-हँसाते, एक दूसरे का टखना खींचते और मौज मनाते। जाकू की चोटी पर पहुँचकर सुमन ने कविताएँ सुनाई थीं और उनके अनुरोध पर लगभग झूमते हुए बच्चन ने अपना गीत :

'मधुवर्षिणि मधु बरसाती चल'

गाया था और सब झूम-झूम उठे थे। कुछ अजीब-सी मस्ती और फक्कड़पना बच्चन के स्वभाव में था उन दिनों, लेकिन १९४१-'४२ के बाद धीरे-धीरे उनकी वह मस्ती और फक्कड़ई दब गई और फिर जब-जब मैं बच्चन से मिला, कभी अपनापे का वह एहसास नहीं हुआ। हो सकता है, इसमें मेरी ही भावप्रवणता का दोष हो और यह भी हो सकता है कि बच्चन की ज़िन्दगी का ही ढर्रा बदल गया हो और दूसरे प्रभावों और दबावों के कारण उन्होंने अपने आप को सायास साध लिया हो।

लेकिन आज जब मुझे हिन्दी में लिखते हुए तीस-बत्तीस वर्ष होने को आए हैं, मुझे यह मानने में संकोच नहीं कि जिन दिनों मैंने उर्दू में लिखते-लिखते हिन्दी में लिखने का फ़ैसला किया था, बच्चन की सरल, सुगम, मधुर, रूमानी कविताओं ने हिन्दी की ओर मेरे आकर्षण को द्विगुणित कर दिया था और हिन्दी सीखने में भी मेरी सहायता की थी। उन्हींकी कविताओं के माध्यम से मैंने हिन्दी सीखी और उन्हींके माध्यम से मैं महादेवी, पंत, निराला और बाद में अज्ञेय और उनके परवर्त्ती कवियों तक पहुँचा। आज यद्यपि उन कविताओं को पढ़कर मन पर उन्माद नहीं छाता और न ही दिन-रात उन्हें पागलों की तरह गुनगुनाया जाता है, पर उन दिनों की याद आज भी ताज़ा है और जब-जब बच्चन का नाम आया है अथवा उनसे भेंट हुई है, मैंने उन पहली मुलाक़ातों से धूल-गर्द पोंछकर उन्हें नया बना लिया है। यह बात मानने में भी मुझे संकोच नहीं कि आज भी 'मधुबाला' और 'मधुकलश' की एक-आध कविता और 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकांत संगीत' की कुछ पंक्तियाँ मुझे याद हैं और कभी, किसी उदास क्षण में कोई न कोई पंक्ति अनायास होंठों पर आ जाती है।

मेरी यादों में

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर

नगर—दिल्ली
स्थान—लालक़िले का मैदान
समय—१९३४
अवसर—हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन

पंडाल खचाखच भरा था। कवि-सम्मेलन हो रहा था। महादेवीजी अध्यक्षा थीं। उन दिनों कवि गाया नहीं करते थे, कविता सुनाया करते थे और लाउड स्पीकर सुलभ नहीं थे।

जो कवि मंच पर आता, एक नये हुल्लड़ को जन्म देता और खिसियाकर बैठ जाता। और तो और वयोवृद्ध श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'चुभते चौपदे' भी लोगों को चुप न कर सके। कवि-सम्मेलन होली का हुड़दंग बना हुआ था, पर दोष किसका था? लोग वहाँ कविता सुनने आए थे, कवि लोग कविता सुनाने आए थे। वे सुना भी रहे थे कविता, पर सुनी कहाँ जा रही थी? और जब कानों में कुछ न पड़े, तो जीभ उनकी मदद करेगी ही। बस, कान पुकार रहे थे, जीभ फुंकार रही थी।

मंच पर सलाह-मशविरा जारी था। कवि जल्दी-जल्दी बदले जा रहे थे, पर समस्या तो थी, समाधान न था। एक तरुण उठकर स्वयं मंच पर आया और गहरे आत्म-विश्वास से उसने जनता को निहारा, दोनों हाथ फैलाकर उसने जनता को आश्वासन दिया और दोनों हाथों को दोनों तरफ़ फैलाए-फैलाए, जैसे वह चील के उड़ने का अभिनय कर रहा हो, उसने अपनी कविता पढ़नी आरम्भ की।

भाव रसीले, शब्द सीधे-सादे और पढ़ने का ढंग यह कि स्वर में भावना के अनुसार उतार-चढ़ाव और छन्द की पंक्ति के अन्तिम शब्द में हल्का-सा तरन्नुम! लोग शांत हो गए थे, कविता जम गई, काफ़ी समय उस तरुण ने लिया, काफ़ी रस उसने श्रोताओं को दिया।

ये बच्चनजी ही थे, यह मेरे लिए उनका प्रथम दर्शन था। यह उनका 'मधुशाला' का युगारम्भ था। इसके बाद उन्हें 'निशा-निमंत्रण', 'एकांत संगीत' और 'मिलन-यामिनी' के गीतों में बहुत बार और बार-बार कवि-सम्मेलनों में हज़ारों-हज़ारों के कलेजे लूटते देखा। तरीक़ा उनका वही रहा कि भाव रसीले, शब्द सीधे-सादे और पढ़ने का ढंग यह कि स्वर में भावना के अनुसार उतार-चढ़ाव और छन्द की पंक्ति के अन्तिम

शब्द में हल्का-सा तरन्नुम।

वे पिछली चौथाई शताब्दी में श्रोताओं के सबसे अधिक प्रिय कवि रहे हैं। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व की विशिष्टता क्या है ? छायावाद के युग में ऐसे कम थे, जिनका अपना दर्द छन्दों में फूटा। ऐसे गली-गली थे, जो दूसरों का; साफ़-साफ़ कहूँ, कल्पित दर्द बखेरते थे और इस तरह छाया बनकर जी रहे थे। पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के साथ बच्चनजी ही थे, जो किसी और की तो क्या, अपनी भी छाया नहीं बने—एक यथार्थ अस्तित्व बने रहे।

क्या यह उनका अपने में सिमटना था ? नहीं, यह अपने में सिमटना नहीं था। यह था यह कि हृदय में धड़कनें अपनी हों, पर उनमें 'स्व' की पूर्ण चेतना के साथ 'पर' की पूरी अनुभूति हो। यह अनुभूति छन्दों में सुनाई तो हमेशा ही दी, पर इसकी तीव्रता का स्पर्श मिला 'बंगाल का काल' में।

उम्र के असर से कौन बचा है ? वे भी नहीं बचे। जवानी भावुक है, महसूस करती है। प्रौढ़ता यथार्थवादी है, सोचती है। वे भी सोचने लगे। इस सोच ने उनके छन्द बदले, रंग बदला, क्षेत्र बदला, वातावरण बदला, दिशा बदली, पर खरापन, सादापन और सच्चापन ज्यों का त्यों रहा।

क्या यह बदलना बच्चनजी की कमज़ोरी थी ? हाँ, कमज़ोरी तो थी ही। यह कमज़ोरी उनमें न होती, तो वे विश्वविद्यालय से भारत सरकार के विदेश विभाग में और फिर संसद् में कैसे जाते ? यह कमज़ोरी उनमें न होती, तो वे इलाहाबाद से दिल्ली न आकर राँची, आगरा या बरेली के पागलखाने में पहुँचते। क्यों ? क्योंकि उम्र का असर सिर्फ़ पागल पर ही नहीं पड़ता।

यह बदल क्या थी ? यह बदल यह थी कि बच्चनजी जीवन के गायक थे, जीवन के व्याख्याता, जीवन के आलोचक हो गए।

यह बच्चनजी की प्रगति थी या अगति ? मैं इस प्रश्न पर किसीकी राय को प्रभावित नहीं करना चाहता, पर एक साहित्य-समालोचक के रूप में नहीं, एक पाठक-नागरिक के रूप में मुझे अपनी सम्मति प्रकट करने का अधिकार तो है ही कि यह अगति नहीं, प्रगति ही है। इस सम्मति का आधार यह है कि उनके साथ उनके छन्द बदले, रंग बदला, क्षेत्र बदला, दिशा बदली, वातावरण बदला, पर खरापन, सादापन और सच्चापन नहीं बदला, ज्यों का त्यों रहा।

मैं तो इसे बहुत महत्त्व देता हूँ। यहाँ तक कि वे न बदलते, तो मैं मान लेता कि बच्चनजी कुछ नहीं हैं। क्यों ? वे स्वतन्त्र भारत की राजधानी में थे, वहाँ कई मंज़िल का योजना-भवन है और विदेश के शासनाध्यक्षों का रोज़ स्वागत होता है। सब अतिथि भारत की महान् प्रगति के गुण गाते हैं। फिर बच्चनजी दिल्ली में ही नहीं थे, दिल्ली-स्वर्ग के इन्द्र प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू के विदेश विभाग में थे, जहाँ स्वप्न ही सत्य हो गए थे और सत्य ही स्वप्न। सबकी निगाहें गुम्बदों पर थीं, कलश देखना धर्म था, नीचे आँख करना पाप। बच्चनजी ने वहाँ नींव को देखा, उसमें उपजती-बढ़ती दीमकों को देखा, क़ीमती सत्यों को कुतरते चूहों के बिल देखे और सेंध लगाते चोरों को भी देखा।

वे चीख पड़े, उन्होंने हुंकारा और दुत्कारा। क्या बच्चनजी की क़लम उस समय युग की आलोचना न कर प्रेम के गीत गाती, तो यह उनके बड़प्पन की बात होती? इसी पृष्ठ-भूमि में मैं कहता हूँ—वे न बदलते, तो मैं मान लेता कि बच्चनजी कुछ नहीं हैं।

बच्चनजी साहित्यकार हैं, बच्चनजी मेरे बन्धु हैं। साहित्यकार दूर से देखा जाता है, दूर से सुन्दर लगता है, पर बन्धु तो पास से भी देखा जाता है। दूर बजता हर ढोल सुहावना लगता है, पर पास से उसका ताल सुख देता है, तो घोष कान फोड़ता है। बच्चनजी अपने समय के सबसे लोकप्रिय कवि रहे हैं। वे दूर से अच्छे लगेंगे ही, पर जीवन के यथार्थ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—क्या वे पास से भी उतने सुन्दर लगते हैं? मतलब यह कि वे दूर के ढोल हैं या पास के मृदंग भी?

मेरे नगर की एक साहित्यिक संस्था का प्रथम वार्षिक उत्सव होने वाला था। कुछ विरोधियों ने उसे असफल करने का बीड़ा उठा लिया। कर्ता-धर्ता नये थे, उनमें चाव था, शक्ति न थी। घबराकर वे मेरे पास आए—"बच्चनजी आ जाएँ तो हमारा उत्सव सफल हो सकता है।"

मैंने बच्चनजी को पत्र लिखा—"आप उस दिन शाम को आ जाएँ, तो कुछ तरुण हृदय टूटने से बच सकते हैं।" उन्होंने स्वीकृति भेज दी। ठीक समय पर वे आए, उनका पुत्र अमिताभ, दवा की शीशी और एक अन्य सज्जन साथ थे—माथे पर कपड़ा लिपटा हुआ था। उन्हें उस समय भी १०१ डिग्री बुखार था—"तेजीजी (पत्नी) ने बहुत मना किया, पर आपका वाक्य मेरे पास धरोहर था कि आप आ जाएँ, तो कुछ तरुण हृदय टूटने से बच सकते हैं।"

अपने कष्ट के समय भी दूसरों का हृदय टूटने की चिंता जिसे आकुल करती है और ऐसे क्षणों में भी जिसे अपने वचन-पालन का उत्तरदायित्व प्रेरित करता है, वह कैसा आदमी होता है? बच्चनजी वैसे ही आदमी हैं।

एक मित्र संकट में थे। आत्माभिमानी ऐसे कि मर जाएँ, पर मुँह न खोलें। संकट ऐसा कि उसे सर्वनाश कह सकते हैं। वह भी उनके एक आत्मीय के विश्वासघात के कारण उपस्थित। किसी तरह मुझे उसका पता चला और यह भी कि आठ सौ रुपये हों, तो वह संकट टल सकता है। सारी शक्ति लगाकर मैं छः सौ रुपये का प्रबन्ध कर पाया। आगे कुछ भी असम्भव। मुझे पता था कि वे मित्र बच्चनजी के साथ भी सम्पर्क रखते हैं। मैंने बच्चनजी को लिखा, "आप २०० दे दें, पर यह बात गुप्त रखें; क्योंकि उन्हें यह पता चला कि उनके संकट की बात मैंने आपसे कही है, तो वे चोट खाएंगे और शायद रुपये लेने से ही इन्कार कर देंगे।"

लौटती डाक से रुपये आ गए, साथ में पत्र भी, "यह बात सदा गुप्त रहेगी। मतलब तो संकट टलने से है। क्या और रुपये भेजूँ?"

बिना प्रतिदान की आशा के जिनका हाथ समय पर आगे बढ़ता है, वे कैसे आदमी होते हैं? बच्चनजी वैसे ही आदमी हैं। मैंने ऐसे अनेक यशस्वी साहित्यकार देखे हैं, जिनका साहित्य उनसे छिन जाए, तो वे फिर कुछ नहीं रहते। बच्चनजी उनमें नहीं हैं। वे अपने साहित्य से अलग भी बहुत कुछ हैं—प्यार के लायक और इज्ज़त के क़ाबिल!

कुछ मधुर संस्मरण

अक्षयकुमार जैन

दिसम्बर १६३३ की एक दोपहर।

काशी विश्वविद्यालय के बिड़ला छात्रावास के जिस कमरे में मैं रहता था, उसके दूसरी ओर के कमरे से मधुर कण्ठ से कविता-पाठ का धीमा स्वर सुनाई पड़ रहा था। झट से बीच की खिड़की का पर्दा जो मैंने हटाया तो मेहरोत्राजी के कमरे में बैठे घुँघराले बालों वाले उस युवक कवि ने अपना मुँह बन्द कर लिया। मेहरोत्राजी ने कहा कि यदि कविता सुनने का इतना ही शौक है तो शाम को शिवाजी हाल में पहुँचना।

और शाम को शिवाजी हाल में वही युवक हिन्दी की रुबाइयाँ सुना रहा था। धीरे-धीरे नवयुवकों का ही नहीं, प्रो० मनोरंजनप्रसाद सिन्हा तथा बड़ों का भी सिर लय के साथ-साथ हिलने लगा। कविता की अन्तिम पंक्तियाँ दुहराई जाने लगीं। इससे पूर्व कवि-सम्मेलनों में जाने का अवसर भी मुझे मिला था, पर उस दिन कुछ ऐसा नशा छाया जो पहले कभी अनुभव न किया गया था। उस युवक कवि के स्वर में अपार आकर्षण था और ऐसा लगता था कि हमारे मन की बात कही जा रही है।

वह युवक कवि थे भाई बच्चन और उन्होंने जिस कविता का पाठ किया था, वह थी 'मधुशाला'। उस समय की मन की बात कहना कुछ मुश्किल है। ऐसा लग रहा था कि बच्चन भाई हमारे मन की बात कह रहे थे। शब्द उनके थे, बात हमारी थी; मीठे ढंग से, पर साहस के साथ कही गई थी।

उस शाम कविता सुनते-सुनते मन नहीं भरा था। अगले दिन फिर कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ। प्रो० मनोरंजनप्रसाद सिन्हा ने सभापतित्व किया। उस दिन हम सैकड़ों नहीं, हज़ारों युवक कागज़-पेंसिल लेकर गए और सुन-सुनकर रुबाइयाँ लिख डालीं। मुझे याद है, महीनों तक वे रुबाइयाँ विश्वविद्यालय के कमरे और खेल के मैदान में सुनी जा सकती थीं। तब या तो राष्ट्रीय गीत गाए जाते थे या फिर 'मधुशाला'।

मुझे याद है, 'मधुशाला' के बारे में दो तरह की प्रतिक्रियाएँ—एक तो युवक थे जो उसे गाने और सुनने को लालायित रहते थे; दूसरे थे कुछ आलोचक जो कवि को पियक्कड़ मानते थे और उनका आरोप था कि बच्चनजी अपनी उस कविता के द्वारा शराबनोशी का प्रचार कर रहे हैं। आलोचकों का स्वर तो समय के साथ मन्द पड़ गया। सच्चाई उजागर होकर रही, पर झूमने वालों की कमी आज भी नहीं है —

कितने साक़ी अपना-अपना
काम ख़तम कर दूर गए,

कितने पीनेवाले आए,
किन्तु वही है मधुशाला।

१९४० की एक शाम।

एटा में विराट् कवि-सम्मेलन था। स्थान था आर्यसमाज मन्दिर। संयोग से मैं भी वहाँ उपस्थित था। संयोजक चिंतित थे। आर्यसमाज के एक नेता ने गम्भीर चिंता व्यक्त की थी कि समाज मंदिर में सिगरेट-पान तक नहीं खा-पी सकते और संयोजक हैं कि वहाँ से शराब का प्रचार कराना चाहते हैं। मैंने कहा कि आप सुन भर लीजिए, फिर जो कहना-करना हो, कीजिए। वे ही वकील साहब बाद को 'मधुशाला' सुनकर झूम रहे थे और कह रहे थे— कवि ने साफ़ तो कहा है—

भावुकता अंगूर लता से
खींच कल्पना की हाला
कवि साक़ी बनकर आया है
भरकर कविता का प्याला
कभी न कण भर ख़ाली होगा
लाख पिएँ, दो लाख पिएँ।
पाठकगण हैं पीने वाले
पुस्तक मेरी मधुशाला।

फिर अनेक स्मृतियाँ हैं अलीगढ़ कवि-सम्मेलन की, इन्दौर सम्मेलन की और न जाने कहाँ-कहाँ की। पर २३ जनवरी, १९५९ की एक याद धुँधली नहीं पड़ी। राजधानी में गणतंत्र दिवस समारोह का श्रीगणेश होता है लालक़िले के कवि-सम्मेलन से। उस सम्मेलन में, जैसा कि अक्सर होता है, भाई बच्चन से 'मधुशाला' की माँग की गई और उन्होंने उसका पाठ भी किया। वहाँ मेरा नवयुवक पुत्र हृदय, जो सम्भवतः उस समय उसी उम्र का था जिस उम्र का मैं १९३३ में था, कुछ उसी मुद्रा में, जिसमें २५ साल पहले मैं बैठा था, तन्मयता और मनोयोग से बच्चनजी का काव्य-पाठ सुन रहा था और साथ-साथ उनकी पंक्तियाँ गुन-गुना रहा था। तभी मैंने भाई बच्चन से कहा कि आपकी 'मधुशाला' और उसके साक़ी दोनों पर समय की गति का प्रभाव नहीं पड़ा। जितने आकर्षक और मनमोहक आप पिताओं को लगते थे उतने ही आप पुत्रों को भी लगते हो। भाई बच्चन की कविता सुनते-सुनते हम बूढ़े हुए जा रहे हैं, पर आश्चर्य है कि वे रूप में अब भी 'बच्चन' ही बने हैं और उनकी 'मधुशाला' में वही ताजगी है।

'मधुशाला' की लोकप्रियता का रहस्य बच्चनजी की कविता और उनके पाठ दोनों में है। एक ने उन्हें कवि-सम्मेलनों में आकर्षण का केन्द्र बनाया और दूसरे ने उनकी इस कृति की दो लाख से अधिक प्रतियाँ जनता के बीच पहुँचाईं।

मेरे सहपाठी

प्रकाशचन्द्र गुप्त

सन् १९२७ में, जब मैंने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में बी० ए० कक्षा के छात्र की हैसियत से प्रवेश लिया, बच्चन मेरे सहपाठी थे। सन् १९२९ में हमने अँग्रेज़ी में एम० ए० किया। मैं बच्चन को पहचानता था, लेकिन मेरी उनसे घनिष्ठता न थी। सन् १९३० में राष्ट्रीय आन्दोलन की लहर में बच्चन बह गए और क्रमशः कवि के रूप में उत्तरोत्तर अधिक प्रतिष्ठित होते चले गए। मुझे बच्चन की कविताएँ बहुत पसन्द थीं। उनमें एक सहज विद्रोही रूप था, जिसकी अभिव्यक्ति सरल और मधुर पंक्तियों में मिलती थी। इन कविताओं को अधिक सुघड़ रुचि के (सोफ़िस्टिकेटेड) आलोचक पसन्द न कर पाते थे। इस प्राथमिक चरण की अनेक कविताएँ मुझे अब भी बहुत प्रिय हैं : 'इस पार प्रिये, मधु है, तुम हो···', 'वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी', 'मधुशाला' के अनेक छन्द, 'मन्दिर-मस्जिद वैर कराते ··' आदि।

मैं सन् '२७ के बच्चन का स्मरण करता हूँ, तो एक लम्बे-से, छरहरे युवक का चित्र स्मृति में उभरता है। उनके बाल लम्बे थे और सिर पर वे किस्ती की फ़ैल्ट टोपी पहनते थे। बाद की स्मृतियाँ अधिक सुस्पष्ट और मुखर हैं : रुखे, अस्त-व्यस्त बाल; उनींदी-सी आँखें; मधुर, सधा स्वर; कविता के नशे में डूबा सम्पूर्ण व्यक्तित्व।

सन् १९३१ में मैं सेन्ट जोन्स कॉलिज में अध्यापक नियुक्त हुआ। वहाँ मैंने १९४१ तक अध्यापन कार्य किया। इस बीच बच्चन पर दो लेख लिखे। एक तो सेन्ट जोन्स कॉलिज की पत्रिका में छपा था; दूसरा 'हंस' के रेखाचित्रांक में प्रकाशित हुआ था। दूसरे निबन्ध के लिए मुझे स्वयं बच्चनजी ने कुछ अमूल्य सामग्री दी थी। उन्हींकी सूचना से मुझे ज्ञात हुआ कि उनका जन्म मुहल्ला चक में हुआ था।

जब काशी में बच्चनजी ट्रेनिंग कॉलिज में बी० टी० कर रहे थे, तब अनेक वर्ष बाद उनसे साक्षात्कार हुआ। उन्हींके मुख से उनकी अनेक कविताएँ तभी मैंने सुनीं। सन् १९२९-'३० के लगभग पन्तजी अपनी कविताओं का सस्वर पाठ करते थे। उनका काव्यपाठ सुनकर श्रोता को अनिर्वचनीय सुख मिलता था। लगभग वैसा ही सुख मुझे बच्चनजी और नरेन्द्र शर्मा के कविता-पाठ से मिलता है।

'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' ने बच्चन को काव्य की ऊँची भूमि पर प्रतिष्ठित किया। काल-व्याध ने उनका हृदय कठोर शर से बेधकर अखंड काव्यस्रोत को प्रवाहित किया। मोम-से आँसू गलकर निरन्तर इन कविताओं में प्रवाहित हुए हैं। लम्बी, अँधेरी रात, अथक प्रतीक्षा, अकथ शून्य भरा जीवन, कोई नदी के पार गाता है;

श्वान कहीं भूँकता है; रात का प्रहरी कहीं बोलता है; कवि के एकाकी मन को ये बिखरे स्वर सान्त्वना नहीं दे सकते।

सन् १९४१ में बच्चन की और मेरी नियुक्ति एक साथ ही प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई। फिर बच्चन की तेजीजी के साथ शादी हुई। अमित और अजित का जन्म हुआ। बच्चनजी ने 'सतरंगिनी' और 'मिलन यामिनी' लिखीं। उन्होंने लिखा : 'नीड़ का निर्माण फिर फिर···'। 'दो चित्र' शीर्षक कविता लिखी। एक चित्र : रूखे, बिखरे बाल, तनी गर्दन; दूसरा चित्र : सँवरे, सुलझे बाल, झुकी गर्दन।

बच्चन मेरे घर के समीप एलेनगंज में रहते थे। यहीं उनका विवाह हुआ था। फिर वे बैंक रोड पर रहे; यहाँ पन्तजी उनके साथ रहते थे। फिर वे कुछ दिन एडैल्फी में रहे; फिर स्ट्रैंची और स्टैनली रोड पर रहे। फिर वे कैम्ब्रिज गए और लौटने के बाद दिल्ली के महाकाश में उनका उदय हुआ। दिनकर और बच्चन दिल्ली के आकाश में हिन्दी के सूर्य हैं। भारत सरकार हिन्दी के लेखकों को जब स्मरण करती है, तब इन्हीं-की ओर उसका ध्यान जाता है।

बच्चन नियम से कविता लिखते हैं। पन्तजी भी नियम से नित्य कविता लिखते हैं। हाथ सधने पर इस प्रकार साहित्य रचा जा सकता है, किन्तु कवि के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, जब वह संपाती की उड़ान लेता है। ऐसे क्षणों में पंतजी ने 'पल्लव' और 'ग्राम्या' की रचना की। ऐसे ही क्षणों में बच्चन ने 'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' की रचना की।

बच्चन की कविता पर विचार-विनिमय के सिलसिले में इलाहाबाद की एक गोष्ठी में डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी ने प्रश्न उठाया था, "क्या सुख भी श्रेष्ठ काव्य के सृजन का स्रोत हो सकता है?" डॉ० त्रिपाठी का कहना था कि जो चोट 'निशा-निमंत्रण' में है, वह बाद की सुख-भरी कविताओं में नहीं। बच्चनजी हिन्दी के पाठक को काफ़ी रुला चुके हैं। अब वह उनके सुख और समृद्धि की कृतज्ञतापूर्वक कामना करता है।

इंगलैंड में लिखी बच्चन की एक कविता मुझे बहुत अच्छी लगी थी :

तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर-निर्झर-से लहरे केश···

भावों के उद्रेक से कविता फूटती है। यह सुख का अतिरेक भी हो सकता है।

दिल्ली में बच्चनजी से कभी-कभी मेरी भेंट हुई है। एक बार दस वर्ष पूर्व एशियाई लेखक सम्मेलन के अवसर पर उनसे मिला था। फिर अभी दो वर्ष पूर्व नेहरू पुरस्कार समिति की ओर से आयोजित एक स्वागत समारोह में उनसे मिला था।

दिल्ली के नर-महासागर में अनेक डूबते-उतराते रहते हैं। बच्चनजी और दिनकर ही लेखकों में ऊँचे से ऊँचे वृत्तों में घूमते हुए मिलते हैं। इनपर नेहरू की कृपा-दृष्टि पड़ी थी। शायद बच्चनजी दिल्लीवासी हो गए हैं। दिल्ली पिछली सदियों में अनेक महापुरुषों को पचा गई है। नेहरू और गांधी इस शृंखला की अन्तिम कड़ियाँ मात्र थे।

मेरी कामना है कि बच्चन शतायु हों, मेरी यह भी कामना है कि उनके जीवन के अंतिम तीस-पैंतीस वर्ष इलाहाबाद में व्यतीत हों।

पारदर्शी अन्तर्बाह्य

(डॉ०) प्रभाकर माचवे

वैसे तो दूर से बच्चनजी के दर्शन, और दर्शन से अधिक उन दिनों जिस 'मधुशाला' की धूम थी उसके श्रवण, १९३४ के अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन में और १९३५ में सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में मैंने किए थे। पर 'निकट से' उन्हें देखने-मिलने का मौक़ा मिला सन् १९३८ के ग्रीष्मावकाश में, जब नेमिचन्द्र जैन और मैं उत्तर भारत की साहित्यिक यात्रा पर निकले थे, कन्सेशन सर्कुलर-टिकिट पर। तब मुझे स्मरण है मुट्ठीगंज, इलाहाबाद में मैंने उनका एक 'वाटर कलर' में स्केच भी बनाया था। उन दिनों बच्चनजी 'निशा-निमंत्रण' के गीतों में डूबे थे। उन्होंने अपनी पहली पत्नी श्यामाजी का एक संस्मरण सुनाया था कि किसीने जब उनकी पत्नी से कह दिया कि बच्चनजी पीते हैं तो वे हँसीं और बोलीं कि 'बिना पिए ही उन्हें नशा रहता है। ऐसा नशा जिसे कविता कहते हैं और वह कभी नहीं उतरता।'

बरसों बीत गए, और बच्चनजी से फिर निकट का साक्षात्कार, इलाहाबाद में सन् '४७ में प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक में मैं गया था, तब हुआ। और '४९ से '५१ तक मैं जब इलाहाबाद रेडियो पर था, तब तो कई बार उनके घर जाने का सौभाग्य मिला। एक संस्मरण तब का है। एक बार इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में किसी कवि-सम्मेलन में निरालाजी को विद्यार्थी ले आए, तब की बात है। मुझे स्मरण है कि चाय पीते हुए एक टेबल पर निरालाजी और बच्चनजी बैठे थे। मैं रेडियो से वहाँ गया हुआ था। मैंने जो सुना, वह यों था :

बच्चनजी : निरालाजी, आप इस तरह जाड़े में इतने कम कपड़े न पहनें — कभी अपने तन-बदन की भी सुध रखें। स्वास्थ्य कैसा है ?

निरालाजी : आप लोगों का बहुत अच्छा रंग जमा है। यूनिवर्सिटियाँ आपकी हैं। कंठ है। भाव भी है। आपका भविष्य बहुत स्वर्णिम है।

बच्चनजी : हम लोग तो यूनिवर्सिटी में हैं। पर आप जैसे कवि तो 'यूनिवर्स' के हैं।

फिर मैं दिल्ली आ गया, नागपुर गया सन् '५३ में, पुन: साहित्य अकादेमी में आ गया १४ जुलाई, १९५४ से। बच्चनजी विदेश गए से। येट्स पर शोधकार्य कर रहे थे। एक बार साहित्य अकादेमी की कार्यकारिणी सभा में श्री जवाहरलाल नेहरू ने बच्चनजी का जिक्र छेड़ा और कहा कि ऐसे व्यक्ति को साहित्य अकादेमी में होना चाहिए, जो

अंग्रेज़ी भी अच्छी तरह जानता हो, हिन्दी में लिखता हो। उस दिन उन्होंने खाली वक़्त में सोचते हुए पेंसिल से जो लकीरें अपने कागज़ों पर खींचीं, उनमें बच्चन का नाम भी लिखा था। वह कागज़ मैंने रख लिया था और विदेश से बच्चनजी के लौटने के बाद जब वे दिल्ली पधारे, तब उन्हें दे दिया था।

बच्चनजी को जवाहरलालजी बहुत चाहते थे, यह इसीसे ज़ाहिर है कि 'मधुशाला' के अंग्रेज़ी अनुवाद की भूमिका उन्होंने लिखी और बाद में विदेश मन्त्रालय में उन्हें अपने पास बुला लिया, महत्त्वपूर्ण काम के लिए।

मुझे नहीं मालूम था कि बच्चनजी ने केवल बरू[1] ही नहीं, बन्दूक भी चलाना सीखा था। दिल्ली आने पर साहित्य अकादेमी में मेरे पहले सहयोगी डा० के० एम० जॉर्ज बच्चनजी के एन० सी० सी० स्कूल के साथी निकले। फिर दोनों ने साथ-साथ बैठकर वल्लत्तोल की हिन्दी कविताओं के अनुवाद को बच्चनजी से सुधरवाया और फिर कई तरह से उनकी सलाह हिन्दी के प्रकाशन-कार्यक्रम में लेते रहे। सबसे नया काम है डॉ० नगेन्द्र और (भावी डॉक्टर) भा० भू० अग्रवाल के साथ सम्पादित 'समकालीन हिन्दी साहित्य' नामक लेख-संकलन, जिसमें स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य का लेखा-जोखा है।

एकाध बार, जैसे मेरठ के नौचंदी मेले के कवि-सम्मेलन में और अन्यत्र कहीं कॉलेजों में या हिन्दी सभाओं में कवि-सम्मेलनों में भी बच्चनजी के साथ-साथ इस ग़रीब की - मराठी कहावत के अनुसार 'बैल गाड़ी के साथ सूप' की भी—यात्रा हुई है। मैंने देखा है कि 'जनता' किस तरह पागल हो जाती है इनके गीत-पाठ पर। बार-बार फ़र-माइशें होती हैं। फिर से 'मधुशाला' सुनवाने का इसरार किया जाता है और अब तो कुछ स्वास्थ्य के कारण ज़रा उनमें मन्दता आ गई है, वर्ना यह क्रम 'कितनी रातों गए' चलता रहा है। यदि हिन्दी कवि-सम्मेलन का कोई इतिहास लिखा जाएगा तो उसमें एक 'बच्चन-युग' प्राय: एक तप से अधिक का मानना होगा। 'नीरज' आदि मंच पर जमनेवाले गीत-कार बहुत बाद के हैं।

मुझे बहुत बार आश्चर्य होता रहा था कि जो 'निशा-निमंत्रण' के इतने गहरे दर्दभरे गीत लिखता है, उस 'आकुल अन्तर' के कवि ने 'बंगाल का काल' क्यों लिखा? 'विकल विश्व' के लिए उनके मन की तड़पन का पता मुझे मुक्तिबोध की बीमारी के समय अगस्त-सितम्बर, १९६४ में लगा, जब वे स्वयं स्वर्गीय लालबहादुर-जी शास्त्री के निवास पर लेखक-कवियों के एक दल के साथ गए। बच्चनजी की ही विशेष कृपा के कारण वह सब सरकारी सुविधा सहज उस रुग्ण कवि-मित्र को मिल सकी, जो उससे सदा अचेत रहा। मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद शान्ताबाई से मिलने सपत्नीक बच्चनजी हमारे घर आए और उन्हें सांत्वना दी। मैं उस घटना का वर्णन नहीं कर सकता।

---

१. बरू (मराठी)—क़लम

बच्चनजी के अनेक रूपों में एक रूप उनके अनवरत, अनथक, अध्यवसाय का भी है। चाहे शेक्सपियर के अनुवाद हों या येट्स पर शोधकार्य हो, वे निरन्तर साहित्य-सेवा करते रहते हैं; लिखते-पढ़ते रहते हैं। कभी 'नई धारा' में मैंने शान्ति निकेतन में एक सन्थालिन पर कविता लिखी थी—झट से उनका पोस्टकार्ड आया, उसकी प्रशंसा करते हुए। मैंने उनकी कठोर से कठोर आलोचना की है; लेखों में और आख्यानों में भी – पर वे मन में कभी कोई कल्मष नहीं रखते। उदारचित्त, निश्छल, मिलेंगे तो उलाहने से कहेंगे –"भाई, देखो, मैं उस अमुक लेख या आलोचना से बहुत नाराज़ हूँ।" और फिर वही स्नेह-कृपा, पूर्ववत्। मैंने 'उजली हँसी के छोर पर' के विषय में कहीं कुछ लिखा था – बच्चनजी का पोस्टकार्ड फिर मिला—"पुस्तक कहाँ प्राप्य है? पता भेजें!" बच्चन जैसे साहित्यकार हिन्दी में बहुत थोड़े हैं, जिनका अन्तर्बाह्य इतना पारदर्शी हो। वे साठ नहीं, एक सौ साठ के हों और 'बच्चन' ही बने रहें—यही हार्दिक कामना है।

किस तरह आख़िरकार मैं हिंदी में आया

शमशेरबहादुर सिंह

एक ऐसी बात—एक ऐसा जुम्ला—मुझसे कह दिया गया था, कि मैं जिस हालत में था उसी हालत में, और जो कुछ पाँच-सात रुपये मेरे पास थे उन्हींको लेकर, दिल्ली के लिए पहली ही बस जो मुझे मिलती थी, चुपचाप उसीपर चढ़ा और चल दिया।

तय कर लिया कि हाँ, अब मुझे जो भी काम करना है, करना शुरू कर देना चाहिए! दिल में, दिमाग़ में, यही समाया हुआ था कि वह काम—पेंटिंग है; इसीकी शिक्षा अब मुझे लेनी है, और फ़ौरन। उकील आर्ट स्कूल का नाम भर मैंने सुन रक्खा था; दिल्ली में कहाँ है, यह पता न था···ख़ैर, क़िस्सा मुख़्तसर कि मेरा इम्तहान लेकर और मेरा शौक़ देखकर मुझे बिला-फ़ीस भर्ती कर लिया गया।

मैंने दो-तीन जगहों के बाद करोल बाग़ में लबे-सड़क एक कमरा लिया, और रोजाना वहाँ से कनाट प्लेस को सुबह की क्लास में पहुँचने लगा। रास्ते में कभी-कभी चलते-चलते ड्राइंग भी बनाता और कभी-कभी या साथ-साथ कविताएँ भी लिखता। इसका ज़रा भी ख़याल या वहमो-गुमान न था कि ये कविताएँ कभी प्रकाशित होंगी। बस, मन की मौज या तरंग या कोई टीस-सी थी। चुनाँचे अंग्रेज़ी में—जैसी भी कुछ, और उर्दू में (ग़ज़ल के शे'र) लिखता। और हर चीज़ और हर चेहरे को बग़ौर देखता, कि उसमें अपनी ड्राइंग के लिए क्या तत्त्व खोज सकता हूँ या पा सकता हूँ या पा सकूँगा। आँखें थक जाती थीं, बहुत थक जाती थीं, मगर उस खोज का, हर चीज़ और चेहरे और दृश्य या स्थिति और गति का, अपना विशिष्ट आकर्षण कम न होता था। बस आँखों की ही मजबूरी थी। कभी-कभी तेजबहादुर (मेरे भाई) कुछ रुपये भेज देते थे। या साइनबोर्ड पेंट करके कुछ सहारा कर लेता था। मेरे साथ एक पत्रकार महोदय भी आकर रहने लगे थे; महाराष्ट्री; बेकार थे, तीस-चालीस के बीच में;—वह इलाहाबाद युनिवर्सिटी के होस्टलों का कभी-कभी ज़िक्र किया करते। 'इलाहाबाद, माई वीकनेस!'

अंदर से मेरा हृदय बहुत उद्विग्न रहता। यद्यपि अपने को दृश्यों और चित्रों में खो देने की मुझमें शक्ति थी; मगर अंदर से दुःखी ही था। पत्नी का देहांत, टी० बी० से, हो चुका था। दिल्ली की सड़कों पर अकेला। एकदम अकेला। और बस, घूमता, घूमता, कविताएँ घसीटता, या स्केच; और अपनी खोली में आकर···अपना अकेलापन खोकर बोर होता।

मेरे कवि मित्र और बी० ए० के सहपाठी नरेन्द्र शर्मा एम० ए० कर चुके थे, और दिल्ली में एक बार उनसे मुलाक़ात भी हुई थी। पता नहीं वह कांग्रेस की राजनीति में संलग्न थे या कोई पत्रकारी वसीला खोज रहे थे। तभी एक बार बच्चन स्टूडियो में आए। क्लास ख़त्म हो चुकी थी। मैं जा चुका था। वह एक नोट छोड़ गए मेरे लिए। मुझे नहीं याद कि उसमें क्या लिखा था; मगर वह एक बहुत मुख़्तसर-सा और अच्छा-सा नोट था। मैंने कहीं बहुत गहराई से अपने को कृतज्ञ महसूस किया। मेरी बहुत ही बुरी आदत है, पत्रों का जवाब न देना। चाहे सैंकड़ों जवाब बाज़ पत्रों के मन ही मन लिख-लिखकर हवा में साँस के साथ बिखराता रहूँ, कई दिनों तक···! तो, मेरे इस मौन की 'उपलब्धि' मेरी कृतज्ञता को व्यक्त करती हुई, एक कविता उभरी, अंग्रेज़ी में (अफ़सोस!), एक सॉनेट (वह भी अतुकांत मुक्त छंद में उफ़!) मगर उसको लिख लेने के बाद मैंने अपना जवाब उनको गोया भेज दिया!

कई महीने निकल गए। और घटनाचक्र से मैं देहरादून आ गया। अपनी ससुराल की केमिस्ट्स एंड ड्रगिस्ट्स की दूकान पर कंपांउडरी सीखने लगा। और अच्छी-ख़ासी महारत मुझे टेढ़े-मेढ़े, अजूबा इबारत में लिखे नुस्ख़ों को पढ़ सकने की हो गई।

उसी वर्ष गुरुवर श्री शारदाचरणजी उकील ने देहरादून में ही पेंटिंग क्लास खोल ली थी, मेरे सौभाग्य से। (यह मेरे देहरादून लौटने का बहाना था।) वह बन्द हो गई तो मैं अक्सर सोचता कि कविता और कला की दुनिया में – जो अब तक मेरी एकांत दुनिया रही थी, किसीसे उसे ग़रज़ नहीं — और अब भी बहुत कुछ वैसी ही बात है — अब मैं कहाँ हूँ? मेरी आंतरिक दिलचस्पियों से किसीको दिलचस्पी नहीं थी, और मैं मुँह खोलकर कुछ नहीं कह सकता था किसीसे। अपने से बड़ों का, गुरुजनों का, अदब-लिहाज़, उनके सामने मुँह न खोलना, शायद मेरी घुट्टी में पड़ा था। अपनी बहुत ही आंतरिक ऐकांतिकता का मैं अभ्यासी तो हो गया था, मगर अन्दर से बहुत खिन्न और दुखी था। और परिस्थिति के साथ सामंजस्य बैठाने की कोशिश कर रहा था। कर्तव्य, जहाँ तक हो सकता था।···ऐसे में न जाने क्यों एक दिन, यों ही, वही सॉनेट मैंने बच्चन को पोस्ट कर दिया। बच्चन गर्मियों की छुट्टियों में (सन् '३७) देहरादून आए, ब्रज-मोहन गुप्त के यहाँ ठहरे। इत्तिफ़ाक़ देखिए कि यही (अब डॉक्टर) ब्रजमोहन गुप्त मेरे भाई के मित्र, और उनके पिताजी मेरे पिताजी के पड़ोसी और मित्र रह चुके थे, देहरादून में ही। ब्रजमोहन के साथ बच्चन डिस्पेंसरी में आकर मुझसे मिले, एक दिन मेहमान भी रहे।

वह बच्चन की शुरू की धूम का ज़माना था। 'प्रबल झंझावात साथी!' देहरा-दून के उसी साल की यादगार है, किस ज़ोर की आँधी आई थी, उफ़! कितने बड़े-बड़े पेड़ बिछे पड़े थे सड़कों पर, टीन की छतें की छतें उड़ गई थीं। और बच्चन उसी आँधी-बारिश में एक गिरते हुए पेड़ के नीचे आ जाने से बाल-बाल बचे थे! (हम सबका सौभाग्य!) आज मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि जो तूफ़ान उनके मन और मस्तिष्क की दुनिया में गुज़र रहा था वह इससे भी कहीं प्रबल था। पत्नी-वियोग हाल ही में हुआ था। और कैसी पत्नी का वियोग! जो इस मस्त नृत्य करते शिव की उमा थी आत्मा से अर्द्धांगिनी।

निम्नमध्य वर्ग के सन् '३० के भावुक आदर्शों और उत्साहों और संघर्षों की युवा संगिनी ! मैं कल्पना ही कर सकता हूँ कि वह कवि के लिए क्या कुछ न रही होगी। एक निश्छल कवि, जिसके आर-पार आप देख सकते हैं। बात का धनी, वाणी का धनी। हृदय मक्खन, संकल्प फ़ौलाद। ऐसे व्यक्ति की साथी।

एक और बरखा की याद आ गई। इस देहरादून की-सी नहीं। मगर भरी बरसात की झमाझम। बरखा, इलाहाबाद की। गाड़ी पर पहुँचना था। रात का वक़्त। मेज़बान इसरार कर रहे हैं, "भई, इस वक़्त कुली न ताँगा, कैसे जाओगे ? सुबह तक रुक जाओ !" मगर नहीं। बच्चन ने बिस्तर काँधे पर रखा और स्टेशन की तरफ़ रवाना हो गए। जहाँ पहुँचना था वक़्त पर पहुँचे।

इलाहाबाद मुझे बच्चन ही खींचकर ला सकते थे। कोई इस संभावना की कल्पना भी नहीं कर सकता था। मैं स्वयं नहीं। और उसपर मैं बच्चन को तब जानता भी कितना था ! बराय नाम। मगर उस परिचय के जितने भी क्षण थे सटीक थे। थे वो मात्र क्षण ही। आजकल की तरह ही, मैं बहुत कम कहीं आता-जाता या किसीसे मिलता-जुलता था। मुझे इसकी कभी कोई ज़रूरत-सी न महसूस हुई : शायद ऐसा वहम मुझे था, जो वहम ही था, कि मेरी निजी एकांत दुनिया में मेरे साथ चलने वाला कोई नहीं है—और क्यों हो ? ख़ैर।...

तो, मसलन् हिंदू मैक्डनल (अब मालवीय) बोर्डिंग हाउस के एक किनारे के कमरे में, पहली बार मैंने बच्चन को देखा, (सन् तैंतीस की बात है शायद) जब उन्होंने अपनी 'मधुशाला' सुनाई थी। नयी-नयी। कमरे के मजमे में एक तरफ़ मैं भी बैठा सुन रहा था। अच्छी लगी थी। कोई ऐसी अत्यधिक अभिभूत कर लेने वाली तो नहीं। मगर निश्चय ही एक नयी और पुष्ट-सी चीज़। उसके जिस कौशल ने उस समय मेरे दिल से दाद वसूल की वह यह कि मधुशाला का तुक लगातार दोहराये जाने पर भी लम्बी कविता की ताज़गी और प्रभावशीलता में ज़रा भी फ़र्क़ नहीं आया था। यह एक 'ऐस्से' था एक विषय पर, गुम्फित, सुस्पष्ट, ज़ोरदार, और युगीन। निराला की शैली में कुछ रम चुकने के कारण, ब्राउनिंग के लिरिक और ऐकिक नाट्य-रूपकों की मनोवैज्ञानिक शैली-शिल्प से विमोहित हो चुकने के कारण, मैं उस नयी चीज़ के नयेपन को सही-सही मूल्यांकित नहीं कर सका, जैसा कि (मसलन्) उस समय ठाकुर वीरेश्वरसिंह ने किया। वह श्री पद्मकांत मालवीय के निवास-स्थान पर इस कविता को पहले पहल सुनकर जब होस्टल में आए, तो झूम रहे थे। बोले, "शमशेर, एक चीज़ सुनी है आज, जो हिंदी में नयी चीज़ है, और कैसा पुष्ट शिल्प है उसका। बंद-बंद से भाषा पर कवि का अधिकार टपकता है। और एक ही शब्द बार-बार आता रहता है, मगर ज़रा भी उबाता नहीं।" वीरेश्वर की वह मुद्रा मुझे आज भी याद है। आँखें नशे में, और होंठों पर एक विवश मद-विभोरता-सी।...

हाँ, तो; 'निशा-निमन्त्रण' के गीत तब बच्चन के मन और मस्तिष्क में अपनी

भूमिका मथ रहे थे। और वह झंझावात को आने वाली गर्मियों की छुट्टियों तक अन्दर ही अन्दर चुपचाप, शांतवदन, झेल रहे थे, उसे कुछ दिनों एम० ए० फ़ायनल के कोर्स की तैयारी की कड़ी शृंखलाओं से बहलाने जा रहे थे।···मैं नहीं जानता कि 'निशा-निमन्त्रण' का अनुवाद सचमुच सम्भव है : उसके गीतों की मार्मिक सादगी, और सीधी चोट, और पुष्टतम शिल्प ! वो नश्तर हैं। वो सचमुच दुखी दिलों के साथी हैं। उनमें दुखी दिलों के साथ पंछी-पखेरू और गंगा का विस्तृत जल और अपार गहनतम शामें और प्रकृति का सारा आक्रोश और सारी द्रवता घुली-मिली हुई है। ऐसी तड़प कि बस -- कुछ नहीं कहा जा सकता।

ये '३६-'३७, '३७-'३८ के साल थे।

···जी हाँ। तो, बच्चन ने मुझसे कहा, "तुम यहाँ रहोगे तो मर जाओगे। चलो इलाहाबाद और एम० ए० करो···" इत्यादि। और हमारी दूकान पर बैठने वाले देहरादून के प्रसिद्ध डॉक्टर मुझसे कह रहे थे, "तुम इलाहाबाद जायगा तो मर जायगा!" मगर मैं तो देख चुका था कि फेफड़े के मरीज़ों के लिए, ग़रीब-गुरबा के लिए, वह क्या नुस्ख़ा लिखते थे : 'कैल्सियम लैक्टेट, थ्री टाइम्स अ-डे।' कैल्सियम लैक्टेट उन दिनों दो आने में एक आउंस आता था। मैं अपने दिल में बेफ़िक्र था।

इलाहाबाद आया, तो बच्चन ने क्या किया ! बच्चन के पिता मेरे लोकल गार्जियन के खाने में दर्ज हुए। उन्होंने उर्दू-फ़ारसी की सूफ़ी नज़्मों का एक संग्रह बड़े स्नेह से मुझे दिया था। वह आशीर्वाद अर्से तक मेरे साथ रहा, और एक अर्थ में अब भी है। और बच्चन ने एम० ए० प्रीवियस और फ़ायनल के दोनों सालों का ज़िम्मा लिया। और कहा, "देखो जब भी तुम इस क़ाबिल हो जाओ (यानी तुम्हारी नौकरी लग जाए), तब वापस कर देना। चिंता मत करो।" न इस क़ाबिल हुआ, और न मैंने चिंता की।

बच्चन का प्लान यह था कि मैं किसी तरह एक काम का आदमी बन जाऊँ। उनके स्वयं अंग्रेज़ी में फ़ायनल कर लेने -- दस साल की मास्टरी के बाद—और बी०टी० कर लेने के साथ-साथ मैं भी युनिवर्सिटी से डिग्री लेकर फ़ारिग़ हो जाऊँ ! ताकि कहीं पैर जमाकर खड़ा हो सकूँ। सो कहाँ होना था ! कहीं न कहीं यह बात, पिताजी की सरकारी नौकरी को देखकर, मेरे दिल में बैठ गई थी—कि नौकरी नहीं करनी है। मैंने कभी कोई तर्क-वितर्क अपने-आपसे नहीं किया। मेरा ख़याल है, और अब मैं साफ़-साफ़ देखता हूँ, और कह सकता हूँ कि यह, बस, घोंघूपने की हद थी। (और, पलायन ?)···

हिंदू बोर्डिंग हाउस के कॉमन रूम में एक सीट मुझे फ्री मिल गई थी; और पंतजी की सहज कृपा से (मैं कभी नहीं भूलूँगा) इंडियन प्रेस से अनुवाद का काम। अगर सचमुच कोई बात मेरी समझ में आती थी तो वह एक यही—कि अब मुझे कविता··· हिंदी कविता···गम्भीरता से लिखनी है, जिससे कि मेरा रब्त बिलकुल छूट चुका था। भाषा और उसका शिल्प लगभग अजनबी-से हो चले थे। (आख़िर हिंदी फ़र्स्ट फ़ार्म तो मेरी कभी रही नहीं थी, और घर में ख़ालिस उर्दू के ही वातावरण में पला था। बी० ए० में भी उर्दू ही एक विषय लिया था।) ग़ज़ल मेरी भावुकता और आन्तरिक

अभावों का, अपने तौर पर, भली-बुरी एक मौन साथी थी। जैसी भी कुछ थी, अपनी थी।···शायद विषयांतर हो रहा है।···मगर बच्चन मेरे जिस साहित्यिक मोड़, मेरे हिंदी के पुनस्संस्कार, के एक प्रमुख कारण बने, मैं उसको यहाँ कुछ स्पष्ट करना चाहता हूँ। एक बार पहले भी सन् '३३ में प्रीवियस का इम्तहान दिए बिना ही युनिवर्सिटी छोड़कर जा चुका था, मगर तब तक कुछ रचनाएँ 'सरस्वती' और 'चाँद' में छप चुकी थीं; और बच्चन ने 'अभ्युदय' में प्रकाशित मेरे एक सॉनेट को पसन्द किया था और कहा था कि वास्तव में यह खालिस सॉनेट है (यद्यपि मुझे उनसे मतभेद है)। बहरहाल।···तो, सन् '३७ में भाषा यानी हिन्दी मुझसे छूट-सी चुकी थी। अभिव्यक्ति का माध्यम (मात्र और सदैव एकांतत: अपने लिए) या तो अंग्रेज़ी थी (अफ़सोस) या उर्दू गज़ल। हाँ, आज एक बात के लिए मैं अपने पछाँही, सीधे-सादे जाट परिवार और अपने बचपन के युग को धन्यवाद देता हूँ कि किसी भाषा को लेकर कभी कोई दीवार मेरे चारों तरफ खड़ी न हो सकी जो मेरे हृदय या मस्तिष्क को घेर लेती। अफ़सोस इतना ही है कि मैं जम-कर कोई साधना भाषा या शिल्प की नहीं कर सका।

हिंदी ने क्यों मुझे उस समय अपनी ओर खींचा, इसका स्पष्ट कारण तो मेरी चेतना में निराला और पन्त थे, उनसे प्राप्त कुछ संस्कार, और इलाहाबाद-प्रवास और इलाहाबाद के हिन्दी साहित्यिक वातावरण में मित्रों से मिलने वाला प्रोत्साहन। और हिंदी आज भी अपनी ओर खींचती है, बावजूद कम से कम मुझ जैसों को दु:खी और विरक्त करने वाले अपने संकीर्ण, सांप्रदायिक वातावरण के। (बच्चन इस वातावरण को आज मर्दानावार झेल ही नहीं रहे हैं, अपनी कविता में उच्च घोष से बार-बार बता भी रहे हैं कि यह वातावरण किसी भी जाति के सांस्कृतिक इतिहास में कैसी हीन-संकुचित मन:स्थिति का द्योतक होता है!)···

मगर सन् '३७ में मेरा हाल यह था, जैसे मैं फिर से तैरना सीख रहा हूँ—तीन सालों में बहुत कुछ भुला चुकने के बाद। मेरी अन्तश्चेतना का यही स्वर था कि—बच्चन शायद मुझे इसीलिए इलाहाबाद लाए हैं। वह मैदान में उतर चुके हैं···बस ज़रा आर्थिक रूप से निश्चित हो जाने की देर है, बहुत से बहुत एक साल।···और मुझे भी मैदान में उतरना है; अपने तौर पर।···मुझे भी कमर कस लेनी है। यही भावमात्र मेरे मन में स्पष्ट था, और मुख्य। और कोई भाव नहीं।

मुझे याद है कि बच्चन ने एक नये स्टैंज़ा का प्रकार मुझे बताया था, १४ पंक्तियाँ, (सॉनेट नहीं!) और तुकों का प्रभावकारी विन्यास; बीच-बीच की अनेक पंक्तियाँ अतु-कांत! मुझे बहुत आकर्षक लगा था वह 'प्रकार'। मैंने तबीअत पर ज़ोर डालकर उस 'प्रकार' में एक रचना की थी। (बच्चन को नहीं मालूम। मालूम किसीको भी नहीं। क्योंकि कभी छपी नहीं।) बच्चन के लिए तो वह कविता का एक बन्द था, मेरे लिए वह एक बन्द पूरी कविता हो गई। मगर मैंने जो लिखा वह वस्तुत: सॉनेट से अलग रूप न ले सका! (बच्चन ने तब तक उस अपने नवीन फ़ार्म में कोई कविता न रची थी।) ख़ैर।······

बच्चन के 'निशा-निमन्त्रण' की कविताओं के रूप-प्रकार ने भी मुझे आकृष्ट

किया। मैंने कुछ कविताएँ उस प्रकार में लिखने की कोशिश की; मगर मुझे बहुत मुश्किल जान पड़ा। नौ पंक्तियाँ, तीन स्टैंज़ा। प्रायः सभी कवि उस छन्द में लिख रहे थे। मुझसे नहीं चला। अगर्चे कुछ पंक्तियाँ इस अभ्यास में शायद बुरी नहीं उतरीं। 'निशा-निमंत्रण के कवि के प्रति' मेरी एक कविता, जिसपर पंतजी के कुछ संशोधन भी हैं ('रूपाभ'-काल में किए हुए), मेरे पास आज भी, अप्रकाशित, सुरक्षित है। उसका भी बच्चन को पता नहीं!

मैं अपने कोर्स की ओर ध्यान नहीं दे रहा था। इससे बच्चन को क्षोभ था। अतः मेरे मन में भी एक स्थायी संकोच। ख़ैर।···दो साल पूरे करके, आखिर फ़ायनल का इम्तहान मैंने फिर भी नहीं ही दिया। बच्चन के साथ एक कवि-सम्मेलन में भी मैं उसी साल गया था। शायद गोरखपुर।

मैंने देखा कि कविता में मेरा नया अभ्यास निरर्थक नहीं गया; 'सरस्वती' में छपी एक कविता ने निरालाजी का ध्यान आकृष्ट किया; कुछ निबन्ध भी मैंने लिखे। 'रूपाभ' आफ़िस में प्रारम्भिक प्रशिक्षण लेकर मैं बनारस 'हंस' कार्यालय की 'कहानी' में चला गया। निश्चय ही हिंदी के साहित्यिक प्रांगण में बच्चन मुझे घसीट लाए थे।···

आज मैं स्पष्ट देखता हूँ कि मेरे जीवन के इस भरपूर, और कैसे आकस्मिक, मोड़ के पीछे बच्चन की वह मौन-सजग-प्रतिभा रही है जो दूसरों को नया प्रातिभिक जीवन देने की नैसर्गिक क्षमता रखती है। बच्चन से मैं हमेशा ही प्रायः दूर ही दूर रहता आया हूँ। यद्यपि दूर और नज़दीक की मेरी अपनी परिभाषा है। (और जिनके मैं अक्सर बहुत 'नज़दीक' रहता आया क्या उनसे बहुत दूर नहीं रहा?) बहुत-सी अनुपस्थित चीज़ें मेरे लिए उपस्थित ही के समान हैं, और उपस्थित अनुपस्थित के। और मैं बहुत 'नज़दीक आने', बहुत मिलने-जुलने, चिट्ठी-पत्री आदि में विश्वास नहीं करता। बच्चन इसीलिए मेरे काफ़ी क़रीब रहे हैं मगर basically उसी तरह जैसे एक 'कवि' अपनी रचना के माध्यम से अपने क़रीब रहता है, अपने साथ रहता है, जिससे हम कभी नहीं मिलते या मिल सकते—युगों का व्यवधान होने के कारण। ये युग एक ही जगह प्रस्तुत भी हो सकते हैं। अतः मिलने या न मिलने का कोई अर्थ नहीं बैठता।······इसी तरह बच्चन अपने व्यक्तित्व में (जिसे, कुल मिलाकर, मैं उनकी श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कविता से भी बड़ी आँकता हूँ), बहुतों की तरह, मेरे भी नज़दीक हैं, और यह एक बिलकुल सहज और सामान्य और स्वाभाविक ही बात है। इसका सहज स्वाभाविक और सामान्य होना मुझे अच्छा लगता है। मुझे बहुत अच्छा लगता है। (क्योंकि वह मुझे अपनी जगह पर मुक्त भी रखता है।) मेरा अनुमान है कि और भी सैकड़ों व्यक्तियों को ऐसा ही अनुभव हुआ होगा। अनुमान ही क्यों मुझको मालूम है कि हुआ है। मैं अपने इस अनुभव को विशिष्ट या विशेष नहीं मानता। वस्तुतः ऐसा कुछ विशिष्ट या विशेष दुनिया में नहीं हुआ करता। बच्चन जैसे लोग भी दुनिया में हुआ करते हैं, और वह हमेशा ही ऐसे होते हैं। असाधारण कहकर मैं उनकी मर्यादा कम नहीं करना चाहता। मगर यह साधारण और सहज प्रायः दुष्प्राप्य भी है। बात अजब है मगर सच है।

अनिकट से

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

मैं बच्चनजी के निकट कभी नहीं रहा, इसलिए उन्हें निकट से जानने का दावा नहीं कर सकता। हाँ, उनके काव्य के प्रति मेरी रुचि पिछले ३४-३५ वर्षों से निरन्तर बनी रही है। मुझे स्मरण है कि जब उनकी कविताएँ 'विशाल भारत' और 'विश्वमित्र' में छपती थीं, तभी से मैं पढ़ता आ रहा हूँ। बच्चनजी के काव्य को पढ़कर उनके व्यक्तित्व का काल्पनिक चित्र अवश्य मैंने अपने मन में तैयार किया होगा, और उस समय उनसे मिलने की बड़ी इच्छा भी मेरे मन में रही थी किन्तु वर्षों तक ऐसा कोई सुयोग नहीं बन सका। बच्चन की रचनाओं को ख़रीदकर पढ़ने का मोह मेरे मन में शुरू से रहा है। किसी अन्य कवि की काव्य-पुस्तकों को शायद इससे पहले मैंने ख़रीदकर नहीं पढ़ा था। पुस्तकालयों से लेकर ही कविता का आनन्द उठा लिया करता था। संग्रह करने का मोह भी मुझमें बच्चन के काव्य-संग्रहों से ही प्रारम्भ हुआ और मेरे पास उनकी सभी पुस्तकें संगृहीत हैं। बच्चन के व्यक्तित्व का वर्णन मैंने २५-३० वर्ष पहले उन लोगों से सुना था, जिन्होंने उन्हें कवि-सम्मेलनों में कविता पढ़ते सुना था। वे लोग बड़ी मस्ती के साथ बच्चन के व्यक्तित्व का निरूपण करते थे और उनके वर्णन से ऐसा लगता था, मानो बच्चन कोई बहुत ही मस्त और ज़िन्दादिल व्यक्ति हैं। इतना ही नहीं, उन दिनों बच्चन की कविता और कविता पढ़ने की शैली का अनुकरण करने वाले कवियों की कमी न थी। अनेक छोटे-मोटे नवोदित कवि बच्चन की शैली से मंच पर काव्य-पाठ करते थे। उन्हींको देखकर मैंने बच्चन के व्यक्तित्व का कुछ चित्र बनाया था।

बचपन में कविताएँ याद करने की मेरी आदत थी। लेकिन जितनी अधिक कविताएँ मैंने बच्चन की याद कीं उतनी उस समय किसी अन्य की नहीं। दरअसल बच्चन की कविताएँ याद करने के लिए मैंने कोई श्रम नहीं किया। बार-बार पढ़ने और गुनगुनाने से अधिकतर कविताएँ मुझे उन दिनों याद हो गई थीं। आज भी उनमें से २०-२५ कविताएँ लगभग याद हैं। बच्चन की लोकप्रियता का एक कारण यह भी रहा कि उनकी कविताएँ सहज रूप से याद की जा सकती थीं और कवि-सम्मेलनीय मंच से सुनने पर ही वे जिह्वा पर चढ़ जाती थीं।

मुझे याद नहीं पड़ता, मैंने सबसे पहले बच्चन को कब और कहाँ देखा। स्मृति कभी इतना छल करती है कि सबसे प्रिय घटना भी स्मृति-पटल पर अंकित नहीं रह पाती। बच्चन के प्रथम दर्शन की स्मृति भी मेरे लिए लगभग इसी प्रकार की है। हाँ, इतना आज भी याद है कि उन्हें देखने के बाद उनके विषय में मैंने जो कुछ सुन रखा था,

उसमें से बीस प्रतिशत ही सही पाया। यह ठीक है कि कवि-सम्मेलनों में सम्मोहन करने की कला—कला ही नहीं जादू—बच्चन के पास है। छोटे-बड़े सभी प्रकार के सम्मेलनों में मंच बच्चन के हाथ होता है और श्रोता बच्चन के पीछे-पीछे चलते हैं। उनकी सबसे अधिक लोकप्रिय रचना 'मधुशाला' आज भी कवि-सम्मेलनों में समा बाँध देती है। उनके कुछ प्रशंसक बार-बार उनसे 'मधुशाला' की आवृत्ति करवाते हैं। लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि बच्चनजी हज़ारों बार 'मधुशाला' का पाठ करने के बाद भी कभी थके नहीं। अपने श्रोताओं को कभी उन्होंने डाँटा-डपटा नहीं, निषेध नहीं किया। कोई दूसरा होता तो स्वयं अपनी एक ही कविता की सहस्र बार आवृत्ति से घबरा जाता और शायद श्रोताओं के बौद्धिक स्तर को धिक्कारता भी। लेकिन बच्चन ने बड़ी सहजता से श्रोताओं का मन रखा है और आज भी वे उसी संयम और मर्यादा के साथ 'मधुशाला' का पाठ करते हैं।

बच्चन कवि-सम्मेलनों के कवि माने जाते हैं, किन्तु कवि-सम्मेलनों में जितना अनुशासन और गांभीर्य वे बरत पाते हैं, उतना शायद और कवि नहीं। मुझे स्मरण है कि एक बार एक नये कवि के कविता-पाठ पर श्रोताओं ने शोरगुल मचाना प्रारंभ कर दिया। श्रोता 'हूट' करके कवि को मंच से हटाना चाहते थे। बच्चनजी सभापति थे। उन्होंने अनुशासन की वाणी में श्रोताओं को फटकारते हुए कहा कि, "आप लोग इस नये कवि को न सुनकर उसका अपमान नहीं कर रहे हैं, आप कविता का अपमान कर रहे हैं। और एक पनपती हुई नई प्रतिभा का अपमान कर रहे हैं। आप नहीं समझते कि जिस मार्ग से यह नया कवि आपके सामने आ रहा है, मैं भी इसी मार्ग से यहाँ तक पहुँचा हूँ। प्रत्येक नया कवि, नई प्रतिभा के साथ आपके सामने आता है। यदि आपमें प्रतिभा को पहचानने की शक्ति नहीं है तो आपको सभा से उठकर चले जाना चाहिए। श्रोता को कविता सुनने का अनुशासन यदि नहीं आता है तो उसे कविता सुनने का अधिकार भी नहीं है।" उनकी फटकार से सभा में एकदम सन्नाटा छा गया और ऐसा लगा जैसे अनुशासन मूर्त्तिमंत होकर वहाँ आ गया हो। बस फिर क्या था, नये कवि ने कविता पढ़ना शुरू किया और श्रोताओं ने मन्त्रमुग्ध होकर उसके काव्य-पाठ को सुना। वह नया कवि आज प्रौढ़ और सफल कवि के रूप में कवि-सम्मेलनों में जाना-पहचाना जाता है।

जैसा कि मैंने पहले कहा, मैं बच्चन के निकट कभी नहीं रहा, सदा दूर से उन्हें देखता रहा हूँ; पहले मैं उन्हें कुछ अहंकारी-सा व्यक्ति मानता था। मालूम नहीं क्यों यह एक अव्यक्त प्रभाव उनके व्यक्तित्व का मेरे मन पर पड़ा था, इसलिए उनके अहंकार को तुष्ट करने का मैंने सदैव ध्यान रखा है। लेकिन बच्चन मूलतः अहंकारी नहीं हैं, यह बात मुझे गत वर्ष अपने एक प्रवासी कवि-मित्र के साथ उनके घर जाने पर मालूम हुई। उस दिन मैंने पाया कि मैं उन्हें अब तक जो कुछ समझता रहा, उसमें निकट न आना ही एक कारण था। मैं तो पहले यह भी समझता था कि शायद बच्चनजी मेरे नाम और उपनाम दोनों में से किसीको नहीं जानते। लेकिन उस दिन जब काव्य-समीक्षा को लेकर उनसे दो-ढाई घंटे बातचीत हुई, तब पता लगा कि वे मुझे जानते हैं। हो सकता है कि

उन्होंने मेरी लिखी एक भी पंक्ति न पढ़ी हो लेकिन मेरे काव्य-समीक्षा विषयक विचारों से उनका काफ़ी मेल है। मुझे विश्वास है कि उन्होंने बहुत-से स्वनामधन्य आलोचकों का लिखा भी बहुत कुछ न पढ़ा हो, क्योंकि वे मूलत: कवि हैं, कविता लिखते हैं, कविता गाते हैं, कविता पढ़ते हैं, कविता में रस लेते हैं, लीन रहते हैं; इसलिए शुष्क समीक्षा से उन्हें लेना-देना भी क्या है ? लेकिन काव्य-समीक्षा के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। वैचारिक धरातल पर काव्य के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ यद्यपि एक कवि की ही हैं, किन्तु उनमें मानवीय संवेदना का गहरा पुट है। शास्त्रीयता का अभाव मानवीय संवेदना में स्वत: निमज्जित हो जाता है।

पिछले ४-५ वर्षों से बच्चनजी काव्य के क्षेत्र में अपनी शैली से कुछ प्रयोग करते रहे हैं। उनके प्रयोगों की सराहना हुई हो, ऐसा मैं नहीं कहता। शायद कुछ समीक्षकों ने उन प्रयोगों को गम्भीरता से लिया भी न होगा, लेकिन यदि काव्य के सहज सम्प्रेषणीय रूप पर विचार किया जाए तो जन-मानस के अधिक निकट उनके होने का गौरव उनके काव्य-प्रयोगों को दिया जा सकता है। जब कभी बच्चन के समूचे काव्य पर गम्भीर समीक्षा प्रस्तुत होगी, तब उनके इस प्रयोग-पक्ष पर भी विचार किया जाएगा। सामान्यत: बच्चनजी विशिष्ट जीवनानुभूति के कवि हैं। उस विशिष्ट निजी अनुभूति को मानवीय स्तर पर सामान्य पाठक भी अनुभव करता है, यही उनकी कविता की संवेदनशीलता का प्रमाण है। मैं यदि यह कहूँ, कि उस अनुभूति के काव्यात्मक पक्ष को श्रोता या पाठक भी भोगता और हर्ष-पुलक से उद्वेलित होता है तो मेरे कथन में कोई अत्युक्ति न होगी। बच्चन के पाठकों की विशाल संख्या और बच्चन की लोकप्रियता का रहस्य यह व्यापक अनुभूतिस्पर्श ही है और यही उनके काव्य की सम्प्रेषणीयता को बढ़ाता भी है। आनन्द, उमंग, उल्लास और मस्ती को अपने गीतों में व्यक्त करने वाला कवि यदि पाठक के मर्मस्थल के उस बिन्दु को स्पर्श नहीं करता, जिससे पाठक के अन्त:करण के तार झंकृत होते हैं, तो वह कवि सम्प्रेषणीयता के स्तर पर असफल माना जाएगा। बच्चन ने सम्प्रेषणीयता के स्तर पर जो सफलता प्राप्त की है वह उनके अनेक समकालीन कवियों के लिए ईर्ष्या का विषय बनी रही है।

छायावादोत्तर कवियों में बच्चन का विशिष्ट स्थान रहा है। यह विशिष्टता उन्हें इसलिए मिली कि उन्होंने किसी वाद या प्रचलित प्रणाली का अनुसरण नहीं किया। अपने मन के आवेग और संवेगों को कविता में ढालने की कला उन्हें आरम्भ में ही उपलब्ध हो गई थी, इसलिए उनका काव्य-शिल्प परम्परावादी न होकर सर्वथा वैयक्तिक एवं स्वतन्त्र है। मेरे जैसे अनेक पाठकों को बच्चन के कवि ने अपने साथ रखा और श्रोता के मनस्तोष की सदा उन्होंने चिन्ता की है और अगर ध्यान नहीं दिया तो केवल आलोचक पर। कौन आलोचक क्या लिखता है, क्या कहता है, इसपर सबसे कम ध्यान देने वाला तत्कालीन कवि बच्चन है। इधर पिछले कुछ वर्षों से तो आलोचना-अभियान की योजनाएँ सर्जक साहित्यकारों द्वारा बनाई जाने लगी हैं और प्रच्छन्न रूप से अपने मित्रों द्वारा स्तुतिपरक समीक्षाएँ लिखाई जा रही हैं, लेकिन इस साहित्यिक दुरभिसन्धि की ओर ध्यान न देकर बच्चन ने अपनी तटस्थता और मर्यादा स्थापित की

है। बच्चन को कवि-सम्मेलनों में श्रोताओं का जमघट मिला, प्रशंसकों की भीड़ मिली, साधुवाद और सत्कार मिला। यदि उनके पास कविता-पाठ का कोई रेकार्ड होता तो उससे बच्चन की लोकप्रियता का गवेषणात्मक दृष्टि से अनुसंधान किया जा सकता था। आज का व्यावसायिक समीक्षक सच्चे अर्थों में समीक्षा नहीं लिखता। यह बात बराबर दोहराई जा रही है, लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकल पा रहा है। बच्चन जैसे 'जन-मन-मादन' कवि पर समीक्षाओं का अभाव इसका प्रमाण है। जनता के सबसे अधिक निकट होने का गौरव उन्हें जिस सहज रूप से प्राप्त हुआ, वह पिछले तीन दशक में किसी और हिन्दी कवि को नहीं मिल सका। क्या केवल यही तथ्य समीक्षक को न्यायतुला धारण करने के लिए बाध्य नहीं करता! किन्तु खेद है कि इस तथ्य की भी उपेक्षा होती रही है। बच्चन के अन्तरंग परिवेश के व्यक्ति यदि उनके बारे में कुछ लिखें तो मुझे विश्वास है कि अनुसंधान की दृष्टि से भविष्य में उनकी कृतियों का सही मूल्यांकन हो सकेगा। मैं स्वयं उनकी रचनाओं का प्रारम्भ से प्रशंसक रहा हूँ। प्रत्येक कृति को मैंने पढ़ा है और कुछ कृतियों को तो अनेक बार भी। लेकिन मैंने भी स्वयं समीक्षा के नाम पर कुछ नहीं लिखा, इसका मुझे स्वयं खेद बना रहा है। लेकिन कवि सिंह के समान अपने मार्ग पर चलता रहता है, इधर-उधर झाँकने-ताकने और आलोचकों की ओर देखने की उन्हें आवश्यकता भी क्या है! बच्चन उन्हीं सत् कवियों का सच्चे अर्थों में प्रतिनिधित्व करते हैं।

एक अंतरंग झाँकी

प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त'

बच्चन मेरे मित्र हैं। मेरे बड़े भाई हैं। मेरे हितैषी हैं। और जब कोई इतना अपना हो, इतना नज़दीक का, तो उसके बारे में कुछ कहना-लिखना बड़ा मुश्किल हो जाता है। मेरी यह मुश्किल समझी जा सकती है।

बच्चन प्रतिष्ठित कवि हैं। अत्यन्त लोकप्रिय हैं। लगभग तीन दशाब्दियों से वे निरन्तर लिखते आ रहे हैं। उनके लेखन ने साहित्य की श्री-वृद्धि की है। साहित्य का भंडार भरा है। नये वातायन खोले हैं। नयी दिशाएँ दी हैं। ये बातें सब लोग जानते हैं—वे सब लोग, जो साहित्य पढ़ते हैं अथवा साहित्य में रुचि रखते हैं। इन बातों को दुहराने से कोई लाभ नहीं है।

बच्चन बहु-चर्चित कवि रहे हैं। उनके व्यक्तित्व पर, और उनकी रचनाओं पर, बहुत-कुछ लिखा गया है। तब से लिखा गया है, जब उन्होंने स्वयं लिखना शुरू किया था। उनके बारे में आज भी लिखा जा रहा है। आश्वस्त हूँ कि आगे भी लिखा जाएगा। मैंने अपने लिए वह दिशा नहीं चुनी है।

बच्चन साठ की उम्र पार कर चुके हैं। मित्रों ने आदेश दिया है कि उनके विषय में मैं भी कुछ लिखूँ। स्वयं चाहता हूँ कि कुछ लिखूँ। जानता हूँ कि लिखने की बातें मेरे पास हैं। ऐसी बातें, जो मैं ही लिख सकता हूँ। कोई और नहीं लिख सकता। मैं यह लिखना चाहता हूँ कि बच्चन जो आज हैं, जो वे दीखते हैं, जो कुछ उन्होंने लिखा है, वह कैसे संभव हुआ है। किन परिस्थितियों ने, किन शक्तियों ने, किन बातों ने उसके लिए ज़मीन तैयार की है। वस्तुत: मैं बच्चन के अन्तरंग जीवन की, घरेलू जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

बच्चन को जब मैंने पहले पहल देखा-जाना, वे प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्र थे। उन्हीं दिनों विश्वविद्यालय की साहित्य समिति की ओर से एक गल्प-प्रतियोगिता आयोजित की गई थी, जिसमें वहाँ के छात्रों ने भाग लिया था। सभापति होकर बनारस से प्रेमचन्दजी आए थे। प्रतियोगिता में बच्चन को द्वितीय स्थान मिला था – एक छात्रा को प्रथम। मुझे वह निर्णय पसन्द न आया था। कुछ समय से मैं भी कहानियाँ लिख रहा था, लिहाज़ा कहानी समझने की कुछ तमीज़ तो मुझे भी थी ही। हरिवंशराय नाम के छात्र ने जो कहानी सुनाई थी, वह मेरी दृष्टि में अधिक श्रेष्ठ थी। फिर वह कहानी जिस ढंग से, जिस लहजे में सुनाई गई थी, वह तो निश्चित रूप से बहुत प्रभावशाली था। उस अनजान छात्र की प्रतिभा ने स्वभावत: मुझे आकर्षित किया था। प्रतियोगिता की

समाप्ति के बाद मैंने, निर्णय के बारे में, निर्णायकों में से दो—डॉ० धीरेन्द्र वर्मा और प्रेमचन्दजी—से बातें भी की थीं। फिर दैनिक 'भारत' में एक नोट भी लिखा था। उसी सिलसिले में बच्चन से मेरी मुलाक़ात हुई थी। उस समय मैंने प्रोत्साहन के कुछ शब्द भी कहे थे।

वह परिचय थोड़े ही दिनों में, जाने कैसे, बड़ा घनिष्ठ हो गया—पारिवारिक। मैं बच्चन के परिवार का एक सदस्य बन गया। प्राय: आठ वर्षों तक हम दोनों प्रतिदिन प्राय: दस-बारह घंटे साथ रहा करते थे। शहर के लोग कहने लगे थे कि दोनों में से किसी एक को बुलाओ, दोनों साथ ही चले आएँगे। और सचमुच, वे ग़लत नहीं कहते थे।

बच्चन अंग्रेज़ी के छात्र थे। एम० ए० का प्रथम वर्ष पूरा करने के बाद ही विश्वविद्यालय उन्हें छोड़ देना पड़ा। अपराध उनका वही था, जो उस समय भारत के समस्त छात्रों का था। उन्होंने स्वतन्त्रता-आन्दोलन के एक जुलूस में भाग लिया था—धरना दिया था। इस तरह विश्वविद्यालय का दामन तो छूटा, लेकिन अध्ययन की धुन न छूटी। श्यामा भाभी की लम्बी बीमारी में भी मैंने बच्चन को दिन-दिन, रात-रात, उनके सिरहाने बैठे, पुस्तकें पढ़ते देखा था। लेकिन वह तो काफ़ी बाद की कहानी है।

बच्चन के परिवार का अंग बन जाने और दिन-रात का बहुत-सा हिस्सा उनके साथ या उनके घर बिताने के बाद भी, मैंने उनको चिट्ठियों के सिवा और कुछ लिखते कभी न देखा था। अंग्रेज़ी के जिस छात्र की एक हिन्दी कहानी मैंने विश्वविद्यालय में सुनी थी, वह शायद प्रतियोगिता के उत्साह में लिख ली गई थी। मैंने उस समय ऐसा ही समझा था। बच्चन मेरे साथ कवि-सम्मेलनों में जाते, साहित्यिक गोष्ठियों में जाते, मेरे या उनके यहाँ भी पढ़ने-लिखने वाले लोग जुटते। मैंने देखा, बच्चन में साहित्यिक सूझ-बूझ तो काफ़ी है, प्रतिभा भी है, पैनी दृष्टि भी है—फिर भी यह आदमी कुछ लिखता क्यों नहीं ? लेकिन शायद सब लोग लिखा नहीं करते। पढ़ते बहुत लोग हैं, विद्वान् भी कम लोग नहीं होते, लेकिन वे सब के सब साहित्यिक थोड़े ही हो जाते हैं !

बच्चन के पिता बड़े नैष्ठिक कायस्थ थे। घर में प्याज़-लहसुन का प्रयोग भी वर्जित था। वे जाड़ा-गर्मी-बरसात, बारहों महीने, नियम से, सूर्योदय से पहले त्रिवेणी-स्नान करते थे। उनका कठोर आदेश था कि घर का प्रत्येक बच्चा जब तक रामायण के इतने पृष्ठ न पढ़ ले, उसे जलपान न दिया जाए। बहुत समय बाद बच्चन ने मुझे बताया था कि पिताजी ने बचपन से ही यदि उन्हें रामायण पढ़ने को मजबूर न किया होता तो सम्भवत: कभी वे कविता की गैल में पाँव न रखते। इसीसे महाकवि तुलसीदास के प्रति उनकी कृतज्ञता की सीमा नहीं है। तुलसी-जयन्ती के दिन वे बड़ी श्रद्धा-भक्ति से, एक आसन पर बैठकर, रामायण का अखंड पाठ करते हैं। विलायत में रहते हुए भी उन्होंने यह क्रम नहीं तोड़ा था।

नैतिकता की यह मर्यादा घर के भीतर भी थी। छूत-छात का बड़ा ध्यान रखा जाता था। अम्मा या भाभी जब रसोई-घर में होतीं, वे एक ख़ास रेशमी वस्त्र पहनती थीं और उस समय बाहर के किसी व्यक्ति को स्पर्श न करती थीं।

बच्चन के साथ मेरे घनिष्ठ परिचय के कई वर्ष बीत चुके थे। बच्चन की पढ़ाई

छूट चुकी थी। परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। पिताजी सेवा-निवृत्त थे। बच्चन के छोटे भाई बी० ए० पास करके बैंक की एक साधारण-सी नौकरी में लग चुके थे। लेकिन घर का बड़ा बेटा, चाहे पढ़े, चाहे कमाए। विश्वविद्यालय से निकलकर बच्चन ने पहले एक व्यावसायिक संस्था के प्रतिनिधि का काम किया। वह काम मन के माफ़िक न हुआ। दिन-रात की यात्राओं ने परेशान कर दिया। फिर अंग्रेज़ी दैनिक 'पायनियर' के प्रतिनिधि बने। लेकिन यह काम भी भाग-दौड़ का ही था। कुछ महीनों बाद उससे भी छुट्टी ली। आकर घर बैठ रहे। दिन-रात पढ़ते और सोचते रहते। मानसिक उद्वेग उन्हें कमज़ोर बनाने लगा। एक दिन मैं ज़बर्दस्ती उन्हें महिला विद्यापीठ पकड़ ले गया। महादेवीजी से कहकर उन्हें वहाँ हिन्दी अध्यापक नियुक्त करा दिया। वेतन था २५ रुपये मासिक। मैंने उनसे कहा था, "पैसे न मिलें, फिर भी तुम यह काम करो। बेकार का दिमाग़ शैतान का कारख़ाना होता है। अपने मन को वह कारख़ाना बनने से बचा लो।"

इससे कुछ ही महीने बाद वे अग्रवाल विद्यालय में चले गए। वहाँ ३५ रुपये मासिक मिले। फिर कुछ ट्यूशन भी करने लगे। सुबह ट्यूशन, शाम ट्यूशन, दिन भर का स्कूल। श्रम बहुत पड़ता, लेकिन गृहस्थी चलती जाती। इस तरह बच्चन का अध्यापक-जीवन आरम्भ हो गया।

एक दिन जब मैं बच्चन के घर पहुँचा, वहाँ भाभी के सिवा कोई न था। वे भी चौके में थीं। मैं बाहर बैठा उनसे बातें करने लगा। तभी उन्होंने आँचल से कुंजी का गुच्छा खोलकर मेरी ओर फेंका और कहा कि ऊपर जाकर अमुक सन्दूक से अमुक चीज़ लेते आओ। ऊपर जाकर मैंने सन्दूक खोला और वह चीज़ ढूँढ़ने लगा तो दो-तीन बड़ी ख़ूबसूरत कापियाँ दीख पड़ीं। उन्हें उलट-पुलटकर देखा। बड़े सुन्दर अक्षरों में लिखी कविताओं से वे कापियाँ भरी हुई थीं। कविताएँ अच्छी लगीं। मैं एक के बाद दूसरी कविता पढ़ने लगा। देर हुई तो नीचे से भाभी ने पुकारा। तब मुझे होश आया कि मैं किसी और काम से आया हूँ। माँगी हुई चीज़ तलाश कर मैं नीचे लौटा। भाभी से पूछा कि उन कापियों में लिखी कविताएँ किसकी हैं? भाभी ने कहा, "तुम्हारा क्या ख़याल है?" मैं बोला, "पत्र-पत्रिकाओं में बच्चन को जो कविताएँ अच्छी लगी हैं, उन्होंने शायद उनकी नक़ल करके रख ली है।" भाभी ने कहा, "तुमने ठीक ही समझा है।" लेकिन यह कहकर वे जिस तरह मुस्कराईं, उससे मुझे सन्देह होने लगा। मैंने ज़ोर देकर फिर पूछा। पहले तो वे टालमटोल करने लगीं, फिर बताया कि वे बच्चन की कविताएँ हैं। लेकिन साथ ही यह हिदायत भी की कि यह बात मैं अपने ही तक रक्खूँ। बच्चन से भी न बताऊँ। नहीं तो वे बहुत हल्ला करेंगे।

मैं तो आश्चर्य से अवाक् हो गया। वर्षों से मैं जिस आदमी के इतने निकट सम्पर्क में हूँ, उसने मुझे गन्ध न लगने दी कि वह कविताएँ लिखता है— और वह भी इतनी अच्छी कविताएँ! इस संयम और आत्म-नियंत्रण का ठिकाना है कोई! आज तो उस घटना को स्मरण करके और आश्चर्य होता है, जब देखता हूँ कि दो पंक्तियाँ भी शुद्ध-शुद्ध लिखने की क्षमता जिनमें नहीं है, वे कैसे मिथ्या आत्म-विश्वास के साथ अपने को साहित्यकार घोषित करते हैं और अपनी रचनाओं के प्रकाशन के लिए किस तरह

उत्सुक-अधीर रहते हैं।

मैंने भाभी से कुछ नहीं कहा। चुपचाप फिर ऊपर चला गया। जल्दी-जल्दी तीन-चार कविताओं की प्रतिलिपि कर ली। फिर सन्दूक बन्द करके कुंजी का गुच्छा भाभी को दे आया। मेरी इस चोरी का पता भाभी को भी न लग सका।

घर आकर वे कविताएँ मैंने कुछ प्रतिष्ठित पत्रिकाओं को भेज दीं। यथासमय वे प्रकाशित हुईं। बच्चन ने उन्हें देखा। मेरी चोरी खुल गई। बच्चन बहुत नाराज़ हुए। एक महीने तक मुझसे बोले नहीं। इस तरह हिन्दी पाठकों के सामने पहली बार बच्चन की कविताएँ आईं। बाद में उन्हीं कविताओं का संकलन 'आरम्भिक रचनाएँ' शीर्षक से दो खंडों में प्रकाशित हुआ।

अभावों के दिन थे, चिन्ताओं की रातें। बच्चन कुछ ट्यूशन करते और बाक़ी वक़्त घर पर बने रहते। अक्सर मैं भी उनके साथ होता। जरूरी नहीं था कि एक ही कमरे में, पास-पास बैठे रहने पर भी हम बातें करते रहें। अक्सर वे चुपचाप कुछ सोचा करते, मैं उन्हींकी लाइब्रेरी से कोई किताब लेकर पढ़ता होता। अक्सर वे कुछ पढ़ते होते, मैं उनकी चौकी पर लेटकर लिखता रहता।

बच्चन कविताएँ लिखते हैं, यह रहस्य मुझपर खुल चुका था। मैं तकाज़ा करता रहता कि लिखने का क्रम उन्हें जारी रखना चाहिए। वे सुनी-अनसुनी कर देते। असल में उन दिनों वे उमर खैयाम की रुबाइयों का अंग्रेज़ी अनुवाद पढ़ रहे थे। फिर और भाषाओं में हुए अनुवादों को पढ़ने लगे। पढ़ने लगे और गुनगुनाने लगे। यह क्रम कुछ ही समय चला था कि एक दिन मेज़ पर बैठकर लिखना शुरू कर दिया। मैं पास बैठा रहता, वे लिखते रहते। एक बैठक में जितने छन्द लिखे जाते, वे मुझे सुनाते। कभी-कभी मूल अंग्रेज़ी भी सुनाते। एक-एक छन्द पर बातें होतीं। जरूरत के मुताबिक सुधार-परिष्कार होता। बच्चन फिर अगली बैठक की तैयारी में लग जाते। कुछ समय बाद इसी क्रम से 'मधुशाला' की भी रचना हुई।

कह चुका हूँ कि बच्चन मेरे साथ कवि-सम्मेलनों और साहित्य-गोष्ठियों में जाया करते थे। अभी तक वे मात्र श्रोता ही रहे थे। अब एक दिन मैंने एक कवि-सम्मेलन में बड़े-बुजुर्गों से धीरे से कह दिया कि बच्चन बड़ी अच्छी कविताएँ लिखते हैं और बड़े अच्छे ढंग से पढ़ते भी हैं। यथासमय काव्य-पाठ के लिए बच्चन का नाम पुकारा गया। बच्चन आग्नेय नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए मंच पर गए। बड़ों का आदेश टाल न सके। एक बार जब उन्होंने जन-समूह में कविता सुनाई तो उनकी धूम मच गई। फिर इलाहाबाद में शायद ही कोई कवि-सम्मेलन हुआ हो, जिसमें बच्चन को आमन्त्रित न किया गया हो। अक्सर तो सिर्फ़ बच्चन की कविताएँ सुनने के लिए ही विभिन्न संस्थाओं द्वारा गोष्ठियाँ आयोजित की जातीं। बच्चन की कीर्ति इतनी प्रबल शक्ति से, इतनी तीव्र गति से फैलती गई कि 'मधुशाला' के प्रकाशन के पहले ही उसके छन्दों की ख्याति मद्रास तक पहुँच गई थी। यह बात मद्रास से लौटकर मुझे प्रेमचन्दजी ने बताई थी।

'मधुशाला' का प्रकाशन हिन्दी काव्य-जगत् की एक ऐतिहासिक घटना थी। मैं नहीं जानता कि अपने साहित्य में और कोई ऐसी पुस्तक है, जो इतनी विवादास्पद रही

हो, जिसकी इतनी चर्चा हुई हो, इतनी अनुकूल-प्रतिकूल आलोचना हुई हो। आश्चर्य की बात यह थी कि जन-समूह में ज्यों-ज्यों 'मधुशाला' का नशा चढ़ता गया, श्रोताओं को बच्चन जिस प्रकार दिनोंदिन मुग्ध विह्वल करते गए, पत्र-पत्रिकाओं में उसी तरह उनके और उनकी रचना 'मधुशाला' के विरुद्ध आक्षेपात्मक, निंदात्मक, और कभी-कभी तो अपमानजनक स्तर की भी, आलोचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। बच्चन शांत रहते, मैं तिलमिला उठता। एक-दो आलोचनाओं का मैंने उत्तर भी दिया था। बच्चन ने इसे पसन्द नहीं किया। बलपूर्वक वाद-विवाद में पड़ने से मुझे विरत कर दिया। कुछ समय बाद ये कटु आलोचनाएँ अपनी मौत आप मर गईं। 'मधुशाला' पैंतीस साल के बाद आज भी ज़िन्दा है। श्रोताओं-पाठकों में उसकी प्यास आज भी ज्यों की त्यों बनी है। मैंने अब तक एक भी जन-समूह ऐसा नहीं देखा, जहाँ बच्चन उपस्थित हों और 'मधुशाला' सुनाने की फ़रमाइश न की गई हो।

'मधुशाला' ने बच्चन के लिए हिंदी के काव्य-जगत् का राजमार्ग खोल दिया। बच्चन पूरी शक्ति और वेग से उसपर आगे बढ़ते गए। उन्हें जो लोकप्रियता, जो ख्याति, जो प्रतिष्ठा मिली, वह संभवत: किसी भाषा के, किसी भी साहित्यकार के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकती है।

इस तरह जब बच्चन काव्य-गौरव का राजमुकुट पहने साहित्य-जगत् में अपनी भास्वर आभा बिखेर रहे थे, तभी घटनाओं का चक्र चला। मेरे पिताजी का देहान्त हो गया। पचीस वर्षों से सेवित प्रयाग छोड़कर मैं पटना चला आया। कुछ समय बाद श्यामा भाभी बीमार पड़ गईं।

मगर भाभी की बीमारी की चर्चा से पहले कुछ और बातें कहना ज़रूरी है। बच्चन का दाम्पत्य जीवन अद्भुत था। भाभी बच्चन के लिए पत्नी से अधिक मित्र थीं। पति पत्नी में मन का, जीवन का ऐसा मेल विरल ही देखा जाता है। एक दिन भाभी ने मुझसे कहा था, "जिस दिन बच्चन के साथ मेरी शादी हुई, उसी दिन, उसी समय से मैंने अपनी सारी इच्छा-आकांक्षाएँ उनमें मिला दी हैं। उनकी इच्छा ही मेरी इच्छा है। उनकी प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता है। उनसे अलग मेरी कोई इच्छा या प्रसन्नता नहीं है।" उन्होंने जो कहा था, अक्षरश: सत्य कहा था। बच्चन के साथ उनका अद्भुत तादात्म्य था। बच्चन की प्रगति के मार्ग के काँटे वे झेल लेती थीं, और उनके पाँवों के नीचे फूल बिछाती चलती थीं।

वही भाभी जब बीमार पड़ गईं तो बच्चन निरीह हो गए। मैं प्रयाग में नहीं था। भाभी ने चारपाई पकड़ ली थी। बच्चन अकेले पड़ गए थे। एक ओर वे परिस्थितियों से लड़ रहे थे, दूसरी ओर बीमारी से। बीमारी भी उस संगिनी की, जो उनके प्राणों का संगीत थी, जीवन की प्रेरणा थी।

बच्चन ने मुझे भाभी की बीमारी की सूचना दी। बीमारी अजीब-सी थी। किसीकी समझ में न आ रही थी। इलाहाबाद में किसका इलाज नहीं हुआ! लेकिन किसीसे कोई लाभ न हो सका। हालत दिनोंदिन गिरती गई। खाना-पीना बन्द हो गया। एक चम्मच पानी भी दिया जाता तो पेट में गुड़गुड़ाहट होती, पाकस्थली के पास एक

छोटी-सी गेंद उभर आती और मिनटों के अन्दर, पिलाया गया वह जल, हरे रंग की क़ै के रूप में बाहर आ जाता।

मैंने प्रयाग जाकर भाभी को देखा। वे हड्डियों का ढाँचा रह गई थीं। अब तो अपनी ताक़त से उठ-बैठ भी न पाती थीं। बच्चन दिन-रात उनकी चारपाई के पास बैठे रहते। उनका सारा काम ख़ुद करते। किसी और को हाथ न लगाने देते। उनका अपना स्वास्थ्य भी गिरता जा रहा था। वे स्कूल और ट्यूशन छोड़ चुके थे। आमदनी बन्द थी। ख़र्च बढ़ गया था। चिंताएँ शरीर को खाए जा रही थीं। भाभी को और बच्चन को देखकर मुझे रोना आ गया। मनुष्य अपनी असमर्थता पर रो ही तो सकता है--और कुछ नहीं कर सकता। मगर बच्चन रोने पर विश्वास नहीं करते थे। वे परिस्थितियों से जूझना जानते थे। जूझ रहे थे – विपत्तियों से, प्रतिकूल परिस्थितियों से, असह्य मानसिक यंत्रणाओं से।

यह क्रम लम्बे बारह महीनों तक चला। भाभी का खाना-पीना बंद था। दिन-रात क़ै होती रहती थी। बच्चन चौबीसों घण्टे उनके पास बने रहते। माँगतीं तो पानी देते। क़ै होती तो उसे साफ़ करते। बाक़ी वक़्त में किताबें पढ़ा करते।

मैं प्रयाग जाता। भाभी को देखता। बच्चन को देखता। भीतर ही भीतर ऐंठकर रह जाता। भाभी के मरने की कल्पना से भी मन आतंक से भर उठता था। भाभी से रहित बच्चन के जीवन की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। लेकिन सच्चाई यह थी कि भाभी दिनोंदिन मौत की ओर घिसटती जा रही थीं। बच्चन छीजते जा रहे थे। मैं असहाय दर्शक की भाँति, एक किनारे खड़ा, चुपचाप यह सब देख रहा था।

लेकिन यह स्थिति असह्य थी। पटना आकर मैंने बड़े-बड़े डॉक्टरों से बातें कीं। उन्होंने मरीज़ को पटना ले आने की सलाह दी। मैं भागा-भागा फिर इलाहाबाद गया। लेकिन भाभी का शरीर इतने लम्बे सफ़र के लायक़ नहीं था। मेरा प्रस्ताव सुनकर सारा परिवार भयभीत हो गया। बच्चन भी घबराए। सबने विरोध किया। लेकिन अन्ततः मेरी ज़िद की जीत हुई। भाभी को लेकर बच्चन पटना आए। भाभी को अस्पताल में दाखिल किया गया। बड़े-बड़े डाक्टरों ने उन्हें देखा-परखा। इलाज चलने लगा। लेकिन जीवन की आशा किसीको न थी। सबने कहा, मर्ज़ ला-इलाज है। डीप एक्स-रे से जीवन की अवधि थोड़ी बढ़ाई भर जा सकती है। इससे अधिक की आशा व्यर्थ है।

लेकिन यह भी कोई आशा है? किसीको तिल-तिल करके मरने के लिए कुछ अधिक दिनों तक जिलाए चले जाने में क्या तुक है? बाहर के एक बड़े डॉक्टर को बुलाया गया। उन्होंने कहा, केवल ऑपरेशन से ही कुछ हो सकता है। निश्चय नहीं है, संभावना ज़रूर है। शरीर की जो स्थिति है, उसमें यह भी सम्भव है कि ऑपरेशन के दरम्यान ही देहान्त हो जाए--लेकिन आशा की वही एक किरण भी है। ख़तरा ज़रूर है, मगर उठाने लायक ख़तरा है। आपरेशन सफल हुआ तो अच्छी हो जा सकती हैं, नहीं तो मृत्यु तो हर हालत में निश्चित ही है। क्या फ़र्क़ पड़ता है, यदि मरना ही है तो कल मरीं या छह महीने बाद? मरीज़ के लिए तो इस हालत में जीना ही ज़्यादा तकलीफ़देह है।

डॉक्टर बड़े प्रसिद्ध और दक्ष थे। आत्मीय भी थे। उन्होंने ठीक सलाह दी थी। लेकिन बच्चन का मन इसे स्वीकार न कर पा रहा था। मैंने बच्चन को दिन-रात समझाना शुरू किया। जब मैं ज़्यादा ज़ोर देता, वे कातर हो उठते। बात आगे न बढ़ पाती। आख़िर भाभी के पिताजी को तार दिया गया। वे दौड़े-दौड़े पटना आए। भाभी उनकी बहुत प्यारी बेटी थीं। ऑपरेशन की बात सुनकर वे भी विह्वल हो गए। लेकिन कई दिन की लगातार बहस और कोशिश से मैं इस बार फिर जीत गया। पिता और पति दोनों ने ऑपरेशन की बात मान ली।

आखिर एक दिन ऑपरेशन हुआ। ऑपरेशन साधारण नहीं था। अस्पताल के सर्जनों का जुलूस इकट्ठा हो गया था। मुझे याद है, ऑपरेशन थियेटर में जाते समय भाभी खिलखिलाकर हँसी थीं। हाथ जोड़कर उन्होंने हम दोनों भाइयों को प्रणाम किया था। वे उल्लास से भर गई थीं जैसे। मुक्ति के लिए जा रही थीं—रोग की यन्त्रणा से मुक्ति अथवा जीवन से मुक्ति। ये उन्हींके शब्द हैं। उन्होंने पिछली रात मुझसे यही कहा था।

ऑपरेशन तीन घण्टों तक चलता रहा। तीन घण्टों तक हमारे प्राण अधर में लटके रहे। आखिर मेजर भार्गव बाहर आए। उन्होंने बच्चन के दोनों कन्धों पर हाथ रखकर कहा, "खेद है, मैं आपके लिए कुछ न कर सका। पाकस्थली सूखकर सिकुड़ गई है। विदेशों में उसे काटकर रबर की नली लगा देते हैं। वह आठ-दस वर्षों तक काम देती है। लेकिन हमारे पास उसके लिए न साधन हैं, न औज़ार। भगवान का भरोसा कीजिए। मरीज़ को घर ले जाइए। अब यहाँ रखने से कोई लाभ नहीं।"

भाभी को होश आया तो पूरी बीमारी में पहली बार उनकी आँखों में आँसू भर आए। वे अच्छी नहीं हुईं, मरीं भी नहीं। फिर भी मरना ही है। अच्छा अब नहीं होना। जीवन के प्रति ममता की जो एक पतली-सी डोर थी, वह भी टूट गई। मरना ही है तो फिर विलम्ब क्यों? भाभी ने हिम्मत हार दी। हिम्मत गई तो सब कुछ गया।

ऑपरेशन के बाद वे पटना के अस्पताल में दस दिन और रहीं। इन दस दिनों में शरीर बड़ी तेज़ी से गला। बदन में मांस तो था ही नहीं। अब तो अपना शरीर हिला-डुला भी न पातीं। चमड़े से मढ़ा हड्डियों का एक कंकाल हमारे सामने पड़ा था, जो साँस लेता था और बहुत ही धीमी आवाज़ में कुछ शब्द भी बोलता था। आठवें दिन तो हाथ-पैरों में सूजन भी आ गई। भय और आतंक से हमारे मन-प्राण सिहर उठे। भाभी के पिताजी ऑपरेशन के बाद प्रयाग जा चुके थे।

दसवें दिन सबेरे हम लोग इलाहाबाद के लिए रवाना हुए—एक तरह से भाभी की जीवित लाश लेकर। फ़र्स्ट क्लास के रिज़र्व डिब्बे में बच्चन को बुख़ार आ गया। दो-तीन घण्टों में बुख़ार का वेग इतना बढ़ा कि वे बेहोश हो गए। मेरी चिंता और घबराहट का अन्त न था। एक ओर बेहोश बच्चन, दूसरी ओर मिनट-मिनट पर क़ै करती हुई मरणासन्न भाभी—और उनके बीच अकेला मैं। राम-राम करते चार बजे के लगभग गाड़ी इलाहाबाद पहुँची। तब तक बच्चन भी सम्भल चुके थे। बुख़ार कम हो गया था। होश में आ गए थे। स्टेशन पर भाभी के और बच्चन के पिताजी एंबुलेंस के साथ

मौजूद थे। भाभी को मैं जिस घर से, जिस हालत में ले गया था, उसी घर में उससे बुरी हालत में वापस छोड़ आया। अब तो मौत का ही इन्तज़ार करना था। दिन गिनने थे सिर्फ़। सारी उम्मीदें ख़त्म हो गई थीं।

लेकिन शायद मैं ग़लत कह गया। उम्मीद ख़त्म नहीं होती। जब तक साँस रहती है, आस भी बनी रहती है। मेजर भार्गव ने कहा था, "भगवान् का भरोसा कीजिए। कभी-कभी पेट को सिर्फ़ चाक कर देने से भी चमत्कार होता है। बाहर की हवा लगने-भर से ऐसे केस अच्छे होते देखे गए हैं।" और सच, हमारी आशा के विपरीत, धीरे-धीरे भाभी का स्वास्थ्य सुधरने लगा—पता नहीं, मेजर भार्गव के कहने के मुताबिक या होमियोपैथिक चिकित्सा के प्रभाव से। प्रतिदिन शाम को, चार बजे की डाक से, बच्चन मुझे एक पोस्टकार्ड लिखते। मुझे पटना में रोज़-रोज़ भाभी की प्रगति का पता मिलता रहता। मृत्यु के मुख में गई हुई भाभी, बड़े आश्वस्त पदक्षेप से जीवन की ओर लौटी आ रही थीं। ईश्वर के प्रति मेरी आस्था का अन्त नहीं था।

इस तरह तीन महीने गुज़र गए। मैं हर महीने इलाहाबाद जाकर स्वयं भाभी को देख आता। हर बार उनके स्वास्थ्य में पहले से अधिक सुधार देखकर प्रसन्नता होती। तीन महीने बाद, भाभी के बारे में बच्चन ने जो अन्तिम पत्र मुझे लिखा था उसमें सूचना थी कि आज उन्होंने स्वयं बाथरूम में जाकर स्नान किया है, कंघी-चोटी की है, चार फुलके खाए हैं, दिन भर आगंतुक महिलाओं से बातें करती रही हैं और अब अपने पिताजी से बातें कर रही हैं।

यह पत्र मुझे दूसरे दिन सवेरे दस बजे मिला था। दो घण्टे बाद, बच्चन के छोटे भाई (अब स्वर्गीय) शालिग्राम का तार मिला, जिसमें भाभी के अवसान की सूचना थी। नियति की इस प्रवंचना ने उस दिन मुझे स्तब्ध कर दिया था।

बच्चन के जीवन के, इसके बाद के दो वर्षों का इतिहास, अवसाद का, रिक्तता का, पीड़ा का इतिहास रहा। बच्चन आत्मलीन रहे। इसी अवधि में 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकांत संगीत' के गीत लिखे गए। दर्द के इन सजीव गीतों ने हिन्दी में धूम मचा दी। पीड़ा की यह जीवन्त अभिव्यक्ति सराह-सराहकर पढ़ी गई। इन गीतों की प्रशंसा में न जाने कितना कुछ कहा-लिखा गया, लेकिन मैं नहीं जानता कि उनकी आत्मा को भी किसी और ने जाना-समझा होगा। लेखक के अलावा उसका दावा सिर्फ़ मैं कर सकता हूँ। इसलिए कर सकता हूँ कि उन गीतों में जो स्थितियाँ हैं, जो ध्वनि है, जो संकेत हैं, उन्हें मैंने देखा-जाना था, मैं उनका साक्षी रहा था, बच्चन और भाभी के सहित मैं उनके साथ जिया था किसी दिन।

लेकिन फिर वे दिन भी नहीं रहे। दिन कोई भी नहीं रह पाता। ज़िन्दगी ऐसी जादूगरनी है, जो हमें जाने कितनी भूलभुलैयों से गुज़ार ले जाती है। वह हमें सुख देती है, यन्त्रणा देती है, अनुभव देती है—जाने कितना कुछ देती है, कितना क्या छीन लेती है और इस धूप-छाँह की राह से खुद आगे बढ़ती चली जाती है।

उन दो वर्षों के चिन्तन-मनन और घोर हृदय-मंथन ने बच्चन को नयी ज़िन्दगी शुरू करने की प्रेरणा दी। उन्होंने वर्षों से छूटी हुई पढ़ाई शुरू की, एम० ए० किया,

ट्रेनिंग की, कवि-सम्मेलनों में आना-जाना आरम्भ किया। उस समय तक उनकी प्रसिद्धि और लोकप्रियता आसमान चूमने लगी थी। कुछ समय बाद वे प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के अध्यापक नियुक्त हो गए। इसकी सूचना देते हुए उन्होंने मुझे लिखा था, "श्यामा की कितनी इच्छा थी कि वह मुझे इस पद पर देखे। आज वह यदि जीवित होती···"

वाक्य पूरा नहीं किया गया था, लेकिन उसकी मर्म-व्यथा समझने में मुझे असुविधा नहीं हुई थी।

भाभी की मृत्यु से बच्चन के जीवन में जो एक रिक्तता, एक विशृंखलता, एक अवसाद भर आया था, अब वह धीरे-धीरे दूर होने लगा था। ज़िंदगी में एक तरतीब आने लगी थी। एक बार फिर उनका कर्मठ जीवन आरंभ हो गया था। लेकिन देशभर के कवि-सम्मेलनों में भागते-दौड़ते वे परेशान होने लगे। छुट्टियाँ सारी ख़त्म हो जातीं, विश्वविद्यालय से बार-बार अतिरिक्त छुट्टी लेने में उन्हें असुविधा का अनुभव होता। किसी भी कवि-सम्मेलन का संयोजक उनकी अस्वीकृति सुनने को राज़ी न होता; बच्चन से भी बहुत कठोर होते न बनता। सोचते, इतने अनुनय-विनय, आग्रह-अनुरोध के बाद भी न ज़ाऊँ तो लोग अभिमानी समझेंगे। इसलिए वे कवि-सम्मेलनों में जाते। जाते और परेशान होते। एक बार बहुत झुँझलाकर उन्होंने मुझे लिखा था—"महीने में दो-तीन बार जब कवि-सम्मेलनों में जाने के लिए बिस्तर खोलना-बाँधना पड़ता है तो तुम्हारे ऊपर बड़ा गुस्सा आता है। तुम यदि मेरे जीवन में न आए होते तो आज मेरी यह दुर्दशा न होती।"

बच्चन के इस अभियोग का मैंने उन्हें कोई उत्तर न दिया था, लेकिन अपने आप मैं इसे स्वीकार भी न कर सका था। मन ही मन मैंने कहा था—'मैं तो निमित्त मात्र था। मैं न होता तब भी तुम्हारी शक्तिमती प्रतिभा का अंकुर विघ्न-बाधाओं की कड़ी ज़मीन को फोड़कर बाहर निकल ही आता और दो दिन आगे या पीछे, ऐसा ही विशाल महीरुह बनकर खड़ा होता। उसकी शीतल छाया और सुस्वादु फलों से असंख्य लोगों को सुख मिलता, तृप्ति मिलती।'

और अब बच्चन साठ की उम्र पार कर गए हैं। पिछले पैंतीस वर्षों से वे निरंतर लिखते आ रहे हैं। वे युग के साथ नहीं चले, उससे आगे चलते रहे। हिंदी काव्य को वे नयी दृष्टि, नयी चेतना, नयी ज़मीन देते रहे। मैं नहीं जानता कि गीतों का ऐसा समर्थ रचयिता किसी भी भारतीय भाषा में, कोई और है। लेकिन अब उनमें हृदय की जगह मस्तिष्क प्रबल हो गया है। अब उनकी वाणी में बुढ़ापा बोलने लगा है। उनके स्वर में थकावट के संकेत मिलने लगे हैं। इससे मुझे तकलीफ़ होती है। एक ज़माने में जो कवि मस्ती का माहौल पैदा करता चलता था, तरुणाई के तकाज़े पेश करता था, शक्ति की स्रोतस्विनी प्रवाहित करता हुआ ललकारता था—

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर
बँधे हाथ, नत निष्प्रभ लोचन
झुकी हुई अभिमानी गर्दन

यह मनुष्य का चित्र नहीं है, पशु का है रे कायर
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर

उसीकी वाणी से आज थकावट के, अवसाद के, पराजय के बोल कैसे फूट पाते हैं ? लेकिन फिर सोचता हूँ, वार्धक्य का प्रभाव शायद शरीर पर ही नहीं, मन पर भी वैसा ही घातक होता है। उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, झुठलाया नहीं जा सकता।

बच्चन ने जीवन को ठगा नहीं है। उसका देय उन्होंने पूरी तरह उसे दिया है। वे स्वयं भी जीवन से ठगे नहीं गए। उन्हें देशभर की प्रभूत प्रीति मिली है, अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिली है, यथेष्ट सम्मान मिला है और एक छोटा-सा, सुखी-सुन्दर परिवार मिला है। उनके स्वर में चाहे जो परिवर्तन आया हो, (और परिवर्तन क्या जीवन का चिह्न नहीं है ?) उनकी वाणी मूक नहीं हुई, उनकी लेखनी स्तब्ध नहीं हुई है।

कालिदास ने 'निवात-निष्कंप-प्रदीप' की बात कही है। किंतु मैंने बच्चन को प्रबल झंझावातों के बीच भी निष्कंप प्रदीप की तरह जलते देखा है। प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी वे डगमगाते न थे, विचलित न होते थे – अधिक से अधिक यही होता था कि स्तब्ध हो जाते थे, आत्मलीन, और उसी स्थिति में जीवन की राह पर आगे बढ़ते जाते थे।

बच्चन नियमित जीवन के अभ्यासी रहे हैं। समय पर सोना, समय पर जागना, समय पर व्यायाम-भोजन करना और इसी तरह, जिस काम का जो समय है, उसे उसी समय कर डालने का उन्होंने सदा ध्यान रखा है। जाने-अनजाने लोगों के रोज-रोज़ आने वाले पत्रों का उत्तर देने में भी वे सदा सावधान रहे हैं। इतनी व्यस्तताओं और संघर्षों के बीच यह साधारण बात नहीं है।

बच्चन को मैंने सदा, सभी काम व्यवस्थित रूप से करते हुए देखा है। स्वभावत: उनमें सौंदर्य का भी मिश्रण होता है। उनके जीवन में, रहन-सहन में, बात-व्यवहार में इस व्यवस्था और सौंदर्य को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

बच्चन दृढ़ संकल्प और कर्मठता के प्रतीक हैं। वे फूल जैसे कोमल हैं तो कहीं वज्र जैसे कठोर भी हैं। अपनी मान्यताओं से, अपने निश्चय से उन्हें तिलभर भी डिगा सकना संभव नहीं है।

बच्चन परिश्रमी हैं, ईमानदार भी। ईमानदार जीवन के प्रति, कर्म के प्रति, साहित्य के प्रति भी। यह ईमानदारी उनके जीवन में, उनकी रचनाओं में स्पष्टत: प्रतिफलित दीखती है।

बच्चन योद्धा का जीवन जीते आए हैं। उन्होंने समझौता करना नहीं जाना। बाधाओं के प्रतिकूल परिस्थितियों के नागफण पर पैर रखकर वे जीवन के मार्ग पर आगे बढ़ते आए हैं।

इन पंक्तियों में मैंने भाभी की, उनकी बीमारी की, उनकी मृत्यु की चर्चा ज़रा विस्तार से की है। इसका कारण है। कोई माने या न माने, मैं जानता हूँ, इसलिए मानता भी हूँ कि बच्चन के निर्माण में श्यामा भाभी का बहुत बड़ा हाथ रहा है। भाभी ने जीकर भी और मरकर भी उनकी प्रगति का, उनकी उन्नति का, उनके यश का मार्ग

प्रशस्त किया है। भाभी की मृत्यु, बच्चन के जीवन का एक ऐसा मोड़ थी, जिसने उन्हें नयी प्रेरणा दी, नयी जीवन दृष्टि दी और निरन्तर आगे बढ़ते रहने को प्रोत्साहित किया। मुझे तो लगता है, आज भी वे कहीं अदृश्य अंतरिक्ष से बच्चन को सहज स्नेह से देखती रहती हैं, उनके यश:सौरभ से आमोदित होती रहती हैं और उनकी कठोर कर्मठता से तृप्त-प्रसन्न होती रहती हैं।

यह सच है कि बच्चन ने आत्मनिष्ठता से, ईमानदारी से, नियमानुवर्तिता से, सुदृढ़ संकल्प से और संयोजित श्रम से अपना निर्माण स्वयं किया है; लेकिन यह भी उतना ही सच है कि इन सबमें बच्चन को श्यामा भाभी से जो सहयोग मिला है, वह उन्हें वही दे सकती थीं। निश्चय ही बच्चन की सारी महत्ता में, प्रतिष्ठा में, काव्य-यात्रा में श्यामा भाभी के हाथों का सहज सहयोग कहीं छिपा रहा है। बच्चन का स्मरण करने पर भाभी को भुला देना संभव नहीं है—कम से कम मेरे लिए, क्योंकि मैं बच्चन के निर्माण के दिनों में उनके साथ अविच्छिन्न रूप से संपृक्त रहा हूँ।

स्मृति की मंजूषा से अतीत की धरोहर को निकालकर मैंने इन पंक्तियों में उसे मूर्त करने की चेष्टा की है। बच्चन मेरे बड़े भाई हैं, मेरे मित्र हैं, मेरे परम आत्मीय हैं—मैं कामना करता हूँ, और प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे शतायु हों और अपने अनुभवों का, अध्ययन-चिंतन का, बुद्धि-विवेक का अवदान आने वाली पीढ़ियों को देते रहें। तथास्तु।

एक याद :
वसन्त में कभी उन्मुक्त फूली सघन अमराई की !

राजनाथ पाण्डेय

मेरी कई बार इच्छा हुई थी कि मैं बच्चन के बारे में कुछ लिखूँ, किन्तु मैंने अब तक ऐसा किया नहीं था। किया नहीं था इस कारण कि ऐसा होना हो सका नहीं, वजह यह कि ऐसा होने में मुझे बच्चन के प्रति अपने ही ममता-भरे हृदय में पीर-प्रद चीड़-फाड़ करनी होती। पर आज एक उन मेरे ऐसे आयुष्मान् का आग्रह है जिन्हें (पता भी न होगा कि) मैंने लगभग ३० साल हुए गोरखपुर में अपनी गोद में खिलाया था। अत: यह पीर झेल लेने के लिए तैयार हो गया हूँ।

बच्चन ने, यद्यपि उन सबमें से बहुतों को पढ़ा है, और ख़ूब ही पढ़ा है, परन्तु वे हैं नहीं अत: नहीं हो पाए हैं उनके कि जिनके अग्रणी आचार्य थियोफ़िल गोत्या (१८११-१८७२ ई०) थे, जिनका कहना था कि अपनी कविताओं में अपनी हृदय-मंजूषा के रत्न वे कौन बिखेरते हैं ! कमरा बुहारने में एक मूर्ख भी खिड़की से बाहर घर की कोई क़ीमती चीज़ नहीं, सिर्फ़ कूड़ा ही तो फेंकता है। सो यदि "मेरी मृत्यु के बाद हृदय में संचित मेरे मनोराग रूपी हीरकों की कान्ति अपनी क़ब्र पार प्रभा से पथ आलोकित कर सके; यहाँ तक कि पंथी रुक पड़ें, और परस्पर कह सकें कि 'देखो। वह, वहाँ गोत्या की मज़ार है, जहाँ उसके हृदय में दफ़न अमूल्य रत्न पदार्थ झलझला रहे हैं', तब मानना कि मेरा हृदय कविता रत्नों की मंजूषा थी और मैं एक कवि था।"[1]

पर बच्चन तो उस कविकुल का सदस्य है जिनमें के एक एकाक्ष कहा करते थे :

हौं सब कबियन कर पछिलगा। तिन बल कछु कइ चलेउँ देइ डगा।।
हिय भँडार नग आहि जो पूँजी। खोली जीभ तार कै कूँजी।।
रतन-पदारथ बोलै बोला। सुरस पेम मधु भरे अमोला।।
जेहिं के बोल बिरह कै छाया। का तेहिं धूप सो का तेहिं छाया।।
फेरे भेस रहै भा तपा। धूर लपेटा मानिक छपा।।
मुहमद कबि जो परेम किय, ना तेहिं रकत न मांसु।
जेइ मुख देखा सोइ हँसा, सुनि तेहि आवइ आँसु।।

देखा न आपने ? हृदय के रतन-पदारथ की बात यहाँ भी कही गई है। पर दोनों

---

१. देखिए थियोफ़िल गोत्या का उपन्यास 'मादामायज़ेल डि मापाँ' (१८३५), मॉडर्न लाइब्रेरी सिरीज़ के अंग्रेज़ी अनुवाद में, भूमिका भाग, पृष्ठ ७-८

में कितना अन्तर है। गोत्या उस समर्थ तत्त्वज्ञानी एवं समीक्षक भूबेर (१७५४-१८२४ ई०) द्वारा प्रभावित अपने देशकालगत साहित्यिक-परम्परा का अनुवर्ती था जो 'स्टाइल इज़ दी क्वालिटी टु कीप बैक' (निज को पीछे रखे रहने की क्षमता ही शैली या व्यक्तित्व है) का नारा बुलन्द करके फ्रान्स की साहित्य-धारा में निरभिमानता-जनित-अभिमानता की एक अनोखी लहर उत्पन्न कर गया था। परन्तु जायसी कवि के उस शाश्वत भारतीय आदर्श के पुजारी थे, जिस आदर्श का मूलसूत्र है समर्पण—सम्पूर्ण समर्पण। तभी तो वह (जायसी) मर जाने के बाद क़ब्र के भीतर से अपने रत्नों की विभा विकीर्ण करने की कल्पना न कर रतन-पदारथ भरी अपने हृदय की बन्द मंजूषा के जीभ-द्वार को तालु-रूपी उघरनी या कुंजी से खोलकर समग्र विश्व के लिए उन रत्नों को बिखेरता गया है। बच्चन के जीवन का भी सम्पूर्ण समर्पित पुरुषार्थ—उसका प्रारंभिक धूलि-धूसरित छिपा माणिक्यमय व्यक्तित्व—उसके काव्य में उँडेला हुआ है। पिता की मातृभाषा इलाहाबादी अवधी या 'प्रयागवाली' अवधी, और माता की मातृभाषा खाँटी 'परतापगढ़ी' अवधी; और अवधी का अनमोल 'रतन' 'पद्मावत' महाकाव्य का कोहेनूर बच्चन को विरासत में मिला। सूक्ष्मता को सूँघ लेने में समर्थ समीक्षक चाहेंगे तो पहचान सकेंगे कि बच्चन की वाणी में कितना मीठा असील अवधी का स्वाद तथा कंठ में कितनी मार्मिक जायसी वाले वियोगजनित घावों की ख़लिश अन्तर्हित है। स्वाद और ख़लिश ही नहीं; जिस प्रकार जायसी मुसलमान होकर भी भारतीय परिवार-परम्परा की परम आत्मीयता अपने काव्य में अवतरित कर सके हैं, उसी तरह बच्चन के स्व-स्वीकृत 'हालावासित'[1] (या सुवासित!) स्वरों के सोंधेपन में—उसके स्पर्श के मर्म में, वैष्णव वृत्ति की प्रचुर अगरु-सुगन्ध सँजोई हुई है।—

वैष्णव जन ते तेने कहिये
जे पीर पराई जाने रे।

अत: जीवन और काव्य के इस अन्योन्याश्रय में, कवि के जीवन को समझे बिना बच्चन के काव्यमर्म को बूझ पाना सम्भव नहीं है। मेरी दृष्टि में बच्चन के काव्य का सर्वाधिक प्रशस्त अंग वही है, जो कवि के तत्कालीन जीवन में सघन अमराई सदृश उत्फुल्ल हुआ था; और उसी कभी कहीं वसन्त में उन्मुक्त फूली हुई सघन अमराई की याद मेरा बच्चन है।

"फूल सोइ जो महेसुर चढ़े।"

सो बच्चन की काव्यसृष्टि आरम्भ में, और बहुत कुछ मध्य तक भी, अस्नेह से स्नेह की ओर प्रेरित रही, और अस्नेह में स्नेह का सृजन भी करती रही थी। किन्तु अपने उत्थान के तृतीय चरण में, जीवन की तिजहरिया में मुझे उसमें स्नेह से अस्नेह की, तितिक्षा की सीमारेखा के निकट पहुँचते अस्नेह की, गति दिखाई पड़ी है। उनमें जो यह अंतर प्रस्तुत हुआ है, अत्यन्त स्वाभाविक भी है। भारत की दिल्ली जैसी राजधानी में—

---

१. बच्चन कायस्थ कुलोद्भव होने से अपनी नसों में हाला की रंगत को अनिवार्य मानते रहे हैं।

अपने 'आपाधापी' जीवन में, पैठने के बाद एक सत्कवि को भी कवि-चतुर बनकर वहाँ का जीवन-व्यापार चलाने के लिए काफ़ी व्यावहारिकता, व्यावसायिकता एवं औपचारिकता बरतनी पड़ती है। और परिवर्तित परिस्थितियों का — रक़म-रक़म की परिवर्तितियों का — भी तो कुछ आग्रह होता ही है। अतः प्रत्येक सचेतन प्राणी को स्वेच्छया या अनिच्छया बदलन का वरण करना ही पड़ता है। अच्छा ही किया बच्चन, जो यार ! तुमने टोपी नहीं लगाई, यद्यपि तुम्हारा प्रथम दर्शन मुझे टोपी में ही मिला था। टोपी न लगाते रहने का सर्वाधिक लाभ वार्धक्य ही में तो हासिल होता है। हमारी तो टोपी (गांधी टोपी) अभी साठ पहुँच ही रहे कि हर साल (कभी हर छमासे ही) शिर पर बड़ी पड़ने लगी है। सो बदलन के साथ-साथ यह सिकुड़न भी अनिवार्य है। टोपी की ? जी नहीं, सिर की। बदलन टोपी की बराहे सिकुड़न शिर की। गांधी टोपी पहनने वाले कई नेताओं के शिर से टोपी के बरवख़त बहते रहने का कारण बदलन की इस अनिवार्यता को स्वीकार न करना तथा सिकुड़न की यथार्थता को पहचान न सकना ही तो था।

और सबके ऊपर यह भी कि बच्चन ने बहुत कुछ अहं को मार लिया है, और एक अर्से से वे अपने प्रभु के चरणों में अपने अन्तिम समर्पण का भी ख़्याल रखने लगे हैं। तभी तो सन् १९६१ ई० में जब उनके 'राजू भाई' भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय में नियुक्त हो सागर विश्वविद्यालय के प्रतिनिधायन पर नेपाल जा रहे थे, उस समय बच्चनजी ने राम-राम और अन्य बातें कहने के साथ-साथ अपना विशेष नमन भगवान पशुपतिनाथ के चरणों में निवेदन करने का आदेश किया था और लिखा था कि उनसे (भगवान पशुपति से) बच्चन की ओर से कह दिया जाए कि, "अन्त समय गति तोरी हो भोलानाथ ! अन्त समय गति तोरी ! !"[1]

तो यह निर्विवाद रहा कि बदलन अनिवार्य और बदलन का वरण अपरिहार्य है; साथ ही इष्ट में इस बदलन को स्वीकारना उसके लिए जो उसका जितना ही निकटस्थ हो उतना ही कठिन और कभी-कभी असम्भव भी हो जाता है। मुझे स्वयं दादा ही ने (पंडित माखनलाल चतुर्वेदीजी ने) बताया था। और भी कई लोग जानते ही होंगे कि खंडवा में जब दादा की षष्टि-पूर्ति का समारोह मनाया गया था, माताजी जीवित थीं। दादा सज-बजकर समारोह मंडप में प्रस्थान के लिए निकलते समय माताजी का चरण-स्पर्श करके जब चलने लगे थे, तब माताजी ने एकाएक 'ठहरो !' कहकर उन्हें रोक लिया था, और ब्रज भैया के सबसे छोटे बच्चे के कजरौटे में से जरा-सा काजल उँगली में लेकर उरेह दिया था — यह कहकर कि "मेरे लाल को किसीकी नज़र न लग

---

१. "गुह्येश्वरी मन्दिर से लौटकर बाबा के मन्दिर में जा, पितासमेत निज नाम लेकर मैंने अपना तथा मेरे जिन दो बन्धुओं ने कहा था, उन हरिवंशराय सुत प्रतापनारायण, तथा चन्द्रशेखर सुत नर्मदाप्रसाद अवस्थी का, जबलपुर की नर्मदा तथा प्रयाग और काशी की गंगा के जल से सिक्त प्रणाम इसी प्रकार सविधान सम्मिलित कर बाबा से जिन शब्दों में निवेदन किया था, वे बहुत कुछ इस प्रकार थे।" देखिए, राजनाथ पांडेय लिखित 'नेपाल और नेपाल नरेश', पृ० १७; प्रकाशक : ज्ञानपीठ (प्राइवेट) लिमिटेड, पटना

जाए।" इसी प्रकार बच्चन भी जिसके लिए कवि सबसे बाद में हों, पर भाई, सुहृद्मित्र तथा सगे-सम्बन्धियों से भी अधिक निकटस्थ सब से पहिले रहे हों और हों भी, तथा जिनके लिए (बच्चन के लिए) यही सब इन पंक्तियों का लेखक भी रहा है, और है भी, उसके लिए बन्धु की वर्तमान दूरस्थता के बावजूद उसकी याद ही सब कुछ है, क्योंकि —

गर्चे दूरेम बयादे तु क़दह मी नोशेम।
बुवदे मंज़िल न बुवद, दर सफ़रे रूहानी।

अर्थात् हे मीत ! यद्यपि बहुत दूर हूँ, तथापि तेरी याद के प्याले शौक़ से पी रहा हूँ। आत्मिक यात्रा में संसारी यात्राओं जैसी मंज़िलों की दूरी नहीं हुआ करती।

हमने पहले कहा है कि आद्य वच्चन अस्नेह से स्नेह की ओर बढ़ा था और उसने अस्नेह में स्नेह का सृजन किया था। प्रमाण ? प्रमाण प्रचुर हैं, बहुत प्रचुर हैं। सबसे बड़ा यही कि—

राजसी पट पहिनने की (जब) हुई इच्छा प्रबल थी,
चीथड़ों से कर लिया था, उस दिवस शृंगार मैंने।

जिस दिन बच्चन ने किया-कहा था, उसी दिन के कुछ आगे-पीछे मेरी अपनी ही प्रतिच्छायिका (कैमरे) की उरेही बच्चन की एक प्रतिच्छवि (फ़ोटो) अभी भी मेरे पास है — और ये पंक्तियाँ लिखते-लिखते पेटी से निकालकर एक बार पुन: मैं उसका अवलोकन कर रहा हूँ। दिगन्तव्यापी विराट् आकाश की अनन्त पर्तों में विहरण के लिए अधीर पाँव-बँधे श्येन-शावक के नयनों का खोया-खोयापन, तथा कठघरे से घेर लिए गए शार्दूल सुत की दूर, अति दूर महाकान्तार की शून्य निबिड़ अँधेरी रात में अपने शिकार को कल्पना में पहचान लेने पर आतुर हो उठने वाली आँखों की चमक! वह खोया-खोयापन और वह अनिर्वचनीय चमक—दोनों ही की गंगा-जमुनी इन नेत्रों में आपको प्रवाहित झलकेगी। और क्यों न झलके ? "बाघ-बाघ के छौनहि मारन सिखवत कौन ?" अगले कुछ ग़लत थोड़े ही कह गए हैं।

और होंठों में तैरकर तिरोहित हो चुकी रही एक मंदस्मित की ऊष्मा भी वहाँ आपको महसूस होगी — त्रिवेणी के गंगा-जमुनी संगम में अन्त:सलिला सरस्वती सदृश। वोवनार्ग (१७१५-१७४७ ई०) ने सच ही कहा था कि "कोकिला की प्रथम प्रहर की प्रणय-भरी कूक में, और वसंत में उन्मुक्त फूली हुई सघन अमराई में, और उत्तरी समुद्र के बर्फ़ानी वक्ष पर फैली हुई शारदीय चन्द्रिका में भी वह सुषमा कहाँ जो एक तरुण की पवित्र मुसकान में अन्तर्हित उसके सदाचरण में निवास करती है।" सो वही सदाचारी बच्चन ! वही श्रीवास्तव दूसरे कायस्थ कुलोद्भव श्रद्धेय बाबू प्रतापनारायण श्रीवास्तव के कुल की आकंठ ब्राह्मण सद्गृहस्थोचित परम्परा में पुंसवित, आगत, पोषित एवं संवर्चस्वित बच्चन। कवि से कहीं बड़ा मानव, महामानव और महामानव से कहीं बड़ा, वारम्बार हार-हारकर भी कभी हारा अनुभव न करने वाला तरुण तपस्वी मर्द मानव बच्चन ! अब भी उस छवि में मेरी पेटी में बन्द, मेरे हृदय की पेटी में विहरण करता है। और उसके उन दिनों वाले वे दुर्लभ स्वर कभी-कभी कानों में अब भी गूँजने लगते हैं :

आ रहीं प्राची क्षितिज से, खींचने वाली सदाएँ
मानवों के भाग्य निर्णायक सितारो ! दो दुआएँ
नाव नाविक फेर ले जा, है नहीं कुछ काम इसका
आज लहरों से उलझने को फड़कती हैं भुजाएँ

तथा

आज अपने स्वप्न को मैं सच बनाना चाहता हूँ,
दूर की इस **कल्पना** के पास जाना चाहता हूँ,
चाहता हूँ तैर जाना सामने अंबुधि पड़ा जो
कुछ विभा उस पार की इस पार लाना चाहता हूँ।

बच्चन ने अपने इस अगम-अगाध संतरण का, अपनी उस ऊँची उड़ान का, अपने उस विकट अहेर का अवश्य लक्ष्य भेदन किया, इस बात को कौन न मानेगा ? बच्चन के काव्य का, उसके व्यक्तित्व का यही सूक्ष्म तन्तु, उस पार की विभा को इस पार लाने की ललक, यही सामाजिक मंगल-बोध उसका सारा श्रेय है, वरेण्य एवं वन्द्य है। इसी समाज संवर्जन बोध ने उसके कर में चिता की राख को सिंदूर में परिवर्तित कर दिया था—विश्व और जगती के प्रति कवि की इस कराह के बावजूद कि 'कौन-सा अरमान मेरा विश्व पूरा कर सका है ?' तथा 'कर सकेगी दीन जगती किस तरह सम्मान मेरा ?' पर संसार की निगाहों में बच्चन का यह वरदान, अस्नेह में स्नेह का यह सृजन, राख को सिंदूर में परिणत कर देने का यह अद्भुत चमत्कार, यह कीमियागीरी, बच्चन के लिए काफ़ी महँगी भी पड़ी है। जीवन-बोध के प्रथम क्षण से लेकर कुकरहाघाट (मुट्ठीगंज, प्रयाग का यमुनातटीय श्मशान घाट) से कर में चिता की राख लेकर घर लौटने तक बच्चन की जीवन-यात्रा का एक मुढ़ैला है। उसके बाद मधु के कलश के टूट जाने पर उसमें संचित मधु के पौट पड़ने (प्रवर्तित हो बिखर जाने) का कुछ दिनों का बिगलन, तथा सीदन एवं अवसाद का अवकाश, तथा बचे-खुचे सिमटे-समेटे रस के संचय के लिए एक पात्र की तलाश, और उस तलाश में आकुल-व्याकुल तथा अपात्रों की झुँझलाहट में शिथिलता का बेहद अहसास जिसे हम यात्रा की दूसरी मंज़िल का पड़ाव, या तेजी-बच्चन-संयुक्त बच्चन के तीसरे (स्यात् अन्तिम भी !) चरण के बीच का सन्धि काल कह सकते हैं। यह विमुक्त संधिकाल, और वियुक्त संयुक्त-काल तो सभीके लिए उजागर और स्पष्ट है। किन्तु वह प्रथम प्रहर, वह पूर्वाह्न जब कि कवि का मधुकलश पूर्णत: परिपूर्ण था और बालारुण की लालिमा उसपर बिछल-बिछल पड़ती थी—और वह मचल-मचल-कर कह उठता था :

जल में, थल में, नभ मंडल में है जीवन की धारा बहती,
है आज भरा जीवन मुझमें, है आज भरी मेरी गागर।

आज जीवन की तिजहरिया के महाप्रासाद की नींव में अंकित अभिलेख सदृश गुप्त, लुप्त और विस्मृति के पंक-सलिल में सदा-सदा के लिए तिरोहित होता जा रहा है, जैसे नील नदी के आस्वान बंध के चपेटे में आ गए सदा-सर्वदा के लिए सुषुप्त मिस्र देश का

प्राचीनतम मन्दिर, अथवा जैसे 'आभीर' और 'हीब्रू' शब्दों में निहित इनका पूर्ववर्ती 'हाबीरु' शब्द जिस जाति का वाचक था, उसके क्रिया-कलापों के मानव-इतिहास के वक्ष पर कभी बड़े ज्वलन्त शब्दों में उरेहे लेख मिट-पुतकर आज मानवता के लिए नितान्त अगम-अबूझ बन गए हैं। अतः जब तक उस बालारुण के अभिलेख, बच्चन-पुस्तक के प्रथम उत्तम पृष्ठ उपलब्ध न हों, बच्चन की सृष्टि का पूरा मर्म अबूझ ही बना रहेगा, क्योंकि—

माज़ी आग़ाज़ो जे अनजाम जहाँ बेख़बरेम।
अव्वलो आख़िरी कुहना किताब उफ्तादस्त।।

और क्योंकि इसी पर्त के नीचे वह तीर्थ-सलिल लहरा रहा है, जिसे कवि ने कभी निम्नांकित शब्दों में बाँधा था :

गिरि में न समा उन्माद सका, तब झरनों से बाहर आया,
झरनों की ही थी मादकता जिसको सर-सरिता ने पाया,
जब सँभल सका उल्लास नहीं, नदियों से, अंबुधि को आई,
मानस की उमड़ी मस्ती को, नीरद ने भू पर बरसाया।

और वह मस्ती वहीं आज भी संचित है, जिसे चाहे जो नीरद अपने सहृदयता-रूपी कर्म-कमंडल में जितना अँटा पाए भर ले जा सकता है :

करम-कमंडल कर गहे, जित चाहे तित जाय।
सागर, सरिता, कूप तें, बूँद न अधिक समाय।।

(२)

कहा गया है, ख़ैयाम में जीवन के प्रति वितृष्णा है और बच्चन में जीवन के प्रति आसक्ति। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, उमर ख़ैयाम में जीवन के प्रति वितृष्णा नहीं, अवसाद है। यही कारण है कि श्रम में अतिशय चूर-थकी हुई प्रत्येक शताब्दी को, जो अवसाद की प्यासी रहती है, ख़ैयाम का काव्य एक नई प्रेरणा और नया प्राण देता है। किन्तु 'मधुशाला' वाले बच्चन में जीवन के प्रति अभावजनित आसक्ति से अधिक निर्वेद ही था। जीवन के प्रति आसक्ति तो प्रत्येक सहज तरुण में होती ही है, किन्तु उस आसक्ति में इतनी व्यापक विशाल कशिश होती कहाँ है, जो बच्चन की 'मधुशाला' की स्वर-लहरी में थी ? हाँ, वह (आसक्ति) जब कर्मणा या मनसा, अपनी चरमावस्था को पहुँच निर्वेद में परिणत हो जाती है, तभी वह तरुण तपस्वी रामतीर्थ बनकर संसार के हृदयों को अपनी स्वर-वल्लरी में बाँध लेती है। 'मधुशाला' ने भी ('ख़ैयाम की मधुशाला' बच्चन कृत अनुवाद के बाद ही जो बच्चनजी की 'मधुशाला' प्रकाशित हुई थी) यही किया था। ठाकुर श्रीनाथसिंह जी बताया करते थे कि सन् १९३५ के इन्दौर वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर आयोजित कवि-सभा में जब बच्चनजी 'मधुशाला' की कविताओं का पाठ करने लगे तो लोग उस समय एक-एक पंक्ति सुनते, झूमते और वाह-वाह कर रहे थे। मारवाड़ी सेठों की रंगीन पगड़ियाँ भी हज़ारों-हज़ार खूब झूमने लगी थीं। यह दृश्य देख ठाकुर साहेब (उनको तो आप जानते ही होंगे!) अपने पास

बैठे एक सेठजी से पूछ बैठे कि "यह 'मधुशाला' है क्या ?" कहा जाता है कि ऐसा प्रश्न सुनकर उन सेठजी ने ठाकुर साहेब को इस ढंग से निहारा जैसे किसी बच्चे की ओर ताक रहे हों जो बच्चा 'क' माने 'कौआ' तक नहीं जानता। और फिर एक साँस में बोले — "मधुश्याला ? मधुश्याला ? मधुश्याला, शेई आपणी कांगरेश !"

वास्तविकता है कि १९२४-'२५ ई० से लेकर १९४१ तक के सोलह-सत्रह वर्षों का ज़माना हमारे देश में विशेष कोटि की निराशा, टीस, आकांक्षा, अभिनिवेश, साहस और कुछ कर गुज़रने के लिए मर मिटने की तमन्नाओं वाला युग था, जब कि देश के तारुण्य में आत्म-प्रतीति की एक भूख जग चुकी थी। हिन्दी भाषाभाषी भूमिभाग की तरुणाई को वह आत्म-प्रतीति दिलाने में हिन्दी के कई कवियों ने योग दिया था, किन्तु 'चीथड़ों से शृंगार' करके, 'राजसी पट' को उपेक्षणीय सिद्ध कर देने वाले तरुण कवि ने अपनी 'मधुशाला' के नये स्वरों और नये सरल 'सिम्बलों' के माध्यम से वह प्रतीति देने में सर्वाधिक सफलता प्राप्त की। यही कारण है कि उसकी 'मधुशाला' यदि इन्दौर के श्रीमन्तों के लिए 'आपणी कांगरेश' थी, तो दूसरी ओर आज़ादी के लिए जेल-यात्रा करने वाले सत्याग्रहियों तथा मातृभूमि के उद्धार के लिए फाँसी के तख़्तों पर झूल जाने वाले दीवानों के लिए वह निर्वेद की प्रेरणा देने वाली गीता ही थी। वर्तमान के प्रति निर्वेद, विरक्ति या अदम्य अवमानना; और आशापूर्ण भविष्य के प्रति अतिशय आसक्ति के स्वरों ने ही 'मधुशाला' को ऐसी अखंड एवं अभूतपूर्व लोकप्रियता देकर हाथों-हाथ बच्चनजी को हिन्दी के समसामयिक कवियों में सबके आगे लाकर खड़ा कर दिया था।

बच्चनजी को मैंने सर्वप्रथम 'हरिवंश राय' नाम से प्रयाग विश्वविद्यालय में, हिन्दी विभाग की हिन्दी सभा द्वारा आयोजित सन् १९३० वाले कहानी-सम्मेलन में 'हृदय की आँखें' शीर्षक कहानी का पाठ करते समय देखा था। दिसम्बर १९३० या जनवरी १९३१ ई० की यह बात है। सम्मेलन का सभापतित्व उस वर्ष शायद प्रेमचन्दजी ने किया था। बाद में वह कहानी 'हंस' के कथा विशेषांक में प्रकाशित भी हुई थी, और मुझे भी वह अंक इलाहाबाद में बाबू राजाराम भार्गव की कोठी, मुहल्ला चक में, जहाँ मैं उन दिनों रहता था, डाक से मिला था, कारण सन् १९३० ई० के अप्रैल महीने में लिखी मेरी प्रथम कहानी 'तीन बार' 'हंस' में ही कुछ पूर्व छप चुकी थी तथा 'हंस' की एक प्रति तभी से मेरे पास नियमित रूपेण निःशुल्क आने लगी थी। बच्चनजी उन दिनों (कहानी-सम्मेलन के समय) विश्वविद्यालय के छात्र न थे। किसीने बताया था कि सन् १९२९ ई० में प्रथम श्रेणी में बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद बीमारी के कारण उनकी पढ़ाई एम० ए० प्रीवियस से आगे न चल सकी थी।

बच्चनजी की उस दिन की मुखमुद्रा एवं वेशभूषा मुझे अब तक प्रत्यक्ष है। उन्होंने बंद गले का कोट और ऊनी टोपी धारण कर रखी थी और चश्मे में ढँकी होने के बावजूद आँखें धँसी हुई जान पड़ती थीं। मुँह भी कुछ पीला-पीला-सा था। उन दिनों के प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रथम श्रेणी में बी० ए० उत्तीर्ण प्रायः सभी मेधावी छात्र एम० ए० के बाद प्रतियोगी परीक्षाओं में सफलता प्राप्त कर आज बहुत ऊँचे पदों

पर – कोई राज्यपाल, कोई उपराज्यपाल, कोई राजदूत, कोई प्रमुख सचिव आदि-आदि होकर—गौरवान्वित हैं। ऐसे तो एक क्षण गम्भीरता से सोचकर नज़र उठा देने भर की देर है और बच्चनजी भी कहीं के राज्यपाल हैं या कहीं राजदूत ! और इस कारण भी कि वे इसके सर्वथा योग्य हैं। किन्तु उस समय तो ग़रीब और नि:साधन तथा रसूख रहित, सेवा-विमुक्त वृद्ध पिता के बेटे को आगे का ख़र्चा तथा गृहस्थी का बोझ उठाने के लिए ही, यानी सम्पन्नता के अभाव से ही, पढ़ाई बन्द कर देनी पड़ी थी। यह बिलकुल सही बात है कि जिस तरह लगभग उन्हीं दिनों अपनी सत्यनिष्ठा, श्रम एवं चारित्र्य-बल तथा ग़रीब स्वभाव के सहारे तिल-तिल उठते हुए एक दिन निस्सहाय लालबहादुर शास्त्री राजनीति में पिरामिड बनकर प्रत्यक्ष हुए थे, ठीक उसी तरह ग़रीब बच्चन भी केवल अपनी मेधा एवं निष्कलंक श्रमपूत आभिजात्य के बल पर तिल-तिल बढ़ता हुआ साहित्य-जगत् में अग्रणी और अप्रतिम बनकर प्रस्तुत हो रहा था। वृद्ध माता-पिता के अतिरिक्त, बहिन के मर जाने पर उसकी सन्तान की देखरेख का भार भी नाना-नानी पर ही (यानी मामा-मामी पर) आ पड़ा था। छोटा भाई भी था। कवि स्वयं भी विवाहित था। और तभी वह बीमार भी रहने लगा था। और फिर जब एम० ए० की पढ़ाई सम्पन्न कर लेने के दिन आए, तब तक बच्चन सुकीर्ति के अर्जन के अतिरिक्त बहुत कुछ क़ीमती खो भी चुके थे। बाबूजी नहीं रह गए थे। श्यामा भाभी पहले ही जा चुकी थीं। और सर्वोच्च प्रतियोगी परीक्षाओं में बैठ सकने की वयस्कता की सीमा भी पार की जा चुकी थी। ऐसे एक बात और भी है जिसका बच्चन को भी ज्ञान रहा ही होगा। उन दिनों परीक्षा में पूर्ण वरिष्ठता प्रमाणित करके भी वे शायद आई० सी० एस० हो न पाते, क्योंकि 'सिर जाए तो जाए पर हिंद आज़ादी पाए' का प्रसिद्ध राष्ट्रीय गीत, जो उन दिनों हिन्दी प्रदेशों के गाँव-गाँव और गली-गली में गूंज रहा था, उसका लेखक कौन था, यह बात सी० आई० डी० वाले अच्छी तरह जानते थे। और यह भी ठीक ही है कि बच्चन की उस ओर उपेक्षा ही रही थी।

'पायोनियर' प्रेस से वार्धक्य के कारण पिता के सेवा-विमुक्त हो जाने पर बच्चन को वहीं कार्य मिल गया था। यों भी भारत के आर्थिक इतिहास में १९३० से '३३ तक के आसपास का समय विकट ठाले (बेरोज़गारी) का युग था। या कि शायद पढ़ाई के दौरान नौकर पिता के पुत्र को कोई छात्रवृत्ति मिली थी, या बाप की छोड़ी जगह पर तुरन्त काम में न लग जाने पर पुत्र के लिए वहाँ भविष्य में काम पाने की गुँजाइश न थी, कुछ तो ऐसा था ही जिसके कारण पुत्र की वहाँ नियुक्ति पिता को अभीष्ट थी और यह तथ्य है कि बच्चन को कुछ दिनों 'पायोनियर' प्रेस की चाकरी करनी पड़ी थी। किन्तु भारत के स्वतन्त्र होने से पूर्व बच्चन की वही सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी नौकरी थी। इसी आधार पर मैं कहना चाहूँगा कि बच्चन की राष्ट्रीय चेतना, जिसको भुनाने का उसने कभी प्रयास नहीं किया है, उसके समवयस्क प्राय: समस्त राष्ट्रीय कहलाने वाले कवियों की राष्ट्रीय चेतना से कहीं अधिक प्रखर एवं विशुद्ध है।

'पायोनियर' की ओर से उन्हें उत्तर भारत तथा पंजाब में उक्त पत्र के लिए ग्राहक-संख्या बढ़ाने के काम से प्रचारक-प्रतिनिधि का पद मिला था। इसी अर्धदेश-

व्यापी दौरे के दौरान कई प्रसिद्ध क्रान्तिकारियों से बच्चनजी की भेंट और कुछ-कुछ प्रतीति भी हो गई थी, जिसके परिणामस्वरूप अपनी शहादत के पूर्व एक बार चन्द्र-शेखर आज़ाद गुप्त रूप से कई दिनों तक बच्चनजी के घर टिके थे और यशपालजी के फ़रार होने के दिनों, उनके कई निकटस्थ प्राणी बच्चनजी के ही कारण इलाहाबाद में रहने लगे थे। बच्चन के लिए भी कभी काफ़ी संकटापन्न स्थिति में पड़ जाने का ख़तरा बराबर ही बना रहता था। एक ओर पढ़ाई बन्द हो जाने की मजबूर स्थिति तथा राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग न ले पाने की मन की कसक, और सबके ऊपर कोढ़ में खाज तुल्य 'पायोनियर' जैसे प्रतिक्रियावादी घोर अंग्रेज़ी दैनिक पत्र की चाकरी, ये ही मानो समुद्र की लहरों के थपेड़े थे, जिनसे घायल हो बच्चन बीमार हो गया था। बच्चनजी बीमार थे तो भाभी कैसे स्वस्थ रह सकती थीं ? अस्तु !

कहानी-सम्मेलन के लगभग डेढ़-दो वर्ष बाद मुझे एक बार फिर हरिवंशराय को देखने और देखते ही पहचान लेने का अवसर मिला था। शायद दिसम्बर १९३२ की बात है। प्रयाग में अग्रवाल विद्यालय के विशाल प्रांगण में 'द्विवेदी मेला' का आयोजन हुआ था, और उस अवसर पर महामहोपाध्याय डॉक्टर (और बाद में सर) गंगानाथ झा महोदय के सभा-नेतृत्व में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी को मानपत्र दिया गया था। रात्रि में पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी के सभापतित्व में कवि-सम्मेलन भी हुआ था। हमने पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी को प्रथम बार उसी दिन देखा था, यद्यपि उनकी 'कोकिला से' शीर्षक कविता 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुई थी, तभी पढ़ चुके थे। प्रयाग में वे श्री (बाद में डॉक्टर) धीरेन्द्र वर्माजी के यहाँ उनके बैंक रोड स्थित आवास में टिके थे। इसी कवि-सम्मेलन में श्री गोपालसिंह नेपाली ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'हरी घास' सुनाकर सभीको मुग्ध कर लिया था। पन्तजी ने भी कविता सुनाई थी। पन्तजी ने उन दिनों केश-छेदन करा रखा था। मुझे खूब अच्छी तरह याद है। बच्चनजी कवियों के बीच मंच पर बैठे नहीं, भैया प्रफुल्लचन्द ओझा को बग़ल में किए दर्शकों के बीच खड़े थे। उस कवि-सम्मेलन में बच्चन ने एक कवित्त छन्द समस्यापूर्ति के ढंग का हरिवंशराय के नाम से पढ़ा था, जिसके अन्तिम शब्द थे—'परकटी चिरैया है !'

इस बात का उल्लेख मैं सिर्फ़ यह बताने के अभिप्राय से कर रहा हूँ कि तब तक बच्चन कवि किस प्रकार अपने दुर्दिनों के बावजूद अपने निर्माण में लवलीन, अपने को प्रच्छन्न रखने के कारण प्रयाग तक में अविख्यात ही रहा था। बच्चन को तपेदिक हो जाने तक की आशंका व्यक्त की जा चुकी थी। उधर 'पायोनियर' पत्र को तो क्षय लग ही चुका था। सो प्रथम बीमार दूसरे बीमार को सहारा देने के लिए कुछ दिन अग्रसर रहा ज़रूर; किन्तु दूसरा मरीज़ थोड़े ही दिनों बाद चल बसा था। 'पायोनियर' के अस्तंगत होते ही बच्चन की नौकरी छूट गई। और तब वह इस अवकाश में अपने को काटता, छाँटता, तराशता, अर्जुन की तरह अज्ञात बनवास में अपना परिपाक करता रहा था। वस्तुतः मानव-मानसिकता की यह एक नैसर्गिक गतिशीलता है कि जब किसी अतिशय श्रमसिद्ध पुरुष को सहनशीलता के साथ बहुत दुःखभागी रहने पर भी सफलता अत्यल्प नहीं मिलती, तब या तो वह भाग्यवादी बन टूटकर कुंठित हो बैठ जाता है अथवा

यह विश्वास करके कि यशार्जन-हेतु केवल गुणोत्कर्ष अनिवार्य है, वह उठ खड़ा होता है और दौर्भाग्य को सौभाग्य में परिवर्तित कर देने के लिए अपने को योग्यतम बना डालने में दिन-रात लवलीन रहने लगता है। ऐसा संकल्प रखने वाला मनुष्य उत्तम और वरिष्ठ मानव होता है। भले ही सामाजिक व्यवस्था ने काफ़ी अर्से तक उसे उसके प्राप्य से वंचित कर रखा हो, निजी पारिवारिक परिस्थितियों ने भले ही उसे रौंद डाला हो, और भले ही उसकी पीठ पर दुरदृष्ट का असह्य बोझ आ डला हो (और बच्चन के साथ ये तीनों ही हुए थे!) वह वरिष्ठ पुरुष, विद्रोह और कटुता दोनों ही से विरत रहकर अपने लिए चेतना (इंटेलेक्ट) का अलौकिक आश्रम-निर्माण करने में ही अपना प्रतिकार प्रकट करता है। बच्चन ने भी यही किया। दुरदृष्ट (मिस फ़ॉरचून=दुर्भाग्य=इल लक) की चरमावस्था में जो एक अनूठा लावण्य होता है (जिससे प्रेरित हो बच्चन ने एक दिन चीथड़ों से अपना शृंगार कर लिया था!) उसका बच्चन ने पूरा स्वाद ग्रहण किया और अदृष्ट की क्रूरता के प्रतिरोध में उत्तिष्ठ हो उस वीर पुरुष ने अपनी समस्त शिराओं में प्रवाहित उस पुरुषार्थ के कणों का, कि जिनका पहले उसे कभी अहसास भी न था, एकत्रण किया। त्रिवेणी-संगम के पार जैसे गंगा की धार तीक्ष्ण होकर वह निकलती है, वैसी ही तीक्ष्ण धार में बच्चन की वाणी भी वह निकली। कवि के समस्त ताप को पीकर, उसके स्त्रैण को अपने में समेटने के पुरुषार्थ की झलक देकर, श्यामा-यमुना अवश्य इस संगम के परे अस्तित्व-विहीन हो गई थी। अतः पहले तो उस वाणी में केवल तीव्र धार प्रमुख थी, पर शीघ्र ही पीठ पर असह्य इस दुरदृष्ट के बोझ ने (इस श्यामा-यमुना वियोग या श्यामा-राहित्य ने) उस धार में यथेष्ट भार का भी भरण किया। बच्चन-काव्य में भारयुक्त धार का यही धर्म है। इसकी सूचना हमें भी तभी मिली थी और कुछ बाद में बच्चन ने अपनी कुछ अत्यन्त मार्मिक छन्द-पंक्तियों में इसका — शिर पर श्यामा-यमुना वियुक्तिरूपी पहाड़ की शिला के टूट पड़ने का — बड़ा ही मार्मिक उल्लेख भी किया :

> मुस्करा कठिनाइयों-आपत्तियों को दूर टाला,
> धैर्य रखकर संकटों में, खूब अपने को सम्भाला,
> किन्तु जब पर्वत पड़ा आ शीश पर
> मैं सह न पाया!

(३)

शिक्षार्जन के लिए सन् १९३० ई० में प्रयाग पहुँचने के पहले ही मेरे लिए पन्त और पद्मकान्त नये तथा अज्ञात नाम नहीं रह गए थे। प्रयाग पहुँचने पर आभास मिला कि, वहाँ के कुछ ही दिन पहले पर्याप्त प्रसिद्धि-प्राप्त कवि 'विक्रम' (श्री विक्रमादित्य सिंह, एम० ए०, एल० एल० बी०) कविता से नाता तोड़, कचहरी के साथ जोड़ चुके थे, और महादेवीजी का कवि-व्यक्तित्व पर्याप्त निश्चित हो चला था। सन् १९३१ के दिसम्बर महीने में कायस्थ पाठशाला यूनिवर्सिटी कॉलेज का शानदार कवि-सम्मेलन हुआ था, जिसमें पद्मकान्तजी का कविता-पाठ सर्वोत्तम रहा था। बाबू भगवतीचरण

वर्मा ने भी कई उत्तम कविताएँ सुनाई थीं। उस कवि-सम्मेलन में छात्रों के लिए वर्ड्स-वर्थ की प्रसिद्ध कविता 'दि एज्युकेशन ग्राफ़ नेचर' के हिन्दी ग्रथवा उर्दू अनुवाद करने पर सर्वोत्तम ग्रनुवाद के लिए पुरस्कार की भी घोषणा हुई थी। इन पंक्तियों के लेखक को ही सर्वोत्तम ग्रनुवाद पर वह पुरस्कार मिला था, ग्रौर वह ग्रनुवाद 'विशाल भारत' के मार्च १९३२ के ग्रंक में तीसरे स्थान पर प्रकाशित भी हुग्रा था। उसी ग्रंक में प्रथम स्थान पर पंतजी की प्रसिद्ध कविता 'सन्ध्या तारा' का प्रथम प्रकाशन हुग्रा था। उस दिन से (कवि-सम्मेलन वाले दिन से) पद्मकान्तजी का ग्रपूर्व स्नेह हमें प्राप्त हो गया था। १९३२ के दिसम्बर में मैं छात्रावास में ग्रा गया था। १९३२ की जुलाई में जब हमारा एम० ए० प्रीवियस ग्रारम्भ हुग्रा था, नरेन्द्र शर्मा, शमशेरबहादुर सिंह, ग्रात्मानन्द मिश्र, केदारनाथ ग्रग्रवाल बी० ए० के छात्र थे। ठाकुर वीरेश्वरसिंह (श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की बड़ी बहिन के पुत्र) हमारे ग्रनन्य मित्रों में थे। वे ग्रंग्रेज़ी में एम० ए० कर रहे थे। मुझे ग्रच्छी तरह याद है कि १९३३ की जनवरी में एक दिन वीरेश्वर भाई नरेन्द्र शर्मा के साथ घूमकर बड़ी देर में रात में लौटे तो बतलाया कि पद्मकान्तजी उन लोगों को किसी बच्चन कवि के घर (संभवत: मुन्शी कन्हैयालाल एडवोकेट की कोठी पर, मुहल्ला कीट गंज में) ले गए थे, जिन्होंने उमर ख़ैयाम की रुबाइयों के टक्कर की ग्रत्यन्त उत्कृष्ट कविताएँ लिखी हैं। वीरेश्वरसिंह जैसा उन्मुक्त हृदय से सराहना करने वाला दूसरा ग्रादमी मेरे देखने में ग्राज तक नहीं ग्राया है। किसीने ठीक ही कहा है कि, "दबी ज़बान से सराहना परले सिरे के घामड़पन की ग्रलामत होती है।"[1] मैंने वीरेश्वरजी से पूछा था कि क्या वह खैयाम की रुबाइयों का ग्रनुवाद है? मुझे ग्रच्छी तरह याद है कि स्वयं बहुत निश्चित न होने पर भी वीरेश्वरजी ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा था कि ग्रनुवाद तो वह नहीं कहा जा सकता, किन्तु कुछ वैसा ही, पर जैसा भी हो, इतना तो निश्चय ही है कि वह है सर्वथा नवीन ग्रौर एकदम ग्रलभ्य। उसी दिन मैंने पहली बार 'बच्चन' नाम सुना था। हरिवंशराय को तो जानता ही था। यह सुन लेने के दो दिन के बाद ही भेंट होने पर मैंने जब भाई पद्मकान्त को उलाहना दिया तो उन्होंने शीघ्र ही बच्चन से मिलने का वायदा करके रविवार के दिन ग्रपनी कार में बच्चन को लाने तथा हम लोगों को भी साथ लेकर द्रौपदी घाट (गंगा तट पर) वाले ग्रपने बँगले ग्रौर बाग़ की सैर कराने का एलान कर दिया था। पद्मकान्तजी की वादाख़िलाफ़ी पर मैंने उक्त रविवार को प्रात: ग्राठ बजे क़रीब दस-पाँच मिनट में ही कुछ पंक्तियाँ जोड़ ली थीं जिन्हें 'श्री पद्मकान्त का विमल बाग़!' शीर्षक से कुछ ही दिनों बाद ईविंग क्रिश्चियन कॉलेज में जुटे कवि-सम्मेलन में सुनाया था। उसी कवि-सम्मेलन में बच्चनजी ने भी ग्रपनी 'मधुशाला' के ग्रनेक छन्द सुनाए थे। उसी दिन से मेरी ग्रौर बच्चन की ग्रखण्डनीय ग्रभिन्न सख्यता स्थापित हो गई थी। कवि-सम्मेलन के बाद पद्मकान्त भाई ने उस कविता को ग्रब ग्रौर कहीं न पढ़ने का ग्रनुरोध किया था, जिसे मैंने स्वीकार भी कर लिया था, ग्रौर न कहीं उसे छपाया ग्रौर न कभी सुनाया ही। फिर भी···। उस कविता

---

१. "टु प्रेज़ माडरेटली इज़ द श्योरेस्ट साइन ग्राफ़ मिडियाक्रिटी।"

—वावेनार गुएस

की कुछ पंक्तियों की याद बनी चली आ रही है,[1] यद्यपि वे दिन अब रह कहाँ गए हैं :

ते हि नो दिवसा गताः !

और तो फिर कुछ ही दिनों बाद की बात है कि एक विशिष्ट गोष्ठी में मानो बच्चन का महाकवि के रूप में (समझ सकने वालों की दृष्टि में) राजतिलक भी सम्पन्न हुआ। एक शाम राजर्षि टण्डनजी के ज़ीरो रोड (अब शिवचरणलाल रोड) निकटस्थ आवास में गोष्ठी आयोजित हुई थी। प्रोफ़ेसर धीरेन्द्र वर्मा, व्यंकटेशनारायण तिवारी, रामचन्द्र टण्डन, गणेशप्रसाद द्विवेदी, सत्यजीवन वर्मा, रामकुमार वर्मा, ठाकुर श्रीनाथ सिंह, पद्मकांत मालवीय, ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' आदि-आदि साहित्यकार उपस्थित थे। उस गोष्ठी में बच्चन कवि ने अपनी 'मधुशाला' के पाठ से सभीको बहुत मुग्ध कर लिया था। उस दिन की दो बातें विशेष रूप से याद हैं। पंडित व्यंकटेशनारायण तिवारी के कई साहित्यिक लेख छपे, और बहुचर्चित हो रहे थे। वे उन दिनों साप्ताहिक 'अभ्युदय' के सम्पादक भी थे और 'अभ्युदय' में कोई लेख (इंटरव्यू) छपा था, जिसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा आचार्य श्यामसुन्दरदासजी का भी उल्लेख था। सम्भवतः ठाकुर श्रीनाथ सिंह जी ने उस लेख की चर्चा आरम्भ की थी। फिर तो बाबू श्यामसुन्दरदास का किसीने नाम लिया ही था कि तिवारीजी ने अचानक प्रश्न किया, "कौन श्यामसुन्दरदास ?" और निज आरोपित अपनी अनभिज्ञता का इज़हार करते हुए अपने उसी प्रसिद्ध लहजे में, जो उनकी बहुत ही अनोखी विशेषता थी, और जो तिवारीजी की उनकी चुभीली उक्तियों सहित जानकारी रखने वालों को फ्रांस के अमर व्यंग्य सूक्ति वक्ता पिरों (अलेक्सी पिरों, १६८९-१७७३) की याद दिला देती थी ! कहा था, "अच्छा, तो यह कोई व्यक्ति हैं ! मैं तो अब तक यही समझे था कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पास श्यामसुन्दरदास नाम की एक ख़ास मुहर है जो उक्त सभा द्वारा प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक पर लग जाया करती है।"

और दूसरी बात जो याद है, यह है कि जिन तिवारीजी ने बच्चनजी की 'मधुशाला' को तब तक (अच्छी तरह सुन लेने के पूर्व) उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का सर्वश्रेष्ठ अनुवाद मानना ही पसन्द कर रखा था, उन्हीं 'ईश्वर की छीछालेदर' तथा ' 'हरिऔध' का बुढ़भस' जैसे सशक्त निबन्धों के समर्थ लेखक व्यंकटेशनारायणजी ने ही उस

---

१. उस कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार थीं :

"बस ! गया अँधेरा, हुआ प्रात, निकला सूरज, आ गई धूप !
झुक खिड़की के बाहर देखा मैंने फूलों का रंग-रूप !
मन कोने-कोने नाच उठा, जाऊँगा मैं देखने बाग़,
श्री पद्मकान्त का विमल बाग़ ! श्री पद्मकांत का विमल बाग़ !!

× × ×

पर बजे सात, बज गये आठ, तब भी न दिखे श्री पद्मकांत,
मन बड़ा भरमने वाला है, अपने ही में वह हुआ भ्रांत।
फिर भी कोमल कल्पना बीच, छन भर तो मेरे जगे भाग,
श्री पद्मकांत का विमल बाग़ ! श्री पद्मकांत का विमल बाग़ !!

गोष्ठी में 'मधुशाला' को सर्वाधिक दाद दी थी, और एक बार भी उस क्रम में उमर ख़ैयाम का नाम नहीं लिया था। सच पूछिए तो उस गोष्ठी में बच्चनजी का ('मधुशाला' का) कविता-पाठ ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम था। मुझे तो ऐसा लगा कि जैसे कवि की दिग्विजय-यात्रा आरम्भ होने के पूर्व सम्पन्न होने वाले राजतिलक के ही लिए वह समारोह आयोजित हुआ हो। उसके बाद ही 'सरस्वती' में बच्चन की कविता धूमधाम के साथ प्रकाशित हुई और सचमुच ही हिन्दी काव्य-जगत् में बच्चन की विजय-पताका बहुत ऊँचे फहराने लगी थी।

ईविंग क्रिश्चियन कॉलेज (प्रयाग) के एक कवि-सम्मेलन में हमारा परिचय हुआ था। वहीं के दूसरे वर्ष वाले कवि-सम्मेलन तक परिचय इतना प्रगाढ़ हो चुका था। कि बच्चन के ही विशेष आग्रह पर उनके कविता-पाठ के बाद ही उनकी लिखी एक कविता का मुझे पाठ करना पड़ा था। और फिर तो यह अक्सर होता कि बच्चन की अनुपस्थिति में उनकी कविताओं का पाठ मैं करता था। वह परिचय प्रगाढ़ से प्रगाढ़तर और प्रगाढ़तम हो बन्धुत्व की उस प्रीति में परिणत हो गया जो पिछले ३५ वर्षों से अखंड बनी है और अन्त तक अखण्डित बनी रहेगी। और शायद आगे भी अखण्डित ही जाएगी क्योंकि —

का पिरीति तन माँह बिलाई ?
सो पिरीति जिउ साथ जो जाई।
और
धरम के प्रीति तहाँ को मारा ?

हमें यह लिखते-लिखते वे दिन याद आ रहे हैं और बच्चनजी की कई कविताओं — 'कवि की वासना', 'कवि की निराशा', 'बुलबुल', 'हलाहल' आदि के अपने किए हुए पाठ, तथा अपनी अनूदित 'वन-प्रशिक्षण' (एजुकेशन आफ़ नेचर) शीर्षक कविता के ईविंग क्रिश्चियन कॉलेज वाले कवि-सम्मेलन में अपने पाठ— के स्वरों की भी याद आ रही है कि काश किसी स्वर-संचयकारी यन्त्र द्वारा वे स्वर संचित कर लिए जा सके होते! पर तब साधन न था, और आज साधन है तो वे दुर्लभ स्वर अति दुर्लभ हैं, क्योंकि मुँह में अब पूरे दाँत भी नहीं रहे। अतः उन स्वरों की याद ही अब अपने बस की बात है। एक अपवर्तन का आभास दूसरे अपवर्तन (लॉस) की याद दिलाता ही है।

एम० ए० की परीक्षा समाप्त होते-होते मैं तिब्बत के मार्ग के लिए प्रयाग से निकल पड़ा था, और कलिम्पोङ् से आरम्भ ल्हासा-यात्रा की एक तिहाई कड़ी मंज़िल काफ़ी गड्डुआई के साथ पारकर फरीजोंग पहुँच गया था।[1] तभी वहाँ ५ मई (१९३४ ई०) को भाई गणेशविनायक बझे जी का (जो प्रयाग विश्वविद्यालय में मेरे साथ ही पढ़ रहे थे) बधाई का तार मिला था कि मैं एम० ए० की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान

१. पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय राहुल सांकृत्यायनजी ने अपने 'विनयपिटक' की भूमिका में मेरा ल्हासा तक उनके साथ यात्रा करने का, तथा अपने 'मेरी तिब्बत-यात्रा' ग्रन्थ में 'फरी' के मार्ग में घोड़े की पीठ पर से गिरकर मृत्यु के मुँह में से मेरे जीवित लौट आने की घटना का (सर्वत्र राजनाथ नाम से) बड़े स्नेहसिक्त शब्दों में विशद उल्लेख किया है।—लेखक

से उत्तीर्ण हो चुका हूँ।

तिब्बत-यात्रा से लौटकर मैं एक साल के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी-विभाग में शोध छात्र नियुक्त हो गया था। बच्चन उन दिनों अग्रवाल विद्यालय (इन्टर कॉलेज) में अध्यापन करने लगे थे। मैं पुन: चक मुहल्ले में बाबू राजाराम भार्गव की कोठी में रहने लगा था। १९३६ में देवरिया के गवर्नमेंट हाई स्कूल में अस्थायी नौकरी पर जाने के पूर्व प्रयाग के लगभग डेढ़ वर्षों के वे दिन अपने जीवन के बहुत ही सुखद दिन थे। प्राय: प्रतिदिन हमारा मिलना-जुलना रहता था। पूजनीय बाबूजी, पूजनीया अम्मा, श्यामा भाभी, रामा (बच्चनजी के भानजे, प्रसिद्ध हॉकी खिलाड़ी), सालिक भैया (बच्चन-जी के अनुज), 'मुक्त' भाई (प्रफुल्लचन्द्र ओझा) सबका समान स्नेह और सौहार्द मुझे भी प्राप्त था। शिवरात्रि के दिन अरइल के महादेव का दर्शन, गर्मी के दिनों यमुना-स्नान और शाम को नौका-विहार, सावन में सिकोटी (शिवकुटी) की यात्रा, जाड़ों में नुमाइश की सैर, और उन दिनों प्रयाग के प्राय: सभी कवि-सम्मेलनों में हमारा कविता-पाठ ! सन् १९३५ के जून महीने की चिलचिलाती धूप में बच्चन का मेरे अनुज के विवाह के अवसर पर बारात में शरीक होने के लिए प्रयाग से काशी आना, और दूर देहात में जाते समय रास्ते में बारिश में भीगकर हमारे द्वाराचार के समय वहाँ लथपथ पहुँचना ! लगता है, ये सब जैसे कल ही की तो बातें हैं ! पर इस सुखद अध्याय का मेरे लिए १९३६ की जनवरी में गवर्नमेंट हाई स्कूल में अस्थायी सहायक मास्टर नियुक्त हो देवरिया चले जाने पर अन्त हो गया था।

१९३६ की जुलाई में मैं फिर इलाहाबाद आ गया था — गवर्नमेंट ट्रेनिंग कॉलेज में 'विद्यार्थी शिक्षक' (एल० टी० के लिए प्रत्याशी) होकर, तथा बच्चन ने शीश पर जिस पर्वत के आ पड़ने और उसे सहन न कर सकने का उल्लेख किया है, वह अपने लिए सर्वथा अकल्पित-आकस्मिक पर्वतपतन, बच्चन से पहिले ही, अपने शिर पर लिए हुए ! मुझे याद है, और बच्चन को भी ज़रूर ही याद होगा कि 'ऊपर पर्वत आ पड़ा'-शिर लिए पहली बार जब प्रयाग में बच्चन के निवास (मुट्ठीगंज) में मैं उनसे मिला था, उस समय मुझे सान्त्वना देते हुए बच्चन ने जो एक नितान्त अवसरोपयुक्त साधारण-सी दार्शनिक जनोचित बात कही थी, उसने मुझे बहुत ही विकल और विगलित कर दिया था, और प्रत्युत्तर में मैंने एक बहुत ही असामान्य, असम्भाव्य एवं बालकजनोचित बात कह दी थी, जिसको केवल सौजन्य एवं स्नेहवश बच्चन ने समर्थन एवं अनुमोदन सहित स्वीकार अवश्य कर लिया था, किन्तु वे उसे मन से सत्य एवं सम्भावित कैसे मान सकते थे ? अभी कुछ ही दिन हुए, जब वे श्रीमान मणिभाई पटेल के यहाँ वाले कवि-सम्मेलन में सागर आए थे, और पथरिया टेकरी पर अवस्थित सागर विश्वविद्यालय के गौर नगर में मेरे निवास पर भी पधारे थे, तब जैसे कई लोगों से घिरे हुए आए थे, वैसे ही चले भी गए थे। चार वर्ष पूर्व जब वे नेपाल गए थे, तब तो इतना अधिक व्यस्त कार्यक्रम होने पर भी, मेरे निवास पर आकर भतीजों एवं भतीजियों को देख जाने, जलपान करने और बच्चों के आग्रह पर उन्हें कुछ सुनाने का भी ग़रीब को समय था। पर इस बार इतना भी न था, वरना मैं उस दिन वाली इस बात की याद दिलाकर ज़रूर यह आँकना चाहता

कि उस दिन का कवि आज उस असम्भव के सम्भव हो जाने पर भी कहाँ तक ऋषि, मनीषी और स्वयंभू रहा है।

(४)

बात यह है कि हमने यह अपने ऊपर पड़ने और झेल लेने पर समझा था, और कुछ ही दिनों बाद फिर बेचारे अपने बच्चन के ऊपर आ पड़ने और झेलते रहने पर अधिक पक्के तौर पर समझ लिया था कि शिर पर 'पर्वत आ जाने' पर —श्यामा भाभी के तिलतिल करके तिरोहित हो जाने के बाद—विकल बच्चन को मुझे उसीके उस तत्त्वज्ञान पूर्ण उदात्त स्वर की प्रायः याद दिलानी पड़ती थी। उससे साफ़ प्रकट था कि वह श्यामा भाभी के सान्निध्य से ऊर्जित आश्वासन के ही बल पर कभी उद्घोषित कर सका था कि—

जीवन में दोनों आते हैं, मिट्टी के पल, सोने के क्षण,
जीवन से दोनों जाते हैं, पाने के पल, खोने के क्षण,
हम जिस क्षण में जो करते हैं, हम बाध्य वही हैं करने को
हँसने का क्षण पाकर हँसते, रोते हैं पा रोने के क्षण।

वास्तव में मनुष्य जब स्वस्थ रहता है, सन्तुष्ट रहता है, स्वयंसम्पन्न और आश्वस्त रहता है, तब वह दर्शन का कथन करता है; और जब वह रिक्त रहता है, अभावग्रस्त रहता है, चिन्तित और उद्विग्न रहता है, तब कविता के गायन करता है। बच्चन ने भी यह उद्घोष तब किया था, जब कि उन्हें श्यामा-संग की उपलब्धि पूर्ण थी। परन्तु जब वह श्यामा-संग छिन गया, अर्थात् अर्धनारीश्वर का नर संयुक्त नारीत्व (जो नर को उस अपनी युक्तता के ही बल पर पूर्ण पुरुष बनाए रहता है, किन्तु उससे विलग होने पर पुरुष को स्त्रीत्व के अभाव के अहसास से घायल और गाफ़िल करके उसे स्त्रैण बना देता है) न रहा, तब बच्चन भी दार्शनिक न रह, कवि हो गया। वह प्रेम की ऊष्मा पुरुषार्थ बिखेरने के अभाव के कारण रिक्तता की स्थिति में—प्रेम पाने की स्थिति में आ पहुँचा था। इसी अर्थ में मैंने कवि के अगाड़ी के समस्त जीवन को अस्नेह से स्नेह की ओर उन्मुख कहा है। मैंने तभी इसका अनुभव कर लिया था, जब उस दिन अन्तिम बार मैंने श्यामा भाभी का दर्शन पाया था। मानव-मन की यह भी एक भूख होती है कि मरण के पूर्व मरणोन्मुख के स्नेही जन एक बार उसे देख लें, या वह उन्हें देख ले। 'असहजोगन मरण' (एक्सीडेंटल डेथ) में हम उसका मुख भले ही देख पाएँ, वह हमें तो नहीं ही देख पाता। ऐसा मरण सर्वाधिक शोकद (ट्रेजिक) इसी कारण होता है। अम्मा अवश्य चाहती थीं, बच्चन चाहते ही थे और शायद भाभी भी चाहती थीं कि जैसे बच्चन के सभी स्नेही भाभी को उनके जीवन के अन्तिम दिनों में उन्हें आ-आकर देख गए थे, मैं भी देख लूँ। मुझे प्रयाग के राजकीय प्रशिक्षण महाविद्यालय के केनिंग रोड स्थित छात्रावास में खबर मिली थी और मैं भाभी को देखने गया था। वास्तव में बच्चन के प्रति भाभी के अति प्रगाढ़ मंजिष्ठानुराग का ही यह अनुभाव था, जो अपना नश्वर शरीर छोड़ने के पूर्व वे उनकी (बच्चन की) उनके समस्त स्नेही जनों से आवृत

छवि को अपने मानस में सँजो ले जाना चाहती थीं। मैंने भाभी को श्वेत बिस्तरे पर महीन मशहरी के भीतर पीठ के बल लेटी हुई देखा था। क्षयरोग उन्हें क़रीब-क़रीब खा चुका था। मुखमंडल की मनोहारी श्यामता विदा ले चली थी। हाथ-पैर सूख गए थे। पर वे टुकुर-टुकुर निहार रही अत्यन्त ज्योतिष्मयी आँखें ज्यों की त्यों बनी हुई थीं। लगता था कि भाभी प्रातःकालीन ओस की बूँद हों, जो थोड़ी ही देर में विलीन हो जाने वाली है। क्षण भर बाद ही भाभी ने दोनों हाथ जोड़कर विदा दी। वे नहीं चाहती थीं कि उनके पास अधिक देर तक कोई बैठा रहे। भाभी तो मानो स्वाती की एक दुर्लभ बूँद थीं, जो लहरों के थपेड़ों से परेशान हो एक सीप में समा गई थीं, और उस सीप को जब उसके नियति-नियोजित मरजीवे (सीपी के धीवर) के हाथ न सँभाल सके तो वहाँ से बिछलते ही मानस के महाकाल ने उसे उदरस्थ कर लिया। फिर उस सीपी के मोती की विभा ने उतने अल्पकालीन संस्पर्श से ही उस मरजीवे के आज तक के जीवन को इतना आबदार बना रखा है। कहा जाता है कि 'बाढ़े पूत पिता के धरमा : खेती उपजै अपने करमा !' और जब कोई भारी आधिभौतिक बाधा को पारकर उबर आता है, तब लोग कहते हैं "अमुक की माँ ने खरी 'जूतिया' (द्वितीया, यम-द्वितीया) पूजी थी।" इस प्रकार लोक-मान्यतानुसार पुत्र के उत्थान और मंगलमय सामाजिक स्थिति का कारण पिता का धर्माचरण, और सन्तान के स्वास्थ्य तथा आयु का कारण माता की तपस्या और आशीर्वाद है। मेरी मान्यता है कि पति के जीवन में मानसिक सुख-शान्ति तथा सुयश का साफल्य भी पत्नी की निष्ठा और साधना का परिणाम है।

मानता हूँ कि मैं बहुत लम्बा लिख गया हूँ अतः बच्चन के लाखों-लाख प्रेमियों में से अधिकांश जो पढ़ेंगे, यही कहेंगे कि—

सौदा ख़ुदा के वास्ते कर क़िस्सा मुख़्तसर,
अपनी तो नींद उड़ गई तेरे फ़साने में।

तो ऐसे मित्रों को बस इतना ही कहूँगा कि सचमुच यदि आपको प्रिय नहीं, तो ज़रूर आपके लिए यह 'फ़साना' (अफ़साना या क़िस्सा) नींद हराम कर देने वाला ही है। पर यदि बच्चन प्रिय है, तब तो यह पोथा भी हो जाए तो आपको मुख़्तसर ही लगेगा, क्योंकि—

हर्फ़े नामंज़ूरे दिल यक हर्फ़ बेशस्त ओ बस।
मानिये दिलख़्वाह गर, सद नुस्खा बाशद हम कमस्त ॥

अर्थात् अगर दिल को मंज़ूर (रुचिकर) नहीं तो एक अक्षर भी बहुत है। अतः बस। लेकिन अगर दिलपसन्द हो तब तो सौ नुस्खे (हस्तलिखित पुस्तकें) भी कम ही हैं।

पण्डित अमरनाथ झा, डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा, सर तेजबहादुर सप्रू, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, डा० राजेन्द्रप्रसाद, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, सरोजिनी नायडू, इन्दिरा गांधी से लेकर प्रेमचन्द, शिवपूजन सहाय, मैथिलीशरण गुप्त, 'नवीन' जी, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, सुमित्रानन्दन पन्त, रामधारी सिंह दिनकर, महादेवी वर्मा आदि तक अनेकानेक महान् व्यक्तियों का बच्चन

ने स्नेह और सौहार्द अर्जित किया है। बच्चन की मित्र-मण्डली बड़ी विशाल है, और बच्चन अपने प्रत्येक स्नेही के लिए विशेष स्नेहवान हैं। यह बच्चन की महानता है, जो हज़ारों स्नेहियों में से प्रत्येक यही सोचता है कि बच्चन का सर्वाधिक स्नेह उसीसे है। इसमें सन्देह नहीं कि बच्चन जैसे मित्र का प्रेम संसार में एक दुर्लभ सुख है। यह जिसे मिला है, वही जान सकता है। पर इसका विवेचन गूँगे के लिए गुड़ का गान करने जैसा दुस्तर भी है। यह सभी जानते हैं कि मनुष्य मात्र में घमण्ड होता है। परन्तु यह सत्य है कि घमण्ड बच्चन में नहीं है या नहीं के बराबर है। क्रोध भी मनुष्य मात्र में होता है। पर क्रोध बच्चन में छूकर भी नहीं है। बच्चन की कोई भी बात मुझसे छिपी नहीं थी। सौ मौक़े आए थे, जब दूसरा उबल पड़ता। मैंने बच्चन को कभी भी गुस्सा होते नहीं देखा है। सम्भव है, कुछ महानुभावों को मेरी बात पर विश्वास न हो। ऐसे लोगों को इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पानी पर ऐपन नहीं बनाया जा सकता। ऐपन तो भीत पर ही बनाया जाता है।

बच्चन ! तुमको कहते-कहते बहुत कुछ तो मैंने अपने ही को कह डाला है, और इस ढंग से भी कि कई लोग पूछ सकते हैं कि क्या मैं तुम्हारा मुनीम रहा हूँ ? इसका सम्बोधन तो मुझे नहीं, तुम्हें होना चाहिए। क्या करूँ ? यह प्रसंग ही ऐसा है। कितना अधिक साम्य रहा है हमारी परिस्थितियों में। धन से, पद से, परिचय एवं प्रभाव से सर्वथा साधनहीन हम दोनों के पिता थे, और कितनी-कितनी अड़चनों से तिल-तिल करके हम आगे बढ़ते और चढ़ते रहे थे। मुझे तो याद है कि जाड़े के दिनों में सवेरे तन पर सूत का एकमात्र कुर्ता डाले गाँव से एक मील दूर पाँव नंगे जाने में सारा पैर बरफ़ हो जाता था और स्कूल पहुँचने पर भी शरीर काफ़ी देर तक ठिठुरता रहता था। फिर धूप होने पर हम सभी धूल में टाट-पट्टी पर बैठे विद्यार्थी दोपहर की छुट्टी में अपने कुर्ते निकालकर उल्टा रख देते और उसमें पड़े चीलर निकाल बाहर करते रहते थे। इस प्रकार पढ़ लेने पर, प्रथम श्रेणी में बी० ए० और एम० ए० कर लेने पर भी कितनी कठिनाई से हमें स्कूल में शिक्षक की नौकरी ही मिल पाई थी। हम दोनों ही के शिर पर आगे-पीछे समान आकार का 'पहाड़ भी गिरा' और हम दोनों ही सँभले और हमने द्वितीय विवाह भी किया (और दोनों ही एक-दूसरे के द्वितीय विवाह में शामिल भी हुए)। फिर एल० टी० और बी० टी० भी हम दोनों ही ने आगे-पीछे किया, (मैंने १९३६-३७ में एल० टी० तथा बच्चन ने १९३८-३९ में बी० टी०)। याद है न ? मैं तब गोरखपुर के सेंट ऐंड्रूज़ कॉलेज में हिन्दी विभाग का अध्यक्ष होकर पहुँच गया था। जब तुमसे मिलने बनारस आया था और तुमने तभी 'सुमन' जी से (अब डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन', जो तब वहीं पढ़ रहे थे) परिचय कराया था और रात में हम तीनों जयनारायण हाई स्कूल में आयोजित कवि-सम्मेलन में गए थे, जहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा पंडित केशव-प्रसाद मिश्र भी पधारे थे, और उन दोनों ही ने तुम्हारी कविता की कितनी अधिक प्रशंसा की थी ! हम दोनों ही (तुम सन् १९४१ में एम० ए० करने के बाद) शोधछात्र भी रहे, और फिर विश्वविद्यालयों में दोनों ही लेक्चरर होकर रहे। फिर हम दोनों

ही — पहिले तुम और बाद में मैं —भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय में प्रथम वर्ग के अधिकारी भी रहे। हम दोनों ही ने विदेश-गमन भी किया, तुमने पश्चिम योरप में और मैंने पूरब-उत्तर तिब्बत में और नेपाल में। मैं जब तक गोरखपुर में (सेंट ऐंड्रूज़ कॉलेज में १९३७ से १९४७ तक) रहा, जब-जब बुलाया तब-तब, (और एक बार अपने मन से भी। याद है न ?) तुम गोरखपुर में, और फिर सागर में (१९४७ से १९६८ तक) कितनी ही बार आए और मुझसे मिले। और मैं भी जहाँ तुम रहे—बनारस में, प्रयाग में और जब-जब दिल्ली गया, तब दिल्ली में – तुमसे मिलता रहा। केवल तीन बातों में तुम बाज़ी मार ले गए। तुम मेरे द्वितीय विवाह में आए, और मैं तुम्हारे द्वितीय विवाह में आया। यहाँ तक बराबरी रही। तुम मेरी कन्या के विवाह में शामिल हुए। याद है न कि उस दिन कन्यादान के लिए अपेक्षित निराजल व्रती मेरे साथ सारा दिन तुम भी रहे थे, और कन्यादान हो जाने पर हम दोनों ने ही दो बजे रात घर के कच्चे आँगन में गोबर लिपी ज़मीन पर निरासन आमने-सामने बैठे दही-शक्कर खाकर एक साथ ही व्रत तोड़ा था। पर तुमने मुझे अपनी कन्या के विवाह में शामिल होने का अवसर ही नहीं दिया, बस दो बेटे पैदा कर वानप्रस्थ ले बैठे। दूसरी, तुमने डॉक्टरेट हासिल की। मैंने अब तक हासिल नहीं की है (यद्यपि ४ को डाक्टर बना चुका हूँ), पर अब भी डी० लिट्० कर डालने के संकल्प से विरत नहीं हुआ हूँ। तीसरी, तुम राज्य-सभा के सदस्य हो गए हो। मैं भी उसे प्राप्त करने की उम्मीद करने लगा हूँ। अस्तु, मानोगे कि बहुत-कुछ तुममें मैं भी तो हूँ।

बीते दिनों की याद करके दुखी मत होना, मीत ! हम तब भी जीवन में शेर ही रहे हैं, और अन्तिम क्षणों तक हमें शेर ही रहना है। मैं आ तो रहा हूँ। अलग कभी मत समझना। मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ। साथ क्या हूँ, हम-तुम तो दोनों एक ही हैं :

बामन आवेजिशेओ उलफ़ते मौज स्त ओ कनार।
दम बदम बा मन ओ हर लहज़ा गुरेज़ाँ अज़ मन।

अर्थात्, मेरा और उसका सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि लहर और किनारे का है। हर क्षण वह मेरे साथ भी है, और दूर भी है।

इलाहाबादी परंपरा में पले

पद्मकांत मालवीय

बच्चनजी मेरे मित्र और साथी रहे हैं। उनकी उन्नति को मैंने सदैव अपनी ही उन्नति माना है यद्यपि मार्ग हम लोगों के प्राय: अलग-अलग रहे हैं—सिवा साहित्यिक क्षेत्र के। साहित्य के क्षेत्र में मुझे हमेशा ऐसा लगा है कि जो मेरे लक्ष्य थे और जिन तक मैं नहीं पहुँच सका, उन तक न केवल वे पहुँचे ही, बल्कि उनमें चार चाँद भी लगा दिए। उन्होंने जीवन में सफलताएँ भी प्राप्त कीं, अपनी योग्यता और कुशलता से। मेरी मंगल-कामनाएँ सदैव उनके साथ रही हैं, और रहेंगी। ईश्वर उन्हें जीवन में और भी अधिक सफलताएँ प्रदान करें, यह मेरी हार्दिक कामना है।

बच्चनजी, सबसे पहले सन् १९३३-'३४ में मेरे सम्पर्क में आए थे, ऐसा स्मरण पड़ता है। यों कहा जाता है कि सन् १९३० में मॉडर्न स्कूल कांड के बाद विद्यार्थी सघ की स्थापना के सिलसिले में विद्यार्थियों की जो सभा आनन्द भवन में हुई थी, उसमें मेरे पिताजी द्वारा सभापति पद के लिए एक बड़े नेतृ का नाम प्रस्तावित होने पर, जिस विद्यार्थी ने बड़ी उग्रता के साथ उनका विरोध यह कहकर किया था कि "विद्यार्थी संगठन का अध्यक्ष एक विद्यार्थी ही होना चाहिए और मैं पं० पद्मकान्त मालवीय का नाम प्रस्तावित करता हूँ।" वे बच्चनजी ही थे (उन दिनों यह बात बहुत मशहूर थी)। पता नहीं इसमें सत्यता कहाँ तक है, किन्तु यह घटना थी महत्त्वपूर्ण कई सन्दर्भों में। इससे स्पष्टवादिता और हिम्मत तो प्रत्यक्ष है ही।

यों जैसा मैंने कहा कि मेरा-उनका प्रत्यक्ष परिचय संभवत: १९३३-'३४ का है। मेरा प्रथम काव्य-संग्रह सन् १९२९ में प्रकाशित हुआ था। उसको लेकर हिन्दी संसार में तीव्र आलोचना-प्रत्यालोचना हुई थी। एक साहब ने उसकी उपमा 'मैलागाड़ी' से भी दे डाली थी। अधिकांश विरोध भाषा को लेकर था। 'छायावाद' उन दिनों उरूज़ पर था। उसके प्रतीकों पर बँगला और अंग्रेज़ी की छाप थी और भाषा में उर्दू का सम्पूर्ण बहिष्कार। वह एक प्रकार की पंडिताऊ भाषा थी, जनभाषा और जन-जीवन से बिलकुल अलग-थलग। मुझपर अपने स्वर्गीय पूज्य पिता पं० कृष्णकान्तजी की छाप थी। उन्हें उर्दू और फ़ारसी कविता से प्रेम था। वे कहा करते थे कि अच्छी हिन्दी लिखने के लिए उर्दू और संस्कृत का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। उनके दरबार में ब्रजभाषा का भी बोलबाला था जिससे छायावादियों का भारी विरोध था। पन्तजी ने 'पल्लव' की भूमिका में रीतिकालीन कवियों को काफ़ी फटकार सुनाई थी। पिताजी सच्चे अर्थों में प्रजातांत्रिक और समन्वयवादी थे। पन्तजी की प्रारंभिक रचनाएँ उन्होंने 'मर्यादा' में ख़ूब छापी

थीं। पन्तजी की सुप्रसिद्ध कविता 'छाया' 'मर्यादा' में ही छपी थी। पन्त, प्रसाद, निराला की तथाकथित छायावादी त्रिमूर्ति के पहले एक और त्रिमूर्ति थी खड़ीबोली के कवियों की, जिन्हें लोग आज भूल चुके हैं—आनन्दीप्रसाद श्रीवास्तव 'किरीट', गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' और ठा० विक्रमादित्यसिंह 'विक्रम'। भगवत् कृपा से 'विक्रम' जी आज भी हम लोगों के बीच में हैं। महादेवीजी की प्रारम्भिक रचनाओं पर उनकी छाप स्पष्ट है। ये सभी 'मर्यादा' स्कूल के कवि थे और अभ्युदय प्रेस में बराबर आया-जाया करते थे। किरीटजी और विक्रमजी ने तो मुझे पढ़ाया भी है। ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि पं० रमाशंकरजी शुक्ल 'रसाल' भी 'अभ्युदय' परिवार के अंग बन चुके थे। उर्दू के सुप्रसिद्ध महाकवि नूह नारवी और बिसमिल साहब भी 'अभ्युदय' के अपने निजी कवि जैसे बन रहे थे। और ये सभी खड़ीबोली के समर्थक होते हुए भी उर्दू या ब्रज-भाषा के विरोधी नहीं थे। इस वातावरण में उगा, पनपा और बढ़ा हुआ मैं स्वभावतया छायावादी न बन सका। एक प्रकार से उसका विद्रोही ही रहा। कविताएँ लिखना तो २३-२४ से ही प्रारम्भ हो गया था पर २७-२८ आते-आते तो मैंने कविरूप में काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। मैं हिन्दी में भी उर्दू की-सी शोखी, महावरेदानी, संगीता-त्मकता देखने को उत्सुक था जो छायावादी भाषा में, मेरी समझ के अनुसार यह संभव न था। फल यह हुआ कि मेरी कविताओं पर उर्दू तथा फ़ारसी का काफ़ी प्रभाव रहा। मैंने हिमाक़त यह की कि उर्दू कविता के प्रतीक शराब, मदिरा, प्याला इत्यादि का प्रयोग भी खुलकर किया और हिन्दी में मेरा जो भारी विरोध हुआ, उसका यह एक प्रमुख कारण था। इधर जितना ही विरोध बढ़ा, उतना ही समर्थन और प्रचार भी बढ़ता गया। अब खड़ीबोली हिन्दी के काव्य-जगत् में दो प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष थीं। एक छायावादी, दूसरी मिली-जुली समन्वयवादी जिसे बाद में समीक्षकों ने 'हाला-प्याला-वादी' नाम दे दिया।

संस्कृत के प्रकांड विद्वान्, प्रेममूर्ति पं० चन्द्रशेखरजी शास्त्री की मुझपर अपार कृपा थी और इस नाते उनके सुपुत्र पं० प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' से मित्रता। और मुक्तजी बच्चनजी के घनिष्ठ मित्र थे। एक दिन उन्होंने कहा, "मेरे एक मित्र हैं बच्चन। वे भी आपकी ही तरह हाला-प्याला की कविताएँ लिखते हैं और आजकल 'मधुशाला' की रचना कर रहे हैं। पढ़ते भी आपकी ही तरह बहुत सुन्दर हैं। मैं चाहता हूँ कि आपको उनसे मिलाऊँ।" यह सुनकर मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। एक गुनहगार को दूसरे गुनहगार से मिलने की जो उत्सुकता होती है, वैसी ही कुछ व्यग्रता मुझे भी हुई होगी और मैंने उसी समय उनसे बच्चनजी के यहाँ ले चलने का आग्रह किया। मोटर निकाली और पहुँच गए मुट्ठीगंज स्थित उनके मकान पर। वे मिल भी गए और उन्होंने जब अपने मधुर कण्ठ से 'मधुशाला' के कुछ छन्द सुनाए तो मैं बाग़-बाग़ हो गया। फिर तो मैं उनका एक प्रकार से प्रचारक जैसा बन गया। लगा, एक से दो तो हुए। परहेज़गारों की अपेक्षा गुनहगारों की मित्रता अधिक मधुर होती है, शायद अधिक स्थायी भी।

सन् १९३१ के करबन्दी आन्दोलन में अभ्युदय प्रेस पर सरकारी ताला लग

गया था। सन् १९३४ में नेताओं के जेल से छूटने पर 'अभ्युदय' के पुन:प्रकाशन की भी नौबत आई। पिताजी अस्वस्थ थे इसलिए उसका सम्पादन भार सौंपा गया स्वर्गीय पं० व्यंकटेश नारायणजी तिवारी पर और प्रबन्धक मैं बना। इस बीच बच्चन की कविता चमक चुकी थी और लोग उनकी ओर आकर्षित हो रहे थे। तिवारीजी को भी 'मधुशाला' पसन्द आई और उन्होंने मुझसे बच्चनजी को अपना सहयोगी बना लेने का प्रस्ताव रक्खा। मैंने तुरन्त स्वीकृति दे दी और इस तरह बच्चनजी मेरे सहकारी के रूप में अभ्युदय प्रेस में काम करने लगे। हम दोनों के सम्बन्ध घनिष्ठ से घनिष्ठतर होते गए। 'मधुशाला' समाप्त हो चुकी थी और उसके प्रकाशन की तैयारी अभ्युदय प्रेस से ही उन्हींके निरीक्षण में पूरी हो रही थी। अभ्युदय प्रेस में पैसों का टोटा तो सदैव रहता ही था। पुस्तक छपने में कुछ देर हुई तो बच्चनजी को भ्रम हुआ कि मैं शायद जान-बूझकर ईर्ष्यावश उनकी पुस्तक के प्रकाशन में देर कर रहा हूँ। वे कुछ क्षुब्ध हुए। उनके क्षोभ की बात सुनकर मैंने उन्हें तुरन्त वे जहाँ से चाहें 'मधुशाला' के प्रकाशन की अनुमति दे दी।

इस क्षोभ का एक कारण और था। बच्चनजी की 'मधुशाला' पूरी सुनने के बाद उसमें एक बात मुझे खटकी थी। मैं मालवीय परिवार के सांस्कृतिक वातावरण में पला हुआ व्यक्ति स्वाभाविक रूप से हिन्दू आध्यात्मिकता या संस्कृति से ओतप्रोत था। 'एक बार ही तो मिलनी है जीवन की यह मधुशाला' जैसी हिन्दू मान्यता-विरोधी उनकी उक्ति मुझे पसन्द नहीं आई थी। पर इस सम्बन्ध में मैंने किसीसे कुछ कहा हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं पड़ता। कहा होगा तो बच्चनजी से ही। जो भी हो, उनके मन में मेरे सदुद्देश्य के सम्बन्ध में शंका अवश्य पैदा हो गई थी। इसके बाद वे अभ्युदय प्रेस से भी अलग हो गए थे।

'मधुशाला' छपी और ठाठ से बिकी। बच्चनजी ने समालोचना के लिए उसे 'अभ्युदय' में भी भेजा। इत्तफ़ाक से उस समय मेरे घनिष्ठ मित्र और सहपाठी, हिन्दी के उस समय के सुप्रसिद्ध कहानीकार और साहित्यिक ठाकुर वीरेश्वरसिंह मेरे पास बैठे थे और मैंने उसे समालोचना लिखने के लिए उन्हीं को दे दिया। उनकी समालोचना एक छद्म स्त्री नाम से 'अभ्युदय' में छपी। समालोचना काफ़ी कटु थी। वीरेश्वर व्यंग्यात्मक चुटीली भाषा लिखने में माहिर हैं। सो चोट गहरी लगी। अच्छा-ख़ासा विवाद छिड़ा था 'मधुशाला' को लेकर। दोनों ओर के मित्रों ने एक-दूसरे पर कड़ी बौछारें कीं। मुझपर भी चोटें हुईं।

सम्पादक के नाते मैं गोपनीय नाम को गोपनीय रखने के लिए विवश था। कटुता न बढ़ने पाए हम लोगों के बीच इसलिए एक दिन मैं स्वयं बच्चनजी से मिला और सारी स्थिति उन्हें समझाकर कहा, "भाई, मैंने तो तुम्हारा उपकार ही किया है। वाद-विवाद से प्रसिद्धि बढ़ती ही है। इस विवाद को लेकर हमारे-तुम्हारे स्नेह-सम्बन्धों में कटुता नहीं आनी चाहिए।" और मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता है कि ऐसा ही हुआ भी और हम लोग पारस्परिक स्नेह-सूत्र में सदैव बँधे ही रहे।

प्राय: छोटे से जो आदमी बड़ा बनता है, उसमें एक प्रकार की क्षुद्रताजनित

बड़प्पन की भावना आ ही जाती है और वह उसका प्रदर्शन कभी-कभार बहुत ही भद्दे ढंग से कर बैठता है। हमारे यहाँ इसीलिए जन्म से आए बड़प्पन को कर्म से पाए बड़प्पन की अपेक्षा अधिक मूल्यवान आँका गया है। बच्चनजी में मैंने कभी ऐसी क्षुद्रता नहीं देखी; तभी तो एक बार जब मेरे एक वरिष्ठ साहित्यिक मित्र ने अपने साथी कुछ-एक आज के मान्यताप्राप्त साहित्यिक बन्धुओं द्वारा अपने प्रति किए गए असद् व्यवहार की चर्चा की थी तो मैंने छूटते ही उनसे कहा था, "बच्चन ऐसा नहीं कर सकते। वे इलाहाबादी परम्परा में पले हैं। मेरे साथी रह चुके हैं। वे असद् व्यवहार किसीके साथ करें, यह असम्भव है पर भ्रमवश यदि आपको कभी ऐसा प्रतीत हुआ हो तो उनकी तरफ़ से मैं आपसे क्षमाप्रार्थी हूँ। मैं बच्चनजी को कहूँगा भी इस सम्बन्ध में।" और वे सन्तुष्ट हुए थे मेरे उत्तर से। बच्चनजी से इस सम्बन्ध में मैंने चर्चा की या नहीं, मुझे स्मरण नहीं। उनकी सज्जनता तथा सद्व्यावहारिकता पर मेरा इतना दृढ़ विश्वास था और है। कोई कितना ही बड़ा साहित्यकार, महाकवि, महानेता, क्यों न बन जाए, यदि उसमें शिष्टाचार की कमी हो तो मुझे वह रुचता नहीं। मैं उससे दूर भागता हूँ। बच्चनजी से मेरा सम्बन्ध आज तक ज्यों का त्यों बना हुआ है। यह भी उनकी महानता का ही प्रमाण है।

इस सम्बन्ध की एक मज़ेदार घटना याद आ गई। सन् तो याद नहीं, बात उपर्युक्त वाद-विवाद के बाद और शायद फ़तेहपुर की है। हम दोनों के ही एक अत्यन्त स्नेही मित्र वहाँ के सरकारी स्कूल के प्रधानाचार्य थे। उन्होंने कवि-सम्मेलन का आयोजन किया और हम दोनों को प्रयाग से ले चलने के लिए स्वयं आए। यात्रा बड़े सुख में कटी। कवि-सम्मेलन के प्रारम्भ होने का समय आया। प्रिंसिपल-मित्र बड़े असमंजस में पड़े कि सभापति किसे बनाया जाए। उन्होंने पहले हमसे पूछा तो हमने कहा 'बच्चन को बनाओ।' वे आश्वस्त हुए जैसे उनके सर से एक बोझ हट गया हो। सम्मेलन के प्रारम्भ में उन्होंने बच्चन का नाम अध्यक्ष-पद के लिए प्रस्तावित किया। जैसे ही वे प्रस्ताव करके बैठे कि बच्चन माइक पर आए। बोले, "प्रिंसिपल साहब ने जो प्रस्ताव रक्खा है, यह अनुचित है। यहाँ पं० पद्मकांतजी बैठे हुए हैं। वे मुझसे 'सीनियर' हैं। उनकी उपस्थिति में मेरा अध्यक्ष-पद पर बैठना शोभनीय नहीं होगा। मैं प्रस्ताव करता हूँ कि आज के सम्मेलन की अध्यक्षता पं०पद्मकान्त जी करें।" अब मेरी बारी थी। मैंने बच्चनजी को उनके प्रस्ताव के लिए धन्यवाद देते हुए कहा, "बच्चनजी को शायद पता नहीं कि प्रिंसिपल साहब का प्रस्ताव वास्तव में मेरा है। अपने प्रति उनकी शुभ-भावनाओं के लिए मैं कृतज्ञ हूँ किन्तु अन्याय मेरे साथ प्रिंसिपल साहब ने नहीं, उन्होंने किया है। प्रिंसिपल साहब ने जो किया, वह मुझसे पूछकर, पर बच्चनजी शिष्टाचारवश मेरे साथ घोर अन्याय करने पर उतारू हैं। सभापति का आसन ग्रहण करना मेरी राय में एक मुसीबत है। घंटों एक आसन से बैठना, सबकी सब तरह की कविताएँ मुँह बन्द करके सुनना ही नहीं, उनकी प्रशंसा भी करना, और सबके अन्त में, जब कि लोग घर जाने के लिए उत्सुक हों, उस समय उनपर अपनी कविता लादना मुसीबत नहीं तो क्या है? बच्चनजी अपनी मुसीबत मेरे सर मढ़ना चाहते हैं पर मैं इस तरह फँसने वाला

नहीं। मेरा प्रस्ताव है कि वही अध्यक्ष-पद सम्भालें। 'सीनियर' वह मुझे मान ही चुके हैं। मुझे विश्वास है कि वे मेरी बात टालेंगे नहीं।" उनकी इच्छा के विपरीत मैंने अपने बग़ल में बिठलाकर उन्हींसे अध्यक्षता कराई। इस छोटी-सी घटना ने हम दोनों में ही नहीं, समस्त उपस्थित लोगों में स्नेह और सौहार्द की जो भावना जगाई, वह कहने की नहीं, अनुभव की चीज़ है। ऐसे महान् हैं बच्चन! काश, आज के तथाकथित अन्य महान् साहित्यकार इन छोटी-छोटी बातों की महत्ता समझ दूसरों के लिए एक आदर्श छोड़ सकते! तभी तो मैंने उपर्युक्त महान् साहित्यकार से बड़े विश्वास के साथ कहा था, "बच्चन अशिष्ट व्यवहार कर ही नहीं सकते। वे इलाहाबादी परम्परा के जो हैं।"

बच्चनजी आज राजनीतिक दुनिया में आगे बढ़ रहे हैं। मैं उस दुनिया से अलग होकर एकान्तवास कर रहा हूँ। मैं जहाँ असफल सिद्ध हुआ, ईश्वर करे, वहीं वह सफलता प्राप्त करें और यशस्वी बनें, जगदम्बा से मेरी यही प्रार्थना है।

बच्चन महाकवि के अतिरिक्त एक बहादुर, शीलवान्, सज्जन व्यक्ति भी हैं। महान् सोचते हैं और महान् ही करते हैं। छुटपना उन्हें छू नहीं गया है। ऐसा व्यक्ति आज की दुनिया में आदरणीय नहीं तो क्या है।

बहुत दिन बीते

डॉ० सावित्री सिन्हा

इलाहाबाद नगर में 'हीरो' जन्म लेते हैं। नेता और नायक शब्द का प्रयोग मैं जान-बूझकर बचा रही हूँ क्योंकि ये शब्द उस दृष्टिबिन्दु और अर्थ को वहन करने में असमर्थ हैं, जिनका आभास मैं देना चाहती हूँ। तीस साल पहले इस नगर की नई पीढ़ी के सामने बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण प्रश्न थे। अनेक चुनौतियाँ थीं जो परिवार की सीमित परिधि से लेकर राजनीति के व्यापक क्षेत्र तक छाई हुई थीं। प्रश्न था पूर्ण स्वतन्त्रता और डोमिनियन स्टेटस का, पढ़ाई छोड़कर जेल जाने का, घर की सीमाएँ तोड़कर बाहर आने का, नयी कल्पना के भारत का निर्माण करने का। इस नगर के युवक-युवती भी किसी न किसी रूप में इन चुनौतियों से जुड़े हुए थे। उस समय देश की नई पीढ़ी के सामने अनेक चेहरे थे नवयुवकों को ठीक राह दिखाने के लिए जिनके संकेत पर नौजवान ज़मीन-आसमान एक कर देते थे। उन चेहरों में सबसे भव्य, सबसे दृढ़, कोमल चेहरा इलाहाबाद के पचपन वर्षीय युवक सम्राट् जवाहरलाल नेहरू का था। नख़ास कोने और अतरसुइया के साम्प्रदायिक दंगों में बरसते हुए पत्थरों और ईंटों के बीच यह चेहरा गम्भीर निर्भीकता से घूमता रहता, पुरुषोत्तमदास पार्क की विशाल सभाओं में जवाहर-लाल की गरजती हुई आवाज़ नौजवानों के लहू में आग भर देती। और वह आग समुद्र बनकर बड़ी से बड़ी सत्ता को निगल जाने को उद्वेलित हो जाती। आज के राजनीतिज्ञ जब अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए विद्यार्थियों को अपनी शतरंज का गोट बना-कर आगे कर रहे हैं, उनसे आत्म-दाह और भूख हड़ताल कराके अपनी चालें चल रहे हैं तब सचमुच ही लगता है हमारे युग को बीते बहुत दिन हो गए।

बात 'हीरो' से आरम्भ की थी इसलिए उपर्युक्त प्रसंग अनायास ही आ गया। उन दिनों इलाहाबाद में अनेक साहित्यिक निधियों के दर्शन भी सुलभ थे। महादेवी वर्मा, निराला, पन्त, रामकुमार वर्मा—ये सभी जैसे इलाहाबाद की जनता के अपने व्यक्ति थे पर नई पीढ़ी के हृदय में इनके प्रति श्रद्धा-सम्मान और आदर अधिक था। संवेदना की निकटता से उत्पन्न आत्मीयता तो उन्हें उस समय के युवक कवियों में ही मिलती थी और, इस दृष्टि से बच्चनजी नई पीढ़ी के सबसे निकट थे। बच्चनजी के साथ, तत्कालीन एक साधारण छात्रा की निकटता इतनी ही मानी जा सकती है जो भीड़ में खोये हुए किसी एक व्यक्ति की मंच पर बैठे विशिष्ट व्यक्ति के प्रति होती है। बातें लगभग १९३८ से १९४० के बीच की हैं। पाठ्यक्रम में निर्धारित महादेवी की कविता 'विरह का जलजात जीवन' अथवा पन्त की 'एक तारा' सुन्दर और आकर्षक

लगते भी बोझिल जान पड़ती थीं, उनको समझने के लिए जो बौद्धिक और मानसिक संस्कार अपेक्षित है वह स्कूली छात्रों में आ सकता है इस विषय में आज भी मेरे मन में सन्देह है। इसीलिए बच्चन की मधुशाला की सहज संगीतमयता और सरलता में जैसे उन्हें पाठ्यक्रम की सुन्दर, अस्पष्ट और जटिल कविताओं से बचाव मिला।

बच्चनजी के साहित्य से प्रथम परिचय की याद करती हूँ तो अनुमान होता है कि अतीत का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र अपने साथ कितनी घटनाओं और व्यक्तियों को समेटे रहता है। सबसे पहले याद आती है उमा और लल्लनजी की, दोनों भाई-बहन। अध्यवसायी, स्वाभिमानी, संघर्षों से लड़ते हुए। उमा श्यामाजी की भतीजी थी। बेहद स्वाभिमानिनी; न झुकना जानती थी न टूटना। अत्यन्त सौम्य और गम्भीर पर निजी परिधि में काफ़ी चपल, मेरी अन्तरंग मित्र। अक्सर आकर कहानियाँ सुनाती, आज बच्चनजी ने यह गीत सुनाया, वह गीत सुनाया, सुनाते-सुनाते वह अपने आपको भूल गए, यह गीत गाते समय उनका गला भर आया, आँखों में आँसू आ गए—इत्यादि-इत्यादि। और साथ की सब लड़कियाँ भावाभिभूत ऐसी मुख-मुद्राएँ बनाए रहतीं जैसे किसी आलोक-वलय से घिरा हुआ चेहरा देख रही हों। इसी दृश्य के साथ एकाध स्मृतियाँ और जुड़ जाती हैं। स्कूल में विदा-समारोह था, विदा देने वाली लड़कियों की ओर से गीत गाया गया, 'आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे' और जाने वाली लड़कियों ने गाकर उत्तर दिया, 'नभ में दूर दूर तारे भी'। उन दिनों हमारा स्कूल क्रास्थवेट रोड पर था। साहित्य सम्मेलन का आधा भवन बन चुका था और शेष भूमि पर खपरैल पड़े हुए थे। कमरों-दालानों में हमारा स्कूल चलाया जाता था। चारों ओर खूब खुली हुई जगह और अमरूद के बाग़ थे। सामने सड़क खूब चलती थी। अग्रवाल विद्यालय, जहाँ बच्चनजी पढ़ाते थे, मेरे स्कूल से कुछ ही दूर पर था। एक दिन खाने की छुट्टी में हम सब दालान में खड़े आलू की चाट और पापड़ खा रहे थे, इतने में ही मेरी एक सहपाठिनी प्रमिला (स्वर्गीय व्यंकटेशनारायण तिवारी की पुत्री) चिल्लाई, 'बच्चनजी, बच्चनजी'। हम सब हाथ में दोना पकड़े फाटक की ओर भागे पर वहाँ खड़ा चपरासी लाठी पटककर मैनेजर साहब की-सी आवाज़ में चिल्लाया "कहाँ जा रही हो?" बस, झुण्ड वहीं रुक गया और साइकिल पर जाते हुए बच्चनजी के लहराते हुए बालों और पीठ को देखकर ही गेट से वापस आ गया।

प्रौढ़ होने पर आदमी को पता चलता है कि जिस उम्र में हम अपने को सबसे अक्लमन्द समझते हैं, वास्तव में उन दिनों हम कितने बेवकूफ़ होते हैं।

उन दिनों न हर मध्यवर्गीय घर में रेडियो रहता था और न रेडियो पर हिन्दी साहित्य के कार्यक्रमों को अधिक महत्त्व दिया जाता था, फलत: कवियों की रचनाओं को सुनने का एकमात्र साधन था कवि-सम्मेलन, जो उस समय के इलाहाबाद की छात्राओं के वश की बात नहीं थी। कॉलेज और स्कूलों की छात्र-सभा या साहित्य-सभा इस प्रकार की क्षति-पूर्ति करती थीं छात्राओं द्वारा विभिन्न कवियों की रचनाओं के पाठ का कार्यक्रम बनाकर। बच्चनजी की कविताएँ दो-तीन बार पढ़ी गईं। उनकी कविता की मूल स्रोत

थी, उमा। इन साहित्यिक गोष्ठियों से अधिक बच्चनजी की कविताओं का आनन्द लिया जाता था खाने की छुट्टी और खाली घण्टों में। कॉलेज के पीछे के भाग में अमरूद के पेड़ों के नीचे टोली जम जाती, बीच में पुस्तक रख दी जाती और बच्चनजी की कविता का बेसुरा कोरस शुरू हो जाता। इसी बीच एक रोचक विवाद खड़ा हो गया, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने कहीं लिखा कि बच्चन की कविता वासनामूलक है और उसका स्वर अनैतिक है। हमारी एक अन्तरंग मित्र विद्या चतुर्वेदी पूर्ण गांधीवादी थी — निर्भीक, निडर और साहसी। वह इस आरोप से पूर्ण सहमत थी। उसीके प्रभाव से उन दिनों मैं भी तीसमार ख़ाँ बनकर देशसेवा कर रही थी। सिर से पैर तक आभूषण-विहीन, बिन्दी-चूड़ी कुछ भी नहीं, एक वेणी। मोटे खद्दर से लदी हुई श्वेतवस्त्रा बनकर ज़िन्दगी बिताने का व्रत ले रखा था। दादी की फटकार और अपशकुन का भय भी तब तक मुझे नहीं डिगा पाया था। मुझे भी बात ठीक लगी और हम दोनों के आदर्शवाद ने बच्चनजी की कविता-प्रेमिकाओं को चुनौती देना आरंभ कर दिया। जहाँ अमरूद के पेड़ के नीचे 'मधुबाला', 'मधुशाला', 'मधुकलश' (ये सब नाम लड़ाई के दिनों में लड़कियों को दिए गए थे) इकट्ठी हुईं, हम लोग हा-हा हू-हू हो-हो करते वहाँ रंग में भंग करने पहुँच जाते। लेकिन यह काण्ड अधिक दिनों तक नहीं चल सका। क्रिश्चियन कॉलेज से कविता-प्रतियोगिता का निमन्त्रण आया। कुमारी विद्या चतुर्वेदी ने मधुशाला के वज़न पर 'झरना' कविता लिखी, कुमारी सावित्री श्रीवास्तव ने 'इस पार-उस पार' की तर्ज़ पर 'अन्वेषण' कविता। प्रथम कविता को प्रथम पुरस्कार मिला और दूसरी किसी कापी के अन्दर रखी-रखी खो गई क्योंकि उसकी लेखिका को घर के डर के मारे कवि-सम्मेलन में भाग लेने का साहस नहीं हुआ। सच्चाई यह थी कि चतुर्वेदीजी के लेख का प्रभाव एक हफ़्ते में ही उड़ गया था और इंटर पास करने के पहले ही 'मधुशाला' के साथ ही 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' के अनेक गीत हम लोग रट गए थे।

इलाहाबाद में हमारे घर के चारों ओर अग्रवालों के परिवार रहते थे और उनके प्रायः सभी बच्चे अग्रवाल विद्यालय में पढ़ते थे। हमारे घर के लड़के कायस्थ पाठशाला या सी० ए० वी० में जाते थे। खेल, पढ़ाई, सांस्कृतिक कार्यक्रम सभी क्षेत्रों में विभिन्न कॉलेजों में स्पर्धा चलती रहती थी। पीरशहीद के चबूतरे पर कायस्थ पाठशाला और अग्रवाल विद्यालय के तुलनात्मक 'अध्ययन' की बहस के दौरान तू-तू मैं-मैं की ही नहीं कुश्तमकुश्ता की भी नौबत आ जाती, परन्तु दोनों का सन्धि-बिन्दु था अग्रवाल विद्यालय के विद्यार्थी पन्नालाल गर्ग द्वारा स्थापित पुस्तकालय साहित्य कुंज। वे कॉमर्स के विद्यार्थी थे परन्तु बच्चनजी और उनकी कविता के परम भक्त थे। साहित्य कुंज की वल्लरियों का उपयोग मोहल्ले के सब साहित्य प्रेमी कर सकते थे। यह सार्वजनिक रूप से घोषित था कि उनके गुरु-भगवान् बच्चनजी हैं।

एक मेरी बुआ हैं दूर के रिश्ते की। बच्चनजी के यहाँ से भी उनकी कोई नातेदारी होगी। मुझे वे बहुत 'आज़ाद' समझती थीं क्योंकि मैं लड़कियों के कॉलेज से बी० ए० न करके यूनिवर्सिटी में लड़कों के साथ पढ़ रही थी। साइकिल पर

सिर खोलकर घूमती थी और अपने से बड़ों के सामने अपने पति से बात करने में न मुझे लाज आती थी न शरम। वास्तव में मैं अपनी इन बुआ से बहुत कतराती थी। बचते-बचते भी एक दिन सामना हो ही गया। हाल-चाल पूछने के बाद बात-बात में बुआ बोलीं, "कहौ बिटिया, तुमहूँ अपने सिर में पहिया लगावत हौ ?" (उन दिनों रिङ्ग के सहारे जूड़ा बनाने का चलन था) तुम भी वाचक 'तुमहूँ' पर मेरी आँखों का प्रश्न फैल गय, बुआ के रोष का पात्र मेरे अतिरिक्त और कौन है ? उनकी रेलगाड़ी आगे बढ़ी, "बच्चन की दुल्हिन अपने मूड़े में ऊपर तिरछा पहिया लगाय लेती हैं अउर न जाने कइस-कइस कीला-भाला खोंसे रहती हैं— हम तो सोचित है नींद कइसे आवत होई ! बलिहारी अइसे फैसन की।" बात स्पष्ट हो गई। मैंने सोचा 'बिचारी बच्चन की दुल्हिन ! और वाह रे इलाहाबादी परपंच !"

इधर बहुत दिनों बाद इलाहाबाद जाना हुआ। अपने जाने-पहचाने छोटे-से स्टेशन के स्थान पर लम्बी-चौड़ी, भारी-भरकम इमारत देखकर सहसा उसके इलाहाबाद होने का विश्वास नहीं हुआ। एक अप्रिय अपरिचय का भाव लिए मैं स्टेशन के बाहर आई, पर वहाँ तो सब कुछ वैसा ही था पहले जैसा। वही रूखे-उलझे बाल बिखराए अभुआती हाथ फैला-फैलाकर लड़ती हुई इलाहाबाद की मजदूरनी, हर वाक्य के साथ गाली जोड़कर बात करते हुए, वैसे ही कुली। स्टेशन के सामने, वही वैसी ही मछली बाज़ार की सड़क। मन में प्रश्न उठा, वह आधुनिकता जिसकी आवाज़ इलाहाबाद से उठकर देश के बुद्धिजीवियों पर मंडराती है कहाँ है, क्या वह आवाज बन्द अध्ययन-कक्षों से उठकर ऊपर-ऊपर ही तैर रही है ? इलाहाबाद की धरती को उसने नहीं छुआ है ?

बहुत दिनों के बाद इस बार—अपने सम्बन्धियों और पुराने मित्रों से भी मिली। विचित्र संयोग है कि हर तीसरे-चौथे घर में वहाँ छोटे-छोटे राजीव-संजय-अमित-अजित मिलते हैं। मैं अनुसन्धान की वैज्ञानिक अथवा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से गुज़रे बिना ही एक स्थापना कर देती हूँ, 'इलाहाबाद की भूमि पर 'हीरो' के साँथ उनके अगणित स्नेहान्ध उपासक भी अवतरित होते हैं।'

मानवता ही जिनकी कविता है

व्रजकिशोर नारायण

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, महाप्राण निराला, महाकवि पंत तथा आदरणीया महादेवीजी से लेकर माखनलाल चतुर्वेदीजी, दिनकरजी, नवीनजी एवं हिन्दी के अन्यान्य मूर्धन्य प्रायः सभी कवियों से मेरा वैयक्तिक सम्पर्क रहा है। कुछ लोगों से तो आत्यंतिक रूप से निकटता भी रही है! घनिष्ठता भी!! पारिवारिकता भी!!!

मगर, भैया बच्चन ही मेरे जीवन के एकमात्र ऐसे कवि हैं, जिनको मेरी आत्मा ने अपना माना है। यह मान्यता, श्रद्धातिरेक या अन्धभक्ति के कारण नहीं, प्रत्युत कुछ ऐसी घटनाओं के आधार पर है, जिनकी विशद चर्चा करने लगूँ तो एक पुस्तक ही तैयार हो जाए।

बहरहाल, यहाँ सिर्फ़ दो ही वाक़यातों का ज़िक्र करूँगा, जिन्होंने मुझे एक अलौकिक आकर्षण से उनका परम समीपी बना दिया है।

पहली घटना को घटे, लगभग पच्चीस वर्ष हो रहे हैं। मेरे ज़िले— चम्पारण (बिहार)— में एक छोटा-सा राज्य था—रामनगर। वहाँ के राजा नेपाल-नरेश से सम्बन्धित रक्त के राजपुरुष हैं। जिन दिनों की मैं चर्चा कर रहा हूँ, उन दिनों रजवाड़ों का वैधानिक रूप से विलोप नहीं हुआ था। सम्पन्नता का ऐसा समाँ था कि प्रत्येक प्रकार की विलासिता अपनी चरम सीमा पर थी। कहीं चुनीदा पहलवानों की कुश्तियाँ ठनी हुई हैं, तो कहीं हाथियों-घोड़ों की गिनती को बेहिसाब बनाया जा रहा है। इधर मशहूरोमारूफ़ संगीतज्ञों और तवायफ़ों के सुर-संधान चल रहे हैं, तो उधर घनघोर जंगलों में शेर के शिकार के लिए मचान बाँधे जा रहे हैं। आज नदी पर बजड़ों की बहारें हैं, तो कल पहाड़ों पर बाघों की दारुण दहाड़ें!! कभी तुलसी-जयन्ती पर अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन है तो कभी दशहरे के अवसर पर लोमहर्षक बलियों का रोमांचक दृश्य!!!

ऐसी ही फ़िज़ाँ में रामनगर के राजकुमार— श्री ५ नारायणवीरविक्रम शाह ने मेरी मित्रता की लाज रखी और अपने यहाँ एक अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन कराना स्वीकार कर लिया। स्वीकार करते हुए उन्होंने पहली शर्त यह रखी कि सभापतित्व के लिए प्रयाग से बच्चनजी को तुम्हें हर हालत से ले आना होगा। मैं उनकी दृढ़ता को भली भाँति जानता था, इसलिए बच्चनजी को आमंत्रित करने के लिए खुद इलाहाबाद चला गया। उनसे वहाँ कैसे, किस वक़्त और किस ढब से मिला, इसकी चर्चा अभी नहीं करूँगा। संक्षेप में, इतना ही बताऊँगा कि मेरा प्रयाग जाना सफल हुआ और बच्चनजी

ने रामनगर आने की मंज़ूरी दे दी।

रामनगर राज्य में वह कवि-सम्मेलन पहला समारोह था, जिसमें पन्द्रह स्वागत-द्वार बनवाए गए थे और द्वार को तोरण-बन्दनवार से सजाकर, अगल-बगल दो-दो राजसी वर्दीधारी बन्दूकची सिपाही खड़े किए गए थे। जैसे ही कवियों की कारें द्वारों से गुज़रती थीं कि दोनों ओर से 'धायँ-धायँ' दो फ़ायर होते थे। पन्द्रह मिनटों के अन्दर ही, तीस गोलियों की सलामी लेकर हिन्दी कवियों के होश हिरन थे!!!

उक्त राज-परिवार में बड़े राजा साहब, बड़ी महारानी साहिबा और राजकुमारियों के साथ-साथ दूसरे राजपुत्रों पर भी मेरा एक ऐसा पारिवारिक प्रभाव था कि सांस्कृतिक मामलों में मेरी हर बात वेद-वाक्य की तरह वरेण्य मानी जाती थी। फलस्वरूप, जब मैंने कविसभा के मंच पर स्वर्णमंडित एवं रत्नजटित राजसिंहासन को कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष के लिए पंडाल में ले आने का अनुरोध किया तो उसे बेहिचक स्वीकार कर लिया गया।

मुझे क्या मालूम था कि लाखों की लागत के अध्यक्ष-आसन को देखकर सरस्वती के वर्चस्वी वाहन, अचानक लक्ष्मी की सवारी बन जाने के लिए बेचैन हो उठेंगे। मंच के एक कोने से कुछ सरगर्म वार्तालाप का आभास मिला तो मैंने उसका रहस्य जानना चाहा। पूछने पर पता चला कि एक सम्भ्रान्त कवि महोदय दूसरे कवियों से कह रहे हैं कि "अगर मुझे इस कवि-सम्मेलन का सभापति नहीं बनाया गया तो मैं अपने सभी चेले-चाटियों के साथ 'वाक-आउट' कर जाऊँगा!" यह ख़ौफ़नाक खबर सुनते ही मैं हक्का-बक्का-सा हो गया। मैंने किंकर्तव्यविमूढ़ होकर इस पेचीदा प्रश्न को सुलझाने के लिए जब एक राजपुत्र महाशय से राय ली तो वे आग-बबूला होकर बोले, "उनसे कह दीजिए कि अगर उन्होंने पूर्वघोषित और निश्चित कार्यक्रम में रंचमात्र भी बाधा पहुँचाने का दुस्साहस किया तो हड्डी-पसली तोड़कर रख दी जाएगी!"

ये सारी बातें, हालाँकि बहुत दबा-दुबो के हो रही थीं, मगर बच्चनजी को उसकी भनक मिल ही गई। वे मंच से तुरन्त उठे और सीधे मेरे पास आए। उन्होंने राजपुत्रजी को तो समझाकर शान्त कर ही दिया, मंच पर आकर तो ऐसा कांड कर दिया कि 'न भूतो, न भविष्यति'। मेरे स्वागत-भाषण और परिचय-प्रदान के तत्काल बाद वे आकस्मिक रूप से उठ खड़े हुए और-ख़ुद ही उन कवि महोदय का नाम सभापति-पद के लिए प्रस्तावित कर दिया। उनका प्रस्ताव आते ही मेरे लिए सिवा इसके कि मैं उसका समर्थन करूँ, कोई चारा न रहा। बात आई-गई हुई और कवि-सम्मेलन को उन्होंने अपने गीतों और 'मधुशाला' से ऐसा जमाया, जो चम्पारण के साहित्यिक-इतिहास में अभूतपूर्व हुआ।

कवि-सम्मेलन के समाप्त होने के तत्काल बाद राजा साहब, रानी साहिबा, राजकुमारगण और राजकुमारियों ने मुझे राजभवन में बुलाया और कहा, "नारायणजी! कवियों को तो हमने बहुत देखा था, लेकिन आज आपने महान् मानव के रूप में एक कवि का दर्शन हमें करा दिया!!"

× × ×

दूसरी घटना अभी हाल की है। पिछले वर्ष अक्तूबर १९६७ में अपने कतिपय साहित्यिक मित्रों के साथ बदरीनाथ की यात्रा पर गया था। उधर से लौटकर जब दिल्ली आया तो छोटे भाई दीनबन्धु से पता चला कि मेरे दो साल के पुत्र पर 'पोलियो' का भीषण आक्रमण हो गया है। मैं पटना आने के पहले बच्चन भैया के यहाँ इस दुःखद समाचार को इसलिए सुनाने गया कि वादे के मुताबिक दिल्ली में उनसे ज़्यादा देर की मुलाक़ात न करके मैं दूसरे दिन ही पटना लौट रहा था।

न जाने ऐसा कौन-सा चमत्कार हुआ कि मेरी वेदना के साथ अपनी संवेदना को समन्वित करके उन्होंने कहा, "नारायण ! तुम्हारा बच्चा ठीक है।" इतना कहकर उनकी आँखें मुँद-सी गईं और वे आध्यात्मिक ध्यान में खो-से गए। तेजी भाभी भी बगल में बैठी थीं। ठीक इसी चिन्तन-मुद्रा की स्थिति में फ़ोन की घंटी बजी। भाभीजी ने फ़ोन उठाया तो चीखकर बोल उठीं, "बच्चन ! तुम ज्योतिषी हो क्या ?" बच्चन भैया ने ध्यान तोड़कर पूछा, "क्यों, क्या बात है ?" भाभी ने भाव-विह्वल होकर बताया, "दीन का फ़ोन आया है। पटने से ख़बर मिली है कि नारायण का बच्चा अब एकदम ख़तरे से बाहर हो गया है। 'प्रोग्रेस' भी कर रहा है।"

तेजी भाभी से इस अप्रत्याशित शुभ समाचार को सुनकर मैं स्वयं फ़ोन पर भागा-भागा गया और दीनबन्धु से सारी बातें जानीं। वहाँ से लौटकर जब मैं बच्चन भैया के पास आया तो आते ही उनके दोनों चरण-स्पर्श कर लिए। उस वक़्त मेरी वाणी के कोष में आभार का एक शब्द भी नहीं था। आँखें डबडबाई हुई थीं और शरीर रोमांचित था। तेजी भाभी अश्रु-विगलित होकर कुछ अधिक जानकारी लेना ही चाहती थीं कि बच्चन भैया मुखरित हो उठे, "नारायण ! जिस वक़्त तुम अपने पुत्र के रोग की पीड़ा को मेरे कानों में डाल रहे थे, उस वक़्त मैं यहाँ नहीं था। मेरी अन्तरात्मा पटना चली गई थी। इसीलिए उसके विषय में मैंने जो तुम्हें शुभ संवाद दिया, वह मेरा नहीं, बल्कि मेरे अन्तर्यामी द्वारा दिया हुआ था।"

बच्चन भैया ने इतनी बड़ी बात, इतने सहज और साधारण ढंग से कह दी कि मैं और तेजी भाभी अवाक् होकर उनकी ओर देखने लगे। भाई योगेन्द्रनाथ सिन्हाजी के आश्चर्य का तो ठिकाना नहीं था। वे शायद यह विचार रहे थे कि बच्चनजी किस प्रकार के कवि हैं। तेजी भाभी शायद यह सोच रही थीं कि मेरे पतिदेव किस कोटि के मानव हैं !! और, मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका था कि बच्चन भैया माँ शारदा के ऐसे सात्त्विक साधक हैं, जिनकी श्रेष्ठ मानवता ही उनकी अपनी कविता है !!!

उनका दूसरा घर

निरंकारदेव सेवक

बच्चनजी के प्रथम दर्शन मुझे सन् '३७-'३८ में हुए थे, जब वे बरेली कॉलिज में होने वाले एक कवि-सम्मेलन में भाग लेने के लिए आए थे। मैं तब बी० ए० प्रथम वर्ष का छात्र था। पुराने गिरजाघरों की वास्तुशैली पर बना हुआ बरेली कॉलिज का हॉल ताड़ और मौलश्री की शाखाओं और पत्तियों को दीवारों पर कीलों से जड़-जड़कर सजाया गया था। पूरे हॉल में दरी, चाँदनी और क़ालीनों का फ़र्श। एक कोने में एक तख़्त, जिसपर बैठ या खड़े होकर कविगण कविता-पाठ कर सकें। पूरा हाल नागरिक और विद्यार्थी श्रोताओं से ऐसा भरा हुआ कि कहीं तिल रखने को भी स्थान नहीं। यहाँ तक कि खिड़की और दरवाज़ों पर भी उत्सुक विद्यार्थी एक-दूसरे के सहारे खड़े हुए। मैं भी इसी भीड़ में कहीं था। और बच्चनजी ने तख़्त पर बैठकर नहीं, उसके पास ही नीचे खड़े होकर अपना कविता-पाठ प्रारम्भ किया था। वे वेश-भूषा में हिन्दी के हमारे सब परिचित कवियों से भिन्न दिखाई दिए थे। हिन्दी कवियों में उस समय तक अंग्रेज़ी कपड़े पहनने का रिवाज नहीं था। हम केवल एक डा० रामकुमार वर्मा को जानते थे जो सूट-बूट पहनते, टाई बाँधते और हैट लगाते थे। बच्चनजी पहने तो सूट ही थे पर उनके सूट को ऊपर से नीचे तक एक ओवरकोट ने ढक रक्खा था। और उनकी पोशाक में सबसे विचित्र वह ऊँची बाड़ की रूँयेदार काली टोपी थी, जिसे उस समय तक अधिकतर पठान या मुसलमान ही पहने हुए देखे जाते थे। चश्मा तब वे नहीं लगाते थे। मुझे तो, उस वेश-भूषा में वे भारतीय नहीं ईरानी, अफ़गानिस्तानी या अरबी मुसलमान जैसे लगे थे। उन्होंने 'मधुशाला' की रुबाइयाँ सुनाना प्रारम्भ किया। जनता आनन्दमग्न, झूमते हुए 'वाह-वाह' किए जाती थी। वे जहाँ रुके कि 'और-और' का शोर उन्हें और सुनाने के लिए मजबूर कर देता था। 'मधुशाला' की अनगिनती रुबाइयाँ सुनाने के बाद उन्होंने 'मधुबाला' की कविताएँ सुनाना प्रारम्भ किया। 'प्याले का परिचय,' 'पाँच पुकार', 'बुलबुल' और 'इस पार-उस पार' कविताएँ वे जनता की 'और-और-और' की माँग के बीच लगातार सुनाते चले गए। बीच-बीच में रुककर वे एक गिलास से एक-दो घूँट पानी मुँह में लेते जाते थे। मस्ती के उस वातावरण में उस पानी से भी बहुत-से लोगों को मधुपान का भ्रम हो गया था। लगभग दो घंटे उस दिन उन्होंने कविता-पाठ किया होगा। और कॉलिज के उस हॉल में कदाचित् एक भी व्यक्ति ऐसा न होगा, जो उतनी देर के लिए उनका अपना होकर न रह गया हो।

उस कविता-पाठ के तुरन्त बाद ही बच्चनजी को वापिस लौट जाना था।

कॉलिज के कई विद्यार्थी उन्हें स्टेशन तक पहुँचाने गए थे। लौटकर उन्होंने अपने एक साथी के उसी ट्रेन से दबकर आत्महत्या कर लेने की बात बताई थी, जिसपर बैठकर बच्चनजी गए थे। बहुत दिनों तक कारण ठीक-ठीक ज्ञात न होने से हम लोग उसकी उस भावुकता को ही उसकी आत्महत्या का कारण समझते रहे थे, जो बच्चनजी की विशेष रूप से 'इस पार-उस पार' कविता ने उसके मन में भर दी थी।

बच्चनजी के उस कविता-पाठ की प्रतिक्रिया बरेली के कविता-प्रेमियों के मन पर भिन्न-भिन्न रूपों में देखने को मिली। कुछ ने कहा कि यह उर्दू-फ़ारसी की नक़ल भारतीय कविता की परम्परा के अनुकूल नहीं, इसलिए मनोरंजक होते हुए भी इसे अच्छा नहीं कहा जा सकता। कुछ पुराने पंडितों को उनकी कविताएँ युवकों को पथभ्रष्ट करने वाली मालूम हुईं। और हमारे उस साथी की आत्महत्या उन्हें तर्क के लिए एक प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया था। पर बच्चनजी की उस दिन सुनाई हुई कविताओं की पंक्तियाँ सैकड़ों कविता-प्रेमियों के मन में कुछ ऐसी बस गई थीं कि लोग उन्हें गुनगुनाते-सुनाते हुए एक विशेष प्रकार का आनन्द अनुभव करते थे। उन्हीं सैकड़ों लोगों में से एक मैं भी था।

हमारे कॉलिज में एक अंग्रेज़ी के प्राध्यापक श्री ज्ञानप्रकाश जौहरी थे। वे स्वभाव से जैसे मधुर थे, वैसे ही देखने में सुन्दर। सहृदय होने के साथ-साथ वे हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी तीनों साहित्यों के मर्मज्ञ विद्वान् थे। बच्चनजी की कविता ने उस दिन उन्हें भी विशेष प्रभावित किया था। दोनों लगभग समान वय के थे। अतएव काव्य के माध्यम से उन दोनों का एक-दूसरे के निकट आना शीघ्र ही मित्रता और फिर आत्मीय मित्रता में परिवर्तित हो गया। बच्चनजी को बरेली आने के लिए किसी कवि-सम्मेलन का निमंत्रण ही आवश्यक नहीं रह गया। वे मित्रता के नाते भी जौहरी साहब के यहाँ आने लगे। मई-जून की गर्मी की छुट्टियाँ तो वे प्रायः बरेली में ही बिताते थे। इलाहाबाद में उन दिनों जब भयंकर गर्मी पड़ती है और रात में भी चैन से सो पाना कठिन हो जाता है, बरेली के रात और प्रातः अपेक्षाकृत कुछ अधिक सुहावने होते हैं। बच्चनजी जब एक एक महीने जौहरी साहब के यहाँ रहते तो प्रायः कहा करते थे, "बरेली मेरा दूसरा घर है।" उनके आ जाने से हम सभीको बड़ी प्रसन्नता होती थी। जौहरी साहब अपने कॉलिज के विद्यार्थियों में मुझे कुछ विशेष स्नेह करते थे। इसलिए सवेरे-दोपहर-रात किसी भी समय मैं उनके यहाँ निस्संकोच आ-जा सकता था। बच्चनजी उनके यहाँ एक मेहमान नहीं, घर के सदस्य की तरह रहते थे। वे वय में मुझसे बड़े थे पर उन्होंने अपने व्यवहार से मुझे उस अन्तर का अनुभव कभी नहीं होने दिया।

बच्चनजी जब-जब बरेली आते तो मेरे भी घर अवश्य आते थे। सिविल लाइन्स के साफ़-सुथरे बँगले से चलकर जब वे मेरे तंग और गन्दी गली के सिरे पर बने हुए छोटे-से घर में आते थे तो मुझे संकोच होता था। पर मेरी माँ के बनाए हुए भोजन को वे जिस प्रेम और स्वाद से सराहना करते हुए खाते थे, उससे मेरे मन का सारा संकोच दूर हो जाता था। उन दिनों अपने घर पर जमी वे गोष्ठियाँ भी मुझे याद

हैं, जिनमें रात के दो-दो बजे तक बच्चनजी अपनी कविताएँ सुनाते थकते नहीं थे। उन गोष्ठियों में मेरी गली के ही कुछ ऐसे लोग जमा हो जाते थे, जिनका साहित्य या कविता से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता था। पर मेरे पिताजी स्वयं एक कवि और साहित्य-मर्मज्ञ थे। इसलिए बच्चनजी को कभी ऐसा नहीं लगा कि वे किन लोगों को अपनी कविता सुना रहे हैं। उनकी कविता की सरल स्वाभाविकता वैसे भी अनपढ़-विद्वान् सभीके मन को अच्छी लगती थी। अभी कुछ वर्ष पूर्व मैंने बरेली में अपनी कचहरी के पास ही एक रद्दी-सी चाय की दुकान पर बैठे किसी कुली या मजदूर को बच्चनजी की 'इस पार-उस पार' कविता बड़े तन्मयता से गाते हुए सुना और उसी दिन मुझे विश्वास हो गया कि वे महलों से लेकर झोपड़ियों तक के कवि हैं।

एक बार जब ठाकुर जमुनाप्रसाद सिंह बरेली में इन्कम टैक्स ऑफ़ीसर थे, हमने होली के अवसर पर बच्चनजी को यहाँ आमन्त्रित किया था। सर्वसाधारण के लिए ज़िला परिषद भवन में आयोजित एक कवि-सम्मेलन के बाद रात के लगभग १२ बजे मेरे घर भोजन करने के उपरान्त, वे मेरे पलंग पर जमकर बैठ गए और देर तक अपनी नयी कविताएँ, विशेष रूप से मेरी पत्नी को सुनाते रहे क्योंकि साहित्य और काव्य में उनकी रुचि और गति थी। उसके अगले दिन ठाकुर साहब के बँगले पर जो गोष्ठी सवेरे से ही जमी थी, वह कभी भुलाई नहीं जा सकती। होली का मुबारक दिन ! सभीके मन उमंगों से भरे हुए। और ठाकुर साहब का वह कमरा, जिसमें एक-एक फ़ुट ऊँचे गुदगुदे गद्दे बिछे हुए। नगर के गिने-चुने धनी-मानी श्रोताओं में से सभी मदिरा या भाँग की तरंग में, आपे से बाहर। आबदारों को ठाकुर साहब का यह आदेश था कि किसीका गिलास ख़ाली न रहे। और बच्चनजी सादा पानी का एक गिलास अपने आगे रक्खे घंटों हम सबको अपनी मधुशाला में घुमाते, मधुबाला के साथ झुमाते और एक से एक मधुर गीत सुनाते रहे थे।

बच्चनजी जब बरेली प्राय: आते-जाते थे तो मेरे ही नहीं, उनके सभी मित्रों के मन में एक इच्छा स्वाभाविक रूप से होती थी कि उनके एकाकीपन का दु:ख दूर हो। उन्हें अपनी दिवगंता पत्नी के प्रति कितनी ममता थी, इसे हम भली भाँति जानते थे। वे बातचीत के बीच प्राय: रह-रहकर खो जाते थे। मुझे उनके साथ की एक शाम याद है। जौहरी साहब, मिसेज़ जौहरी, बच्चनजी और मैं ताँगे पर बैठे आपस में हँसते-बोलते सिनेमा जा रहे थे। एकाएक बच्चनजी चुप हो गए और फिर रास्ते भर एक शब्द नहीं बोले। जौहरी साहब उनके गम्भीर मौन को तोड़ने का बहुत प्रयत्न करते रहे। जब उन्होंने बहुत आग्रह किया तो बड़ी मुश्किल से बच्चनजी ने पाषाण प्रतिमा की तरह होंठ हिलाकर केवल एक वाक्य कहा था, "कवि को अपना मुख केवल कला के देवता की सेवा में खोलना चाहिए।" उन्हीं दिनों की एक और घटना है। बच्चनजी अपने एक सहपाठी मित्र बल्देव वर्मा के छोटे भाई जयन्ती के विवाह में सम्मिलित होने के लिए आए थे। रात के ६-१० बजे हम लोग बारात के साथ लड़की वाले के दरवाज़े पर पहुँच गए थे और

द्वार-चार के बाद जनवासे में जाकर भोजन के लिए बुलाए जाने की प्रतीक्षा करने लगे थे। कायस्थों की बरात, जिसमें खुलकर पीने वालों की कमी नहीं। एक छोटे-से कमरे में आठ-दस लोग बैठे शौक़ कर रहे थे। उन्हींमें से किसीकी निगाह हमपर पड़ी और हम ज़बरदस्ती ले जाकर एक सन्दूक के ऊपर बैठा दिए गए। फिर तो कच्ची शराब के उस वातावरण में बच्चनजी की 'मधुशाला' जिस तन्मयता और वाहवाही के साथ सुनी गई, वैसा उसे सुने जाते मैंने कभी नहीं देखा। रात के १२ बजे तक मदिरा के दौरों के बीच 'मधुशाला' चलती रही। फिर भी खाने के लिए बुलावा नहीं आया। आख़िर हम दोनों उस रसमय वातावरण से सूखे-सूखे उठकर बाहर चले आए, सड़क पर इधर-उधर टहलने लगे। टहलते-टहलते हम आबादी से दूर एक सड़क पर निकल गए। आधी रात के बाद उस सन्नाटे में बच्चनजी बहुत भावुक हो गए थे। उन्हें अपनी दिवगंता पत्नी का विरह बहुत बुरी तरह सताने लगा था। उनकी बातें करते-करते वे बच्चों की तरह फूट-फूटकर रो पड़े थे। मैं किसी तरह उन्हें सँभाल-साधकर फिर जनवासे तक ले आया। तब तक सब बराती निकलकर खाने के लिए चलने लगे थे। रात के उस तीसरे प्रहर में खाया तो हमसे जाता क्या, बैठे शिष्टाचार निभाते रहे। उस रात बच्चनजी जौहरी साहब के यहाँ वापिस लौट न जाकर मेरे तितर-बितर कमरे में ज़मीन पर बिस्तर लगाकर सोए थे।

वे उन दिनों 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' के गीत लिखा करते थे। हम उनकी इस भावुकता को बड़े आदर की दृष्टि से देखा करते थे। पर हमें उनसे कुछ ऐसा मोह भी था जिसके कारण हम चाहते थे, उन्हें कोई उपयुक्त जीवन-साथी मिल जाए। उन्हीं दिनों जब मेरा विवाह हो गया तो लोग मुझे भी इस योग्य समझने लगे थे कि अपनी लड़कियों के लिए उपयुक्त वर बताने के लिए मुझसे कहें। मेरे एक परिचित संबंधी ने खुलकर प्रस्ताव किया कि मैं उनकी एम० ए० पास लड़की का विवाह बच्चनजी से निश्चित करा दूँ। मैंने उनका वह प्रस्ताव सीधे बच्चनजी के सामने रख दिया। पर उसकी कोई भी प्रतिक्रिया उनके ऊपर नहीं हुई। उन्होंने लड़की के विषय में जानने की कोई उत्सुकता प्रकट किए बिना, मुझसे तर्क किया, "क्या मैं जितना हूँ, उससे अधिक सुखी उस विवाह से हो सकूँगा ?" शायद परम्परागत ढंग से एक अपरिचिता को अपने घर ले आना उन्हें पसन्द नहीं था। मैं समझ गया और वह प्रस्ताव सदा के लिए भुला दिया गया। मेरे कॉलिज के एक सहपाठी मित्र ने भी उन्हें अपनी बहिन के द्वारा पारिवारिक सम्बन्ध के बन्धन में बाँधने की चेष्टा की, पर असफल रहे।

बच्चनजी को उन दिनों बरेली में इतनी अधिक आत्मीयता दिखाई देती थी कि उन्होंने एक बार बरेली में ही आ बसने का प्रयत्न भी किया। मैं और मेरा छोटा भाई सबेरे के समय अपने छत के ऊपर के कमरे में बैठे कुछ चित्रकला का अभ्यास कर रहे थे। एकाएक सूट-बूट डाटे, नेकटाई और शायद चश्मा भी लगाए बच्चनजी ज़ीने से धम-धम चढ़ते हुए आकर हमारे सामने खड़े हो गए। बरेली कॉलिज में अंग्रेज़ी के एक प्राध्यापक की जगह के लिए उन्होंने आवेदन-पत्र भेजा था। और वे मेरे पिताजी के द्वारा कमेटी के एक सदस्य से मिलना चाहते थे। मैंने तुरन्त जाकर पिताजी से कहा। पिताजी ने मुझे

एक पत्र लिखकर दिया और कहा, "तुम उनके साथ चले जाओ। मैं फिर उनसे बात कर लूँगा।" पिताजी का पत्र लेकर मैं बच्चनजी के साथ उनके घर गया। पुराने ख़ानदानी नवाब का क़िले जैसा मकान, जिसके नौकर-चाकर शिष्टता और सभ्यता के साँचे में ढले हुए। हम दोनों एक सजे हुए कमरे में प्रतीक्षा करने के लिए ले जाकर बैठा दिए गए। कुछ देर के बाद नवाब साहब निकलकर आए। उन्हें पत्र दिया और बच्चनजी ने उनसे बातचीत की। नवाब साहब ने उन्हें आश्वासन भी दिया। पर अन्त में कमेटी का निर्णय बच्चनजी के पक्ष में न हो सका। मैं सोचता हूँ, उनकी नियुक्ति उस समय यदि बरेली कॉलिज में हो गई होती तो क्या उत्तरोत्तर उन्नति करने के उन्हें वैसे ही अवसर मिल पाते जैसे बाद में प्रयाग विश्वविद्यालय में नियुक्ति हो जाने से उन्हें मिले ! मैं जानता हूँ, महत्त्वाकांक्षी वे हैं, पर अपने लिए प्रयत्न करना उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं। उन्हें काव्य-प्रतिभा के प्रभाव के अतिरिक्त जो कुछ भी महत्त्व का जीवन में मिला है, वह उनकी अपनी चतुराई से कम, भाग्य से अधिक।

बरेली कॉलिज में उनकी नियुक्ति न होने से हमें निराशा तो बहुत हुई, पर वह स्थायी न रह सकी क्योंकि उनकी नियुक्ति कुछ ही दिनों बाद प्रयाग विश्वविद्यालय में हो गई। दिसम्बर सन् '४२ में मैं जब कहीं कवि-सम्मेलनों की यात्रा से वापिस लौटकर आया और जौहरी साहब से मिला तो उन्होंने और उनकी पत्नी प्रेमाजी ने मेरा परिचय तेजीजी से कराया। वे प्रेमाजी की एक अविवाहिता मित्र थीं और उनके साथ ही लाहौर के किसी कॉलिज में प्राध्यापक थीं। वे बड़े दिन की छुट्टियों में उनके साथ बरेली चली आई थीं। जौहरी साहब ने बताया, उन्होंने बच्चन को भी तार दे दिया है, शायद आते हों। और सचमुच बच्चनजी अगले दिन बरेली आ गए। तेजीजी से उनकी पहली मुलाक़ात जौहरी साहब के उस बँगले पर ही हुई जो अब भी यहाँ बिजली घर के बग़ल में खड़ा हुआ है। और वह दो-तीन दिन की मुलाक़ात ही उनके जीवन में एक ऐसे प्रणय का प्रतीक बन गई, जिसके बिना बच्चनजी वह न होते, जो हैं। पारस्परिक विश्वासों के आदान-प्रदान उन्हीं दो-तीन दिनों में पूरे हो गए। और उसके लगभग एक महीने बाद तेजीजी से उनका विवाह हो गया। फिर तो उनकी कविता में एक नया मोड़ आना ही था, जिसका आभास हमें 'सतरंगिनी' की कुछ कविताओं में मिलता है। उनकी निराशा आशा, अविश्वास विश्वास और दुःख सुख में परिवर्तित हो गए। तेजी भाभी ने उनके जीवन में आकर अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया। वे 'निशा-निमन्त्रण', 'एकांत संगीत', 'आकुल अन्तर' और 'विकल विश्व' को भूलकर 'मिलन यामिनी' के गीत लिखने लगे। उसके कई वर्ष बाद, जब एक बार वे बरेली आए और मेरे ही पास किशोर बाज़ार में ठहरे तो उन्होंने मुझे बताया था—अब उनके जीवन में कोई अभाव नहीं रहा। घर में कोयले-सब्ज़ी से लेकर कपड़ों-किताबों तक की व्यवस्था तेजी भाभी इतने सुन्दर ढंग से कर लेती हैं कि उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती।

बच्चनजी अपनी कविता की दुंदुभी बजाते हुए भारतवर्ष के किस छोटे या बड़े नगर में नहीं गए। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, नागपुर, बीकानेर, चंडीगढ़, शिमला, दार्जिलिंग—कहाँ उनके स्नेही मित्र नहीं हैं ! लोग दूर रहते हुए भी अपने को उनके

परिवार का ही एक अंग मानते हैं। पर बरेली से उनका एक ऐसा विशेष सम्बन्ध है, जिसके विषय में लोगों को अधिक ज्ञात नहीं। यह सम्बन्ध केवल लोक-व्यवहार का ही नहीं, भावुकता और रागात्मकता का है। इसका आभास उनसे बातचीत में तो अनेक बार मुझे हुआ है। पर अभी कुछ वर्ष पूर्व जब वे मेरे पास बरेली आए थे और दो दिन रहे थे तो एक सवेरे मुझे कुछ कार्य-व्यस्त देखकर वे अकेले कहीं घूमने चले गए। थोड़ी देर बाद जब लौटकर आए तो उन्होंने मुझे बताया कि वे उस बँगले को जाकर दूर से देख आए, जिसमें उनकी तेजी भाभी से पहली मुलाक़ात हुई थी।

व्यक्तित्व के दो पहलू

सुश्री शांति जोशी

"बच्चनजी को जानती हैं आप ?" मेरी सहेली ने कुछ आश्चर्य से पूछा और मैं उसके आश्चर्य को पढ़ ही रही थी कि उसने कहा, "इधर दो-चार दावतों में देखा। काफ़ी घमण्डी हैं, रिज़र्व्ड। न जाने क्यों सामाजिक कार्यक्रमों में आते हैं, जब अपने अतिरिक्त वे और किसीकी ओर देखते ही नहीं हैं !" याद आया, ऐसी ही कुछ उन अनेकों की धारणा है जो बच्चनजी को निकट से नहीं जानते; उनके दो व्यक्तित्व हैं, दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ, मनःस्थितियाँ।

सामान्य एवं औपचारिक परिचय में बच्चनजी चुप ही रहते हैं—अपने ही अंतर में कुछ टटोलते-खोजते हुए। अपनी इस चिंतनशील मुद्रा में वे केवल अपने लिए जीते हैं, अपनी संवेदनाओं, कल्पनाओं, आदर्शों के लिए। यह उनके व्यक्तित्व का वह पहलू है जो दूसरों के लिए अनाकर्षक और कभी-कभी दर्प से भरा हो जाता है। एकाध छोटी बातें, स्पष्ट अक्खड़ भाषा, हाँ-ना में उत्तर। और अपने अन्तर में सामाजिक कुण्ठाओं से थके, वर्तमान जीवन से असंतुष्ट, भारत की स्थिति से दुःखी। वे अपनी चुस्त-दुरुस्त शेरवानी और चूड़ीदार पायजामा में 'स्मार्ट' लगते हुए भी नहीं लगते हैं। ऐसी वेशभूषा में जो खिला हुआ चेहरा और सामाजिक शिष्टाचार अपेक्षित है, वह न जाने कहाँ, किस मृगजल में भटकता हुआ अपना किनारा खोजने लगता है, जिस कारण सबसे परिचित होते, हाथ मिलाते हुए एक व्यंग्यात्मक मुस्कान बिखेरते से वे दूर ही खड़े लगते हैं तथा आँखें चिंतन से कुछ धूमिल, निरीक्षण से पैनी होकर अपना स्वाभाविक रूप बदल छोटी लगने लगती हैं।

आधुनिक सभ्यता के अनुरूप सजे अथवा सभी सुविधाओं से घिरे घर के अंग्रेज़ी वातावरण में बच्चनजी का मध्यवर्गीय संस्कृति में पोषित व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता है। वे मुख्यतः भारतीय जीवन के प्रेमी व्यक्ति हैं जिन्हें अपनी परम्परा पर गर्व है। एक सुन्दर घर में उनका अन्तर सृजन-प्रेरणा, विचार-चिंतन तथा कार्यभार में व्यस्त रहता है। सब सुख-सुविधा उन्हें उपलब्ध अवश्य हैं पर वे इनपर आश्रित नहीं हैं। परितृप्ति तो वे इनसे तटस्थ रहकर ही खोजते हैं, 'तन के सौ सुख, सौ सुविधा में मेरा मन बनवास दिया-सा।' वैसे उनका सांसारिक मन तुष्ट है और कवि-व्यक्तित्व भी। अपने जीवन के विगत वर्षों में अच्छा सृजन करने का उन्हें संतोष है किन्तु यह संतोष विकासोन्मुखी होने के कारण असंतोष में परिणत होता रहता है जो निरन्तर सृजन का जनक है। अभी बहुत कुछ है जो वे देखना या उपलब्ध करना चाहते हैं।

बच्चनजी का जन्म एक मध्यवर्गीय सनातन धर्मावलम्बी घर में २७ नवम्बर, सन् १६०७ में हुआ। पिता श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव पायोनियर प्रेस में काम करते थे। घर की व्यवस्था सामान्यत: अच्छी ही थी। फिर, बचपन के दिन, दायित्वमुक्त जीवन, किसे पता चलता कि घर में रोटी बनी है या पूरी। तीन भाई-बहिन ! बच्चनजी से सात साल बड़ी बहिन और दो साल छोटा भाई। माता-पिता का संतोषी स्वभाव, सृष्टिकर्ता पर अटूट आस्था, रामायण का नित्य पाठ ! घर का वातावरण धार्मिक एवं सुख-सन्तोषमय था।

बच्चनजी स्कूल जाते और पारिवारिक परिवेश में प्रसन्न रहते। खेलकूद की ओर रुचि थी नहीं अथवा खेल में वे, उन्हींके शब्दों में, 'फिसड्डी रहे हैं।' किन्तु हठी और स्वच्छन्द प्रकृति के वे सदैव रहे हैं। उनकी आयु तेरह-चौदह वर्ष की रही होगी कि स्कूल से घर आने पर देखा, दरवाज़े पर एक बड़ा-सा ताला लटका है। थोड़ी देर रुकने या पड़ोस में जाकर घर के लोगों का पता लगाने के विपरीत उन्होंने क्रोधित होकर इतने ज़ोर से ताला खींचा कि दरवाज़ा मय चौखट के तो गिर ही गया, पास की दीवार भी गिर पड़ी। उसकी एक ईंट उनके सिर पर इस बुरी तरह गिरी कि उस चोट के अवशेष अभी वर्तमान हैं। अब हँसकर बच्चनजी कहते हैं, "मेरा बदन पहलवानी है।" पंतजी उनकी इस बात का तत्काल उत्तर देते हैं, "यही तुम्हारा बड़प्पन है कि तुम अपने को हनुमान का वंशज नहीं बतलाते हो।"

उस समय बच्चनजी दसवीं कक्षा में थे जब उनके पिता ने अपनी बेटी की शादी कर दी। सामान्य वृत्ति का व्यक्ति कर्ज़ लेकर ही कन्यादान का सुख पा सकता है। इसके साथ ही उन्होंने मुट्ठीगंज में ज़मीन लेकर घर बनवाना प्रारम्भ कर दिया, जिसके लिए उन्हें पुन: कर्ज लेना पड़ा। तनखा का एक अच्छा भाग कर्ज़ तारने में चला जाता। अत्यधिक अल्प राशि में घर का खर्च चलता देख बच्चनजी ट्यूशन करने लगे। सवेरे भीगा चना जेब में डाल, उसे खाते हुए डेढ़-दो मील का मार्ग दौड़कर तय करते, अपने विद्यार्थी को पढ़ाते और फिर स्कूल जाते। पिता ने जब देखा कि बेटे को सवेरे घर में खाना खाने तक के लिए अवकाश नहीं मिलता तो उन्होंने उसका ट्यूशन छुड़वा दिया।

१६२७ में बच्चनजी का विवाह श्यामाजी से हो गया। श्यामाजी तथा उनका विकास साथ-साथ हुआ, साथ ही बढ़े और छोटी आयु के इस साहचर्य ने उस रागात्मक गहनता को जन्म दे दिया जिसने बच्चनजी से उन कृतियों का निर्माण करवा दिया जो उनके कवि-व्यक्तित्व के साथ अखण्ड रूप से अमर बनी रहेंगी।

बच्चन-परिवार में आर्थिक संकट १६३० में फिर से आ गया जब राजनैतिक कारणोंवश उनके पिता की पेंशन बन्द हो गई। किन्तु यह संकट उनकी शिक्षा में बाधक नहीं बन पाया। उन्होंने ३५ रुपये माह की ट्यूशन करके बी० ए० की पढ़ाई का भार स्वयं वहन कर लिया। बी० ए० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो जाने के कारण एम० ए० में स्कॉलरशिप मिलने लगा। आर्थिक दृष्टि से इस स्कॉलरशिप के कारण एम० ए० करना सरल हो गया किन्तु यह लाभ भाग्य में नहीं था। राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण एम० ए० प्रथम वर्ष में ही पढ़ाई छोड़ दी। पढ़ाई छोड़ना सरल था, वह छोड़ दी। परि-

वार के भरण-पोषण की समस्या से बाधित होकर तीन साल तक नौकरी की। पहिले वर्ष ६०) रुपये की तनखा के काग़ज़ पर हस्ताक्षर करके पच्चीस रुपया माह कमाया और बाद के दो वर्षों में ७०) रुपये के काग़ज़ पर हस्ताक्षर करके ३५ रुपये। ये वर्ष सन् '३४, '३५ और '३६ के वर्ष थे, बच्चनजी के जीवन के दारुण वर्ष – घोर निराशा, संघर्ष और आर्थिक कष्ट से भरे हुए।

जिस कॉलेज में वे अध्यापन-कार्य कर रहे थे, उसका शिक्षक वर्ग वहाँ की व्यवस्थापक समिति की बेईमानी से क्षुब्ध हो गया क्योंकि उन्हें उतना वेतन नहीं मिल रहा था जितने की प्राप्ति के काग़ज़ पर वे हस्ताक्षर कर रहे थे। जब बच्चनजी से अन्य शिक्षकों ने कहा कि व्यवस्थापक समिति के विरुद्ध विरोध आन्दोलन में भाग लो तो उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की, जिस कारण वे लोग उनसे असन्तुष्ट हो गए। बच्चनजी की पत्नी श्यामाजी को यक्ष्मा हो गया था। उनका कहना था कि विद्रोह करने पर नौकरी चली जाएगी तो पत्नी की दवाई के लिए पैसे कहाँ से लाऊँगा। उस समय यक्ष्मा असाध्य रोग माना जाता था। पत्नी की बीमारी ने उन्हें असह्य मानसिक पीड़ा दी। इसके साथ ही घोर आर्थिक कष्ट। पैसों के अभाव में जैसी चिकित्सा करना चाहते थे वह न कर सकने की छटपटाहट अलग। श्यामा जी २७० दिन बीमार रहीं, थोड़ी-सी सामर्थ्य होने पर उनके इलाज के लिए बच्चनजी उन्हें पटना भी ले गए। किन्तु उन्हें नहीं बचना था, नहीं बचीं।

१९३५ में बच्चनजी की 'मधुशाला' प्रकाशित हो गई। इसके बाद 'मधुबाला' और 'मधुकलश'। ये बच्चनजी के सुखमय जीवन के प्रगीत हैं जिन्हें पढ़ने के साथ ही पाठक हर्षोत्फुल्ल हो गए। १९३६ में इन पुस्तकों की अच्छी बिक्री होने के कारण बच्चनजी को कुछ धन प्राप्त हो गया। किन्तु इस धन का वे इस अर्थ में सदुपयोग नहीं कर पाए कि इसी वर्ष श्यामाजी की मृत्यु हो गई थी। अपने धनाभाव की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने बताया कि नौ वर्ष के वैवाहिक जीवन में अपनी पत्नी को उन्होंने जो एकमात्र उपहार दिया, वह थी एक खद्दर की धोती, जिस धोती को श्यामाजी ने सहेजकर बक्से में रख रखा था।

इस आर्थिक अभाव ने उनके आंतरिक व्यक्तित्व को सदैव के लिए झकझोर दिया है। वे कहते हैं, "चाहे मुझे सोने से मढ़ दीजिए, मेरा मन असंतुष्ट ही रहेगा" क्योंकि "जिस समय धन की नितान्त आवश्यकता थी उस समय मैं भिखारी ही था, असहाय व्यक्ति। हमेशा वेदना कचोटती रहती है कि उसके लिए मैं कुछ नहीं कर सका जिसे प्यार करता था।" यही कारण है, बच्चनजी अब भी मन से ग़रीब हैं। बेकार पैसा ख़र्च होता देख उन्हें दुःख होता है क्योंकि पैसे के मूल्य से वे भली भाँति अवगत हैं। उनका कहना है कि वे अपने ऊपर पैसा ख़र्च नहीं कर सकते हैं। कोई अदृश्य शक्ति उनके हाथ को पकड़ लेती है। कुछ साल पूर्व की बात है। तब बच्चनजी विदेश मन्त्रालय में हिन्दी विशेषज्ञ के रूप में काम कर रहे थे। शाम के पाँच बजने पर वे आफ़िस से बाहर निकले। देखा, पानी बरस रहा है। टैक्सी बुलाने की बात मन में उठने के साथ ही दब गई – कौन बेकार पैसा ख़र्च करे। घर की कार आ नहीं सकती थी। उनकी

दूसरी पत्नी, तेजीजी किसी आवश्यक काम से कहीं गई थीं। उन्होंने अपना छाता खोला और धीरे-धीरे सड़क पर चलने लगे। एक स्थल पर सड़क पार कर ही रहे थे कि मोटर की कुर्र-कुर्र-कुर्र सुनाई दी। चौंककर देखा, अज्ञेयजी बैठे हैं। उन्होंने बच्चनजी से कहा, 'तन्मय होकर चल रहे हैं, कोई दबा दे तब ?" बच्चनजी के मुँह से अनायास निकला, "अब मुझको कौन दबाएगा ?"

नियति उन्हें भरपूर दबा चुकी है। आज ऐश्वर्य से घिरे होने पर भी उनके मन का अनजान कोना सूना, नैराश्यवादी और संदेहवादी है, उसे उलाहना है अपने आप से. दुनिया से। एक अपराध, ग्लानि की भावना कि वे श्यामाजी के प्रति अपने दायित्व को नहीं निभा सके। इस भूल की अब वे पुनरावृत्ति नहीं होने देना चाहते हैं। स्वास्थ्य की उपेक्षा करके भी वे उचित ढंग से धनोपार्जन करना चाहते हैं ताकि उनकी वर्तमान पत्नी तथा दो पुत्रों को जीवन में किसी प्रकार का कष्ट न उठाना पड़े, वे आराम की ज़िन्दगी जी सकें।

बच्चनजी के काव्य-जीवन को देखते हुए श्यामाजी का निधन उनके कवि को सफलता के शिखर पर पहुँचाने का निमित्त बना। वियोग-विह्वल हो उन्होंने 'निशा-निमन्त्रण' तथा 'एकांत संगीत' का सृजन किया जो सम्भवतः उनकी सर्वोत्कृष्ट काव्योपलब्धियाँ हैं। इनमें उनकी घनीभूत पीड़ा एवं रागात्मक व्यथा सृजन-संगीत में प्रवाहित हो गई है। यदि उनके दुख को इस भाँति अभिव्यक्ति नहीं मिलती तो शायद वे सदैव के लिए टूट जाते, अन्तर की व्यथा में ही घुटते रहते। 'निशा-निमन्त्रण' की कविताओं के लिए बच्चनजी का कहना है कि जिस दिन वे उसके आठ-दस गीत सुना देते हैं, उस रात उन्हें नींद नहीं आती – केवल छटपटाहट और बेचैनी। 'एकान्त संगीत' और 'निशा-निमन्त्रण' की लोकप्रियता का रहस्य भी यही है कि ये अपने रागात्मक माधुर्य में सच्ची अनुभूति को लिपटाए हुए हैं।

अपने वेदना-व्यथित मन को सहलाने के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी साहित्य में एम० ए० करने का उन्होंने निश्चय कर लिया और सन्'३८ में एम० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण भी हो गए। अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन के साथ ही उन्होंने 'निशा-निमन्त्रण' का प्रणयन भी किया। वास्तव में श्यामाजी के निधन ने जिस शून्यता और अनस्तित्व के बोध को जन्म दे दिया था, उसे उनके कवि ने जीने का सहारा दिया। बच्चनजी के मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व से अतुलनीय बलशाली उनका कवि-व्यक्तित्व है जो गीत गाकर उन्हें अद्भुत सहनशक्ति और उल्लास प्रदान कर देता है। एम० ए० करने के पश्चात् वे बनारस चले गए, बी० टी० करने के लिए। एक कवि के लिए किसी भी समृद्ध साहित्य का अध्ययन करना सरल और सहज है, वह उसकी आत्मा के निकट है किन्तु बी० टी० करना···! ख़ैर, बी० टी० करते हुए भी, वे उससे श्रेष्ठतम कार्य में संलग्न रहे। 'एकान्त संगीत' का सृजन-स्थल काशी की भूमि है। बनारस छोड़कर वे पुनः इलाहाबाद आ गए। १९३९ में वे अंग्रेज़ी साहित्य के शोधछात्र थे। मनःस्थिति पर अभी तक नियन्त्रण नहीं रख पाए थे। रूखे बाल, गहराई में डूबती छोटी होती हुई आँखें, अक्सर गहन निराशान्धकार में उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व खो जाता। उनका

यह व्यक्तित्व, समय के अंतराल से मार्जित हो जाने पर भी, अब भी वैसा ही है, गुमसुम — उलाहना, असंतोष और विषाद को अभिव्यक्ति देता हुआ।

इस बीच पंतजी तथा नरेन्द्रजी से उनकी घनिष्ठता हो गई, तीनों ही प्रगाढ़ भ्रातृत्व में बँध गए। नरेन्द्रजी और पंतजी दिलकुशा में रहते थे। बच्चनजी भी, अपना मुट्ठीगंज का घर छोड़, इन लोगों के साथ रहने लगे। साहित्यिक वातावरण, स्नेही बन्धुओं का साहचर्य, बच्चनजी का उत्फुल्ल कवि अक्सर लौट आता। उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपने 'लेखक' ही से चिपककर दिलकुशा के साहित्यिक वातावरण में ऊब-डूब करने लगता जिसमें वे अपने अस्तव्यस्त बालों पर कड़ुआ तेल लगाते हुए चंचल आँखों से पंतजी से कहते, "साईंदा, बताता हूँ, यह लबेद है। कड़ुआ तेल सिर, आँख, नाक, कान और बदन पर लगाइए और फिर देखिए, सर्दी, सिरदर्द, आँख-कान का दर्द सब ग़ायब हो जाएँगे।" वे ज़ोर से हँसते, "छू मन्तर!" साईंदा डाँटने का अभिनय करते हुए मुस्कुरा देते, "हाथ जोड़ता हूँ। अपनी डाक्टरी अपने पास रखो। यह तेल··· जाओ नहा आओ।" बच्चनजी चौपाड़ी मारकर तख़त पर बैठ जाते, "पहले कविता सुनाऊँगा। तब नहाऊँगा सुनिएगा ना!" "अच्छा बाबा अच्छा, तुम्हारी न सुनूँगा तो किसकी सुनूँगा। तुम भी ख़ूब हो? नहा लेते पहिले!" स्नेह से आर्द्र इन स्वरों को सुनने का बच्चनजी को अवकाश कहाँ? वे अबोध बालक बन कविता सुनाने की चित्तवृत्ति में आ जाते। बीच में चिरौरी करते हुए कहते, "इतनी अच्छी कविता सुना रहा हूँ और आप प्रशंसा नहीं कर रहे हैं।" मुग्ध प्रसन्न मुद्रा में पंतजी उत्तर देते, "भई, तुम कविता लिखो और मुझे अच्छी न लगे, असम्भव है। अच्छा, लो पीठ ठोकता हूँ। अब नहा आओ। खाना खाना है या नहीं। बाबा, नौकर चला गया तो तुम ही काम करना।" "साईंदा, आपने मुझे समझा क्या है? तुलसी बाबा कह गए हैं, सब काज राम के ही काज हैं।" साईंदा कृत्रिम गम्भीरता से कहते, "बड़ा दिक करते हो। जाओ नहाओ।"

कुछ ही क्षणों में स्नानागार से तुलसी की चौपाइयों के ज़ोर-ज़ोर से गाने की आवाज़ आती। और पंतजी दरवाज़ा खटखटाते, "कहीं तुम्हारा मुहर्रमी स्वर तुलसी बाबा के कानों में पड़ गया तो वे भारत छोड़कर चले जावेंगे। तुम्हारा गला तो विधाता ने तुम्हारी ही कविताओं के लिए बनाया है। तुलसी पर रहम करो।" तौलिया लपेटकर तुरन्त बच्चनजी आ जाते तथा अधिक तीव्र स्वर में गाते "मंगल भवन अमंगल हारी, द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी," पंतजी दोनों कानों में उँगली डाल लेते, "कान तो मत फोड़ो।" और बच्चनजी अपने अग्रज की प्रेमपूर्ण खीझ देख प्रसन्न हो उठते। दो कवियों का एक-दूसरे को समझना, प्रतिभा का आदर, आत्मीयता का बोध।

सहज वातावरण में बड़े भाई के ऊपर अपना बोझ डाल छोटे भाई का झूम उठना, मचलना, अवसर मिलने पर झगड़ना, अपना विषाद उड़ेल देना ताकि पर्याप्त डाँट खाकर स्वस्थ हो जाए—यह सब बच्चनजी का स्वाभाविक मुखर व्यक्तित्व है। अब भी पंतजी के सामने बच्चनजी बच्चा ही हैं, सब कुछ खुला, इतना उन्मुक्त कि श्रीमती तेजी बच्चन अक्सर कहती हैं, "देखा साईंदा, यह आपके सामने ही ऐसा करता है, कितना खुश रहता है।" या "साईंदा, आप आ गए, बड़ा अच्छा हुआ। आजकल यह बहुत उदास

रहने लगा है। सबसे नाराज़...!" और साईंदा बच्चनजी की ओर देख मंद मुस्कान बिखेर देते हैं, "अच्छा, मैं डाँटूँगा। बड़ा 'बुली' है।" यह सुनते ही 'बुली' की आँखें चपल हो जाती हैं, "बस आप दोनों मिलकर डाँटिए।" दिनों की गम्भीरता न जाने कहाँ चली जाती है। बच्चनजी का चिंतन-सृजनशील मानस पंतजी के सम्पर्क में मुक्त विहग-सा हो जाता है, विहग जो केवल गाने गाता है, अपने और तुलसी बाबा के।

तुलसीदास में अशेष श्रद्धा बच्चनजी का दायधन है जिसे उन्होंने अपने पिता से पाया है। बच्चनजी के पिता उन रामभक्तों में थे जो उस घर का अन्न-जल ग्रहण नहीं करते हैं, जहाँ रामायण न हो। पग-पग पर तुलसीदास की चौपाई-दोहों का दृष्टांत देकर बच्चनजी न केवल अपनी व्यावहारिक-पारिवारिक समस्याओं का समाधान खोज लेते हैं वरन् एक नवीन प्रेरणा, नवीन उन्मेष भी प्राप्त कर लेते हैं। रामनवमी के दिन रामायण का अखण्ड पाठ उनकी गहन आस्था को ही अभिव्यक्ति देता है। अकेले सम्पूर्ण रामायण का बिना जल ग्रहण किए सस्वर पाठ करना सरल नहीं है और न उनका स्वास्थ्य ही इस योग्य रह गया है।

'मधुबाला', 'मधुशाला' का कवि अपने अन्तरतम में तुलसी बाबा का ही सेवक है जिसकी आस्था अटूट और जीवन की पैठ गहरी है। इसलिए उसने जो कुछ लिखा है, उसे सहज भाव से जिया है तथा अनुभूति के माध्यम से कल्पना के सतरंगी आकाश में बिखेर दिया है ताकि वह सरल लावण्य पा जाए। विगत दस-बारह वर्षों की उसकी कविताएँ प्रौढ़ अनुभूति तथा जीवन-दर्शन का प्रतिबिम्ब हैं जो अंधकार को चीरती हुई लोकगीतों और मुक्त छन्दों के प्रकाश में तैरती हैं।

सन् '४१ में बच्चनजी प्रयाग विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में प्राध्यापक हो गए और सन् '५२ तक इसी पद पर रहे। प्राध्यापक होने पर उन्हें लगा,'पर किसी उजड़े हुए का फिर बसाना कब मना है ?' और शीघ्र ही उन्होंने अपने उजड़े नीड़ का पुन-र्निर्माण कर लिया। २४ जनवरी '४२ को वे श्रीमती तेजी बच्चन से प्रणय-सूत्र में बँध गए, जो सभी दृष्टि से उनके लिए हितकर हुआ। उनका नैराश्य हर्षोल्लास में परिणत हो आत्म-मुग्ध हो गया, 'वर्ष नव, हर्ष नव, जीवन उत्कर्ष नव'। जीवन के प्रति एक नवीन प्रेरणा प्राप्त कर वे सन '५२ में इंग्लैंड चले गए और सन् '५४ तक वहाँ रहकर कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पी-एच०डी०की उपाधि प्राप्त की। विदेश से लौटकर कुछ महीने अपने पूर्व पद पर तथा आकाशवाणी, इलाहाबाद में काम किया। तत्पश्चात् सन् '५५ में भारत सरकार के विदेश मन्त्रालय में हिन्दी विशेषज्ञ के भार का दायित्वपूर्वक निर्वाह किया। अब वहाँ से अवकाश प्राप्त करने पर राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत संसद् सदस्य हैं। अपने इन वर्षों में बच्चनजी ने प्रभूत सृजन तथा अनुवाद-कार्य भी किया। ये सब उनके कवि-व्यक्तित्व के विकास और सफलता के सोपान हैं।

किन्तु जहाँ तक उनके अन्तर के स्वभाव का प्रश्न है, वह बचपन और ज़िद्दीपन की बाँहों में आविष्ट है। इधर पाँच-छ: साल से बच्चनजी का स्वास्थ्य काफ़ी गिर गया है किन्तु वे अपने शरीर को बचपन का पहलवानी शरीर ही मानते हैं। उनका ज़िद्दीपन एवं अजेय संकल्प शक्ति तथा काम करने की धुन उनसे अब भी दस-बारह घण्टे रोज़ काम करवा

लेती है। डॉक्टर की राय न होने पर भी सबेरे चार बजे उठ जाना और नियमित विधि से लिखने की मेज़ पर बैठ जाना, कुछ न कुछ लिखते-पढ़ते रहना — यह वज्र मनःशक्ति का ही कार्य है। वैसे, ये एक साहित्यिक साधक के लक्षण हैं। विश्राम और दवाई से बच्चनजी को चिढ़ है। सम्भवतः उन्हें लगता है कि यह बुढ़ापे की चुनौती को स्वीकार करना है, या फिर, यह उनके पौरुष का अपमान है। जब पंतजी उनसे चिकित्सा या दवाई की चर्चा करते हैं तो उनका एक ही उत्तर रहता है, "आप मुझे समझते नहीं हैं। मैं अपने पौरुष से ठीक हो जाऊँगा।" अभी सात साल पूर्व उनकी एड़ी की हड्डी बढ़ गई थी। जिस कारण चलने में उन्हें असह्य कष्ट होता था। किन्तु उनका अपराजेय साहस ! सबेरे उठकर उन्होंने तीन-चार मील घूमना प्रारम्भ किया तथा कुछ खाने में हेर-फेर करके हड्डी के दर्द से कुछ समय के लिए अपने को मुक्त कर लिया। दर्द जब-तब उठता रहता है किन्तु उनका हठ और 'लबेद' उसे शान्त करता रहता है।

बच्चनजी अपने इस रूप में दृढ़व्रती और संकल्पनिष्ठ हैं। आस्था जब चारित्रिक संयम को उपजा लेती है तब उसे कोई नहीं डिगा सकता। कम ही लोग जानते होंगे कि बच्चनजी मिठाई और गोश्त के अत्यन्त प्रेमी रहे हैं, यदाकदा शायद अल्पमात्रा में सुरापान भी कर लेते थे किन्तु २२-२३ साल से उन्होंने इनका त्याग कर दिया है। घर में बाज़ार से मिठाइयाँ आती हैं, गोश्त पकता है, दिल्ली की दावतों में मदिरा का सेवन किया जाता है, किन्तु अपने दोनों लड़कों तथा पत्नी की अस्वस्थता में मनौती-स्वरूप छोड़ी गई इन तीनों चीज़ों के प्रति वे विरक्त हैं। मिठाई वे खा लेते हैं, पर केवल जिसे तेजीजी बनाती हैं, क्योंकि उन्हींकी दीर्घायु की कामना से उन्होंने मिठाई खानी छोड़ी थी।

अपने कविरूप में वे आस्थावान् विचारक हैं, जो आत्मीयता के वातावरण में सहजता अनुभव करता है। पिता, पति और कवि के दायित्व के प्रति पूर्ण सजग रहते हुए वे साहित्यिक बन्धुओं के बीच वार्तालाप तथा काव्य-पाठ का आनन्द ले लेते हैं। पंतजी के साहचर्य में वे बच्चों-सा हल्ला भी मचा सकते हैं, पर इन सबकी एक लक्ष्मण-रेखा है और यह रेखा है उनका व्यक्तित्व-केन्द्रित भाव ! अपने व्यक्तित्व का सरलता से व अतिक्रमण नहीं ही कर पाते हैं और यह अपरिचित वातावरण, औपचारिक-अनचाहे परिवेश में अधिक स्पष्ट हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में सदैव एक सचेतता, अपने आप को समेट लेने की भावना अधिकतर औदात्य और अहं में परिवर्तित होती-सी प्रतीत होती है। सम्भवतः यह बच्चनजी का वह व्यक्तित्व है, जो उन्हें उनके 'कवि' से ही चिपकाए रखना चाहता है, उसीमें सहजता अनुभव करता है।

ट्रेनिंग कॉलिज में

ब्रह्मस्वरूप गुप्त

बच्चन से मेरा परिचय अब लगभग ३० वर्ष का है और यह केवल औपचारिक नहीं है वरन् बहुत निकट का है, ऐसा जैसे एक ही परिवार के दो आदमी हों। सबसे पहले मुलाक़ात हुई थी ट्रेनिंग कॉलिज में। और फिर तो न जाने कितनी बार भेंट हुई, अनेक जगह, अनेक परिस्थितियों में।

कवि के रूप में बच्चन को लाखों ने सुना है और अब तो शायद लाखों ने पढ़ा भी होगा। हाला-प्याला के प्रतीक मानकर जो पुस्तकें लिखी गई थीं उनकी लोकप्रियता तो हुई ही, पर उसके आगे भी बच्चन ने जो लिखा, वह बहुत लोकप्रिय हुआ। ख़ास तौर से मेरी निगाह में उनका 'निशा-निमन्त्रण' सबसे बढ़िया काव्यग्रन्थ है। सम्भव है, आलोचक या बड़े साहित्यिक इसे न मानें, पर मैंने उनका उस ज़माने का जीवन देखा है जब 'निशा-निमन्त्रण' की पाण्डुलिपि तैयार हो रही थी। ट्रेनिंग कॉलिज का जीवन कोई बहुत आकर्षक जीवन नहीं होता है और फिर ३० बरस पहले तो विद्यार्थियों को इतनी आज़ादी भी नहीं थी, जितनी आज है। उस नीरस, उबा देनेवाले वातावरण में अपने हृदय में अतुल वेदना को दबाए बच्चन बाहर से कितने ख़ुश लगते थे, देखने वाला शायद ही समझे कि इस व्यक्ति के हृदय में कैसा झंझावात चल रहा है। लेकिन इस सबके बावजूद अपने काम में कभी कोई शिथिलता नहीं। कवियों के बारे में यह प्रसिद्धि होती है कि उनके कपड़े मैले हों या भद्दे हों, उनकी चीजें सब अस्त-व्यस्त हों, बाल बढ़े हों और हर वक़्त कॉफ़ी या चाय का प्याला उनके हाथ में हो, सिगरेट सुलगती रहे। पर बच्चन का व्यक्तिगत जीवन एकदम साफ़-सुथरा। कपड़े यथास्थान टँगे हुए, ठीक तरह से इस्त्री किए हुए। मेज़ पर मजाल क्या जो एक भी चीज़ इधर-उधर हो। बल्कि हम जैसे बहुत-से सहपाठियों के लिए, जो कवि क्या, कवि की दुम भी नहीं थे, एक मिसाल होते थे।

'निशा-निमन्त्रण' के फ़ौरन बाद ही बच्चन ने 'एकान्त संगीत' लिखना शुरू कर दिया था। मुझे वह दिन याद है, जैसे आज ही मेरे सामने वह घटना हो रही हो। शाम से ही बच्चन बहुत बेचैन थे पर न तो वे कारण बता पाते थे और न हमारी ही समझ में आता था कि क्या बात है! मेरे कमरे में क़रीब एक घंटा लेटे रहे और परेशान नज़र आए। आख़िर उन्होंने मुझसे कहा कि तुम कमरे से बाहर चले जाओ और बाहर ताला लगा दो ताकि सब कोई यह जानें कि तुम होस्टल में नहीं हो। आम तौर पर हमारे बीच ऐसी बात कभी नहीं होती थी पर उस दिन उनकी कुछ अजीब हालत थी। ख़ैर, मैंने ताला लगाकर उन्हें अकेले छोड़ दिया और फिर जब दो घंटे के बाद लौटा तो बच्चन बहुत

खुश थे, जैसे प्राय: रहा करते थे। कमरे में मेरे घुसने पर उन्होंने मुझे एक कागज़ थमा दिया। 'एकान्त संगीत' का चौथा गीत था—'कोई गाता मैं सो जाता।' पूरा का पूरा गीत एक साथ लिखा था, कोई काट-छाँट नहीं थी, मानो पहले से तैयार हो और बस काग़ज़ पर उतार दिया हो। और उसके बाद तो बच्चन का मूड फिर वही हँसी-खुशी का हो गया। मज़ाक भी किया गया कि 'प्रसव-वेदना' समाप्त होने के बाद रानीजी को पुत्र हुआ है न !

और भी न जाने कितने प्रिय, स्नेह से भीगे संस्मरण याद आते जाते हैं। उन्हीं दिनों किसीने उनके विरोध में एक निहायत गन्दी पुस्तक छापी थी। कोई मथुरा का व्यक्ति था, अब नाम याद नहीं आ रहा है, पर उसमें सिवाय गालियों के और कुछ नहीं था। बच्चन ने मुझे दिखाया, इसलिए नहीं कि वे उसके बारे में कुछ राय जानना चाहते थे, केवल इस ख़्याल से जैसे और बहुत-सी बातों को बता देना उनके लिए रोज़मर्रा की बात थी। उसको पढ़कर मैं तिलमिला उठा और मैंने कहा, "इसके ख़िलाफ़ तो 'ऐक्शन' लेना होगा।" पर बच्चन ने जिस निर्विकार भाव से कहा, "दे डाइ देयर नेचुरल डेथ", (ऐसी चीज़ें खुद ब खुद मर जाती हैं।) वह आज भी ऐसा अंकित है, जैसे मानो अभी-अभी कहा हो। और बच्चन ने कितना ठीक सोचा। आज शायद बहुत-से लोग इस बात को जानते भी न हों।

खाने-पीने में या घर में उठने-बैठने वाले बच्चन को देखकर शायद ही कोई यह कल्पना कर सके कि बच्चन कवि भी हैं। न कहीं दुराव न छिपाव, न अहंकार, न अलग-अलग रहने की प्रवृत्ति। मेरे बच्चों के साथ वही हँसना-खेलना, जो एक परिवार के अंग के लिए ही सम्भव हो सकता है।

आज बच्चन एक बड़े साहित्यकार के रूप में जाने-माने जाते हैं किन्तु मुझे कभी भी यह अहसास नहीं हो पाता कि बच्चन इतने बड़े कवि हैं या साहित्यकार हैं। मैं तो हमेशा उन्हें उसी दृष्टि से देख पाता हूँ जैसा ट्रेनिंग कॉलिज में देखा था। आज भी जब भेंट हो जाए तो वही बेतकल्लुफ़ी का मज़ाक और हँसी-ठट्ठे का दौर चलता है।

'दोनों चित्र सामने मेरे'

गोपीकृष्ण गोपेश

सन् '३४-'३५ का ज़माना···इलाहाबाद का अग्रवाल विद्यालय···हमें हिंदी पढ़ाने के लिए एक नये अध्यापक आते हैं···वे कभी धोती पर कुरता पहने रहते हैं और धोती का एक सिरा कुरते की दाईं जेब में खोंसे रहते हैं, तो कभी मोटे खद्दर का कोट-पतलून पहने रहते हैं कि कोट की काट 'साईदा'[1] के इन दिनों के कोट की काट-सी, और कोट के पहले काज में जेबी घड़ी की रेशमी डोरी-सी फँसी एक काली डोरी···मगर, इस डोरी के सहारे अन्दर की जेब में जो चीज़ पड़ी हो, वह घड़ी न होकर लेडीज़ पेन हो···

मास्टर साहब मज़े के हैं···पंडित दलजीत मिश्र की तरह लड़कों को डाँटते नहीं, या पंडित रामकृष्णजी शुक्ल की तरह पेंसिल बीच में रखकर दो उँगलियाँ दबाते नहीं कि मुँह से चीख ही निकल जाए, बल्कि आते ही काले तख़्ते पर एक बड़ी-सी तलवार बना देते हैं कि जो कोई गड़बड़ी करेगा या बातचीत करेगा, उसका सर धड़ से अलग कर दिया जाएगा······

हम सब सुनते हैं कि नये मास्टर साहब कवि हैं···लगते भी हैं कुछ उल्टे-सीधे, अजीब-अजीब-से···चलते भी हैं कुछ विचित्र ठमक के साथ···हम सब लोग, होते-होते, उनकी ओर खिंचते हैं, और उनके प्रति बड़ा अपनापन-सा अनुभव करने लगते हैं···उसमें भी मेरा जैसा, तमाम होश की ज़िन्दगी में बिना माँ का, और हर मानी में अनाथ-सा बालक उनकी ओर और भी तेज़ी से आकृष्ट होता है···यह बालक तन पर के फटे-पुराने जाँघिये और कमीज़ के बावजूद अच्छा-खासा है···कह सकते हैं कि और बच्चों की तरह परिवार की हरी ज़मीन, और स्वस्थ, बाहरी वातावरण का नीला आसमान इसे भी मिलता, तो शायद यह भी कुछ अधिक कर सका होता···कुछ अधिक कर सकता···

कविजी बच्चे को स्नेह और मोह ही नहीं, दुलार और प्यार भी देने लगते हैं···इन्टरवल में वे उससे घर-परिवार की बातें करते हैं···उसे कविता पढ़ना सिखलाते हैं :

> मैं जग-जीवन का भार लिए फिरता हूँ—
> फिर भी जीवन में प्यार लिए फिरता हूँ—
> कर दिया किसीने झंकृत जिनको छूकर,
> मैं साँसों के दो तार लिए फिरता हूँ—

बालक काव्य-पाठ की वार्षिक प्रतियोगिता में प्रथम आता है···उसके अपने

---

१. कवि-श्रेष्ठ श्री सुमित्रानन्दन पंत

प्यारे मास्टर साहब उसे हरी बेल वाले कागज़ पर अपने हाथ से लिखकर चार पंक्तियाँ (रुबाई) देते हैं :

मुसलमान औ' हिंदू हैं दो, एक, मगर, उनका प्याला,
एक, मगर, उनका मदिरालय, एक, मगर, उनकी हाला;
दोनों रहते एक न जब तक मंदिर-मस्जिद में जाते;
बैर बढ़ाते मंदिर-मस्जिद, मेल कराती मधुशाला !

या ऐसा ही कुछ···बालक को यह भी मालूम होता है कि मास्टर साहब के ऐसे ही पदों की एक किताब जल्दी ही छपने वाली है···इसीके साथ दुनिया-जहान की बातें मास्टर साहब हर दिन इन्टरवल में उस बालक से करते हैं···बालक अपने को स्वयं भी कवि समझने लगता, तुकबन्दी करने लगता, और अपनी बुद्धि से, उम्र से कहीं बड़ी-बड़ी बातें सोचने लगता है···उसे पहली बार लगता है कि वह भी आदमी है, और वह भी कुछ कर सकता है···अपनी ग़रीबी और अपने घर के वातावरण के बावजूद, अपनी सौतेली माँ और सगे होते हुए भी सौतेले बाप के बावजूद कुछ तो कर ही सकता है···

इसी समय एक दिन मास्टर साहब सहसा ही बुलाते हैं, और उस बालक से डाँट-कर कहते हैं, "तुम अभी यहाँ बैठे थे···मैं आज दूसरा क़लम लाया था, वह क्या हो गया ?···तुम्हारे सिवाय तो कोई यहाँ आया नहीं···अच्छे बच्चे चोरी नहीं किया करते ···ले आओ, जहाँ भी रक्खा हो, फ़ौरन ले आओ···मैं किसीसे कुछ नहीं कहूँगा, वरना हेड मास्टर साहब से कहना पड़ेगा···"

बालक रुआँसा हो उठता है, बार-बार अपने को निरपराधी घोषित करता है, और अंत में चला आता है···मास्टर साहब बहुत ही गम्भीर हैं··बालक के दिमाग़ में रह-रहकर गूँजता है—'अच्छे बच्चे चोरी नहीं किया करते।'·· वह मन ही मन मास्टर साहब से कहता है, 'लेकिन, मास्टर साहब, मैं चोरी नहीं करता···अगर चोरी करता भी हूँ तो आपकी कोई चीज़ नहीं चुरा सकता··क्या मेरी ग़रीबी मेरे लिए इतना बड़ा अपराध है कि जीवन का जो नरक मैं भोग रहा हूँ, उससे भी बड़े नरक में रहने की सज़ा मुझे दी जाए कि आप मुझे चित्त से उतार दें, क्योंकि चोर को तो कोई प्यार नहीं करता···'

स्कूल की उस दिन की पढ़ाई ख़त्म होती है··बालक बिल्कुल मरे मन से घर आता है··शाम होने पर, घर की मज़दूरी से जैसे-तैसे जान छुड़ाकर मुट्ठीगंज जाता है···अपने मास्टर साहब के घर··पर मास्टर साहब बाहर नहीं आते, जैसे कि उनका दिल टूट गया हो कि जिस बच्चे को मैंने इस तरह और इतना माना हो, वह चोर निकल जाए !···बालक के पास क्या चारा है, यतीम को अगर कोई दरवाज़े से लौटा दे तो इसमें ऐसा अजीब भी क्या !···

दूसरे दिन मन न होने पर भी, हिम्मत के हर तरह जवाब देने पर भी, और अपनी निगाहों में भी सचमुच चोर हो जाने पर भी बालक स्कूल जाता है, क्योंकि और कोई जगह जैसे उसके लिए बनी ही नहीं; एक स्कूल के बहाने ही तो वह घर से निकल पाता है।

ग़रीब दर्जे में जाता है—ज़रा देर बाद ही चपरासी आता है—"राय साहब (श्री हरिवंशराय) गोपीकृष्ण को बुला रहे हैं।"—बालक के काटिए तो खून नहीं कि अब जाने क्या होगा—हे भगवान—हे मेरे भगवान!—मगर, वहाँ पहुँचने पर देखता है कि आज मास्टर साहब का रूप ही एकदम बदला हुआ है—उनकी आँखों में बड़ा दर्द है, और दिली ख़ुशी की चमक है—दर्द कि उन्होंने यानी उन्होंने भी एक निस्सहाय, ग़रीब बच्चे को चोर समझा; और, ख़ुशी कि उनका अपना गोपीकृष्ण चोर नहीं निकला, वह चोरी नहीं करेगा, क्योंकि अच्छे बच्चे चोरी नहीं करते···

मास्टर साहब कहते हैं, "बेटा, इधर आओ···मुझे क्षमा कर दो···मैंने तुमपर झूठा इलज़ाम लगाया···क़लम तो मेज़ की इस दराज़ में डायरी के नीचे पड़ा हुआ था··· आज अभी काम के लिए डायरी निकाली तो नज़र आया···सचमुच क्षमा कर देना मुझे।···तुम बहुत राजा···बेटे हो।"···और, मास्टर साहब की आँखों से दो आँसू टपककर मेज़ पर आ गिरते हैं···बच्चे का सारा साहस चुक जाता है···वह कमीज़ के सिरे से आँखें पोंछता कमरे के बाहर आ जाता है···और, मास्टर साहब के आँसुओं में घुल जाता है उसके मन का सारा विद्रोह, वरना तो उस छोटी-सी घटना से वह पक्का चोर बन गया होता···वह मास्टर साहब का बदला जाने कितने लोगों से लेता···बात क्या है, फूस चारों ओर हो तो चिनगारी के छू जाने भर की ही तो देर रहती है···फिर तो, गुरु शिष्य के और पास, और पास आ जाते हैं···गुरु अग्रवाल विद्यालय के संस्थापक श्री काशीनाथ अग्रवाल के जन्म-दिवस के आयोजन में कविता पढ़ते हैं:

> माली, उपवन का खोल द्वार,
> यह नृप का उपवन कहलाता,
> नृप-दम्पति ही इसमें आता—
> दूसरा नहीं आने पाता—
> भीतर आने का तज विचार।···

और, शिष्य नक़ल करना शुरू करता है, तो 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधुकलश', 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' और उसके भी बहुत बाद तक यह सिलसिला चलता रहता है···शिष्य को 'मधुशाला' के बीसियों छन्द ज़बानी याद रहते हैं, और उसे इसी-लिए बड़े लोग अपनी गोष्ठियों में बड़े स्नेह से बुलाते हैं···

शिष्य भी आगे बढ़ता है···जैसे-तैसे, उठते-गिरते···अब वह कुछ अधिक समझने लगता है···ज़िन्दगी कुछ और कस देती है उसे···बड़ी हिम्मत मिलती है—वह बार-बार पढ़ता और गुनता है:

> जुए के नीचे गर्दन डाल।
> ....
>
> इस पथ से ही जाना होगा,
> यह गुरु-भार उठाना होगा,
> तेरी ख़ुशी-नाख़ुशी का है नहीं किसी को ख़्याल।
> जुए के नीचे गर्दन डाल।

....

मगर यह कि—

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर—

....

झुकी हुई अभिमानी गर्दन,
झुके हुए नत, निष्प्रभ लोचन,
यह मनुष्य का चित्र नहीं है, पशु का है, रे कायर।

....

मनुज-पराजय के स्मारक हैं मठ-मस्जिद-गिरजाघर।
प्रार्थना मत कर.........

और, शिष्य की पीठ में जैसे रीढ़ की हड्डी फ़िट हो जाती है...वह तन उठता है...अपनी उस अधकचरी समझ के बावजूद अनास्थावादी हो उठता है...तर्क करने को भी मसाला मिल जाता है—

यह पुण्य-कृत्य, वह पाप-कर्म कह भी दूँ तो दूँ क्या सबूत,
कब कंचन मंदिर पर बरसा, कब मदिरालय पर गिरी गाज।

दूसरी ओर, गुरु अपने उस 'एकलव्य' को पहचानता है, जिसके पैर में अँगूठा तक जन्म से ही नहीं होता कि वह...गुरु शिष्य को मनुष्य बनाता है...उसमें व्यक्तित्व और स्वाभिमान जगाता है, "क्या...तुम कल दोपहर में आए थे... यानी रानी मंडी से पैदल यहाँ बेलीरोड तक, इस 'बसुधा'[1] तक आए थे...क्या कहा, मैं सो रहा था...बेवक़ूफ़ हो तुम...जो आदमी इस चिलचिलाती धूप में चौक से यहाँ तक आ सकता है, पैदल आ सकता है, उसे अधिकार है कि वह दरवाज़ा भड़भड़ाकर मुझे जगा दे; और, फिर भी मैं न जागूँ तो मेरे दरवाज़े तोड़ दे...समझे!"...और, अब तक सर्वथा जाने-माने, लोकप्रिय कवि बच्चनजी गम्भीर हो उठते हैं, "क्या महत्त्व है मेरी नींद का।...दरवाज़ा तोड़ देना चाहिए था तुम्हें।..."

एक दिन बच्चनजी कहते हैं,..."देखो, यह तुम क्या बेवक़ूफ़ों की तरह माँग-वाँग निकलते हो...बाल भी तुम्हारे क़ायदे से नहीं कटते...तुम इतवार को सुबह यहाँ आ जाना...इतवार को मेरे बाल काटने मेरा बारबर (नाम सुलेमान या रहमान, या ऐसा ही कुछ) आएगा...उससे तुम्हारे बाल बनवा दूँगा, फिर तुम वैसे ही कटवा लिया करना"...और, इतवार को मेरे बाल कट जाते हैं...अब गोपीकृष्ण उल्टे बाल काढ़ने लगता है कि सदा की मुँहचढ़ी माँग अपना ख़राज (दस साल तक) माँगती जाती है, और अक्सर ही बिफरकर फट-फट जाती है, मगर, एक नयापन, आधुनिकता और फिर भी सादगी तो आ ही जाती है...

एक दिन युनिवर्सिटी के वी० सी०, सुप्रसिद्ध विद्वान्, काव्य-रसज्ञ डॉक्टर अमरनाथ झा के यहाँ की गोष्ठी में बच्चनजी के साथ जाने के लिए गोपीकृष्ण 'बसुधा'

१. बच्चन-सुमित्रानन्दन-धाम

पहुँचता है तो पन्तजी और बच्चनजी विचित्र-से कुर्ते पहने बाहर निकलते हैं— कि गला पानदार; शायद एक चुटपुटिया बटन, शायद वह भी नहीं; नीचे, दोनों ओर बंद; बाईं ओर छोटे-से रूमाल के लायक़ एक छोटी-सी जेब; और, आस्तीनें ऐसी कि ऊपर चढ़ाई जाएँ तो कुहनियाँ उन्हें टोंक न पाएँ · · रंग सफ़ेद · · · कपड़ा खद्दर · · · उसी कपड़े का पाजामा · · · नवीनता, कलात्मकता और सादगी की तीन स्पष्ट धाराएँ कि संगम असम्भव · · · हाँ, व्यक्तित्व हर एक का अलग · · ·

गोपेश का बड़ा जी करता है कि वह भी ऐसा ही एक कुरता बनवाए · · · अब तो बनवाया भी जा सकता है · · · आख़िर कवि-सम्मेलन तो वह भी कमाने ही लगा है · · · सो, आकाशवृत्ति ही सही, पर वृत्ति तो है ही—सावन के रूप में · · · मगर, फिर और चीज़ें भारी हो उठती हैं, और कुरते की बात आई-गई हो जाती है · · ·

और, फिर, ऐसे ही ऐसे एक दिन बच्चनजी कहते हैं, "सुनो, यह तुमने क्या बेकार का नाम रख लिया है 'गोपेश' · · · और, यह नाम रक्खा ही है तो फिर गीत-वीत न लिखकर घनाक्षरी-सवैये लिखा करो · · ·" नतीजा यह कि, एक ओर, छोटा-सा नाम 'गोपेश' लोगों के होंठों पर चढ़ा रहता है, और, दूसरी ओर 'देशदूत' और 'विश्ववाणी' आदि में रचनाएँ 'गोपीकृष्ण' के नाम से निकलती हैं कि सन् '४३ में हरिद्वार में होने वाले अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के सिलसिले में आयोजित कवि-सम्मेलन में रचनाएँ सुनकर बंधुवर श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर कहते हैं, "क्यों भाई, तुम ऐसे गीत लिखते हो, मगर कहीं छपाते नहीं ?" जवाब दिया जाता है, "नहीं, मेरे गीत छपते तो हैं · · ·" प्रभाकरजी चिढ़-से उठते हैं, "मैं बराबर पत्र-पत्रिकाएँ देखता रहता हूँ · · · यानी, या तो मैं अंधा हूँ, या तुम झूठ बोल रहे हो · · ·" इसपर गोपेश 'गोपेश' और 'गोपीकृष्ण' की मर्मकथा समझाता है, और प्रभाकरजी ज़ोर का ठहाका लगाते हैं, "तो, यूँ कहो न ! " · · · और मज़ा यह है कि हज़ार कोशिशों के बाद भी 'गोपेश' जैसा छोटा-सा शब्द अपनी लघुप्राणता के कारण ही इतनी गहरी जड़ें पकड़ लेता है कि क्या कहा जाए · · · बहुत-से निकटतम मित्र तक पूरा नाम नहीं जानते, और पूरा नाम जानने पर आश्चर्य करते हैं · · · · · बेचारा 'गोपीकृष्ण' मजबूर है · · · वह बच्चनजी के सामने लज्जा का अनुभव करता है · · · मगर फिर साहस बटोर लेता है · · · कहता है, "ठीक है · · देखिए न, आप ही तो कहते हैं कि हर चीज़ को अपनी स्वाभाविक गति से चलने देना चाहिए · · · तुम्हें, मुझे या किसीको बीच में आने का क्या अधिकार ! · · ·"

और भाई अंचल के बार-बार कहने पर, और बच्चनजी के हर तरह मदद देने पर गोपेश, ४ वर्ष ख़राब करने के बाद, पाँचवीं बार विश्वविद्यालय में दाख़िला लेता है · · · बच्चनजी कहते हैं, "अब इतने वर्ष ख़राब हुए हैं तो काम के आदमी बनो · · · विषय लो— इतिहास, भूगोल और अंग्रेज़ी साहित्य · · ·" गोपेश के लिए सभी विषय एकदम नये होते हैं · · · अंग्रेज़ी साहित्य के तो नाम से भी उसकी हड्डी काँपती है · · · मगर बच्चनजी समझौते पर आते हैं तो इतिहास की जगह हिन्दी साहित्य को दे देते हैं · · · और, बस, और अंग्रेज़ी साहित्य का ज़िम्मा अपने ऊपर ले लेते हैं · · · यही नहीं, उसे अपने क्लास में ही रखवा भी लेते हैं · · ·

गोपेश अब यूनिवर्सिटी के अंग्रेज़ी के प्राध्यापक बच्चनजी के रूप देखता है तो आश्चर्य से ठक रह जाता है। बच्चनजी सुबह जो, चाय के पहले, कपड़े पहनते हैं तो फिर रात को ही उतारते हैं, जब दिन भर की दौड़-धूप के बाद भी कुरता-पाजामा पहनकर अपनी मेज़ पर जा डटते हैं, और फिर एक-दो बजे रात तक मुतवातिर लिखते-पढ़ते रहते हैं।···

बच्चनजी का पुराना विद्यार्थी उन्हें अब बिलकुल नये परिवेश में पाता है···फिर भी देखता है कि इनके दर्जे के विद्यार्थी इनके अपने परिवार के अंग हैं जैसे···बच्चनजी उनकी लापरवाही पर या उनके काम न करने पर उनपर जुरमाना करते हैं, और उस राशि से नयी से नयी किताबें ख़रीदकर लाते हैं,···धीरे-धीरे आलमारी किताबों से भर जाती है···लेक्चरर साहब पीरियड समाप्त होने के बाद विद्यार्थियों से घिर जाते हैं··· फिर तो कोई आधे घंटे या पौन घंटे तक किताबों के वापिस लिए जाने या नयी किताबों के दिए जाने का चक्कर चलता रहता है···बच्चनजी ज़रा-ज़रा देर पर अपनी कुर्सी छोड़ देते, कुर्सी वाले तख़त से नीचे उतर आते और सभी विद्यार्थियों को अलग-अलग 'अटेंड' करते हैं, "तुम फ़िलहाल यह किताब ले लो···अगली बार यह ले जाना···"

इस बीच गोपेश की निगाह उनके फ़ौजी बूट पर चली जाती है, पूछने पर मालूम होता है, वे यू० ओ० टी० सी० में कैप्टेन हैं···यूनिवर्सिटी से सीधे परेड में जाते हैं··· साहित्यकार, कवि, मास्टर और लेक्चरर का एक नया परिचय पाकर छात्र अचरज में पड़ जाता है—कितने-कितने धंधे करते हैं गुरुजी ! ···कमाल है। इसलिए तो वह बाद में और रस ले पाता है; पंक्तियों में और क़रीब से, और गहराई से डूब पाता है, जब पढ़ता है :

मत ढूँढ़ो मुझको कालेज की दीवारों में,
लेक्चर देनेवाले मुझ से बहुतेरे हैं—
मत ढूँढो मुझको ख़ाक़ी वर्दीवालों में,
हर एक जगह पर इनके डीपू-डेरे हैं;
मैं क़लम और बन्दूक़ चलाता हूँ दोनों,
दुनिया में ऐसे बिरले कम पाए जाते;
दावा न करूँगा ऐसों में एकताई का,
यद्यपि इन पर अधिकार बहुत कुछ मेरे हैं,
औरों ने की जो भूल न तुम भी कर बैठो,
इसलिए तुम्हें मैं पहले से बतलाता हूँ—
मैं गाता हूँ, यह ख़ास निशानी मेरी है।
मैं गाता हूँ, इसलिए जवानी मेरी है।

और गोपेश को लगता है कि सचमुच ही उनकी ख़ास निशानी यही है कि वे गाते हैं, और हर हाल में गाते हैं···और रंग बदल-बदलकर तरह-तरह से गाते हैं— मगर, गीत या जो कुछ वे गाते हैं, वह सीधे उनके अन्तर से उमड़ता है, इसलिए तो इतना सीधा होता है, सीधे दिल में उतरता चला जाता है··· जवानी है, बेशक है, क्योंकि बच्चनजी में

झिझक या हिचक तो नहीं ही है, वह ईमानदारी भी है, जिसकी धार जवानी में पैनी होती है तो जवानी के उम्र के दिन बढ़ाती चली जाती है·· अल्लाह करे कि बढ़ाती ही चली जाए !···

गोपेश एक बार यूनिवर्सिटी छोड़ देता है, यानी इस बार अच्छी-बुरी, कमोबेश सफलता के साथ छोड़ देता है, और स्थानीय राधारमण कॉलेज में अध्यापक हो जाता है कि सन् '४७ की १५ अगस्त आती है, और अपने साथ आज़ादी (?) लाती है···मनों में बहुत कुछ शंका-संकोच होते हुए भी किसमें एक बिजली-सी नहीं दौड़ जाती !··· गोपेश के कॉलेज में भी स्वतन्त्रता-समारोह मनाए जाते हैं, और वह एक लम्बी कविता लिखता है, जिसकी पहली और कहें कि टेक की पंक्तियाँ हैं :

अपनी रोटी, अपना राज,
इन्क़लाब – ज़िन्दाबाद···

साफ़ है कि पंक्तियाँ बच्चनजी के 'बंगाल का काल' से ली गई हैं···गोपेश को यह कहने में ज़रा भी हिचक नहीं कि इन पंक्तियों के सामने आते ही जैसे कविता पूरी हो गई···बच्चनजी ने उसे यहाँ भी साथ लिया, यहाँ भी उसका पथ प्रशस्त किया ।···

गोपेश ने एम० ए० कर लिया है, और वह राधारमण कॉलेज से आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र में आ गया है···जैसे-तैसे रिसर्च भी ज्वाइन कर ली है···

रेडियो स्टेशन बच्चनजी के क्लाइव रोडवाले बँगले के पास है,···गोपेश अक्सर शाम की चाय उन्हींके साथ पी आता है···

और, एक दिन सूचना मिलती है कि बच्चन जी डब्ल्यू० बी० येट्स पर खोज-कार्य करने के लिए, दो वर्ष के लिए, कैम्ब्रिज जा रहे हैं···और, फिर वह दिन भी आ जाता है जब उन्हें प्रयाग से जाना है···घर में विचित्र-सा घुला-मिला वातावरण है··· तेजीजी को शायद बच्चनजी की सफलता की आगे बढ़ी सीढ़ी काफ़ी नहीं लगती, उन्हें दो वर्ष अकेले रहना है···पूरा घर सम्भालना है — दोनों बच्चे — अमित और अजित — अभी छोटे हैं·· वे दोनों ही शुद्ध रूप से उदास हैं — डैडी बहुत दूर जा रहे हैं, बहुत दूर···

आख़िरी शाम को गोपेश बच्चनजी को फ़ोन करता है·· वह जानता है कि उन्हें कल ही प्रयाग छोड़ना है तो आज वे कितने व्यस्त होंगे, फिर भी फ़ोन करता है, जैसे कि तमाम चीज़ों के साथ उनके समय पर उसका भी अधिकार हो·· वे उससे कहते हैं — "देखो अगर आ सको तो रात को एक बजे आओ···मैं बाहर ही मिल जाऊँगा···सड़क पर ही तुम्हारा इन्तज़ार करूँगा"···और, गोपेश एक बजे पहुँचता है तो सचमुच बच्चन-जी सड़क पर टहलते मिलते हैं···फिर टहल-टहलकर ४०-४५ मिनट तक तमाम तरह की बातें करते हैं — गोपेश को अपने आप पर क्रोध आता है कि आराम को कितना समय है इनके पास, और मैं···

आख़िरकार वह लौट आता है··बहुत-बहुत ही भारी मन से···बच्चनजी के डॉक्टर हो जाने की बात हल्की पड़ जाती है, और उनका दो वर्ष तक यहाँ न रहना जैसे

कि भारी पड़ जाता है···बहुत भारी ··मगर···मगर···

फिर बच्चनजी के पत्र कैम्ब्रिज से आते हैं···मगर, उन पत्रों का कोई भी अंश उद्धृत करने के पहले गोपेश, उन्हींके एक विशेष पत्र की कुछ पंक्तियाँ यहाँ देने के बाद ही, बात आगे बढ़ाना चाहता है—पंक्तियाँ हैं : "···को पत्र लिखना बन्द करने वाला हूँ। मैं उन्हें जो लिखता हूँ उसे वे दूसरों को क्यों दिखाते हैं ? क्या आप भी ऐसा ही करते हैं ? तब तो आपको भी पत्र लिखना बन्द करना पड़ेगा। पत्र आए तो उसे पढ़, उत्तर दे, फाड़, कूड़े की टोकरी में डाल उसकी बातों को भूल जाना चाहिए। प्रेमिका का पत्र हो तो उसे शहद लगाकर चाट जाना चाहिए । पर, उसको कोट के ऊपर चिपकाए फिरना कौन-सा तरीक़ा है ! ···"

और, गोपेश बच्चनजी के कुछ पत्रों के कुछ अंश न केवल दूसरों को दिखलाने के इरादे में है, बल्कि जग-जाहिर करने की भी हिमाक़त कर रहा है। बच्चनजी क्षमा कर दें।···

तो, यह समझिए कि बच्चनजी के इंग्लैण्ड जाने के थोड़े समय बाद ही गोपेश की भी बी० बी० सी० के हिन्दी विभाग में जाने की बात पक्की हो जाती है·· वह बच्चन-जी को भी इसकी खबर देता है···बच्चनजी का जवाब आता है : "मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि निकट भविष्य में तुम भी विलायत आ रहे हो। यहाँ देखने-सीखने को बहुत है—मौज, मस्ती करने और बरबाद होने को भी कम नहीं है। देर के लिए आ रहे हो तो पत्नी को साथ लाना। अपने यहाँ के हालात ऐसे नहीं कि अपने परिवार को पीछे छोड़ आया जाए। मेरी पत्नी और बच्चों को काफ़ी परेशानियाँ उठानी पड़ी हैं···"

मगर, होता कुछ यों है कि आले हसन साहब इस्तीफ़ा देकर वापिस ले लेते हैं, और गोपेश यहाँ का यहीं रह जाता है···यानी, हवा की लहरों पर सवार होकर, या पानी की लहरियों पर लहराकर, उड़कर बच्चनजी के पास पहुँच जाने का गोपेश का सपना तार-तार हो जाता है ··हाँ, पत्र बदस्तूर मिलते रहते हैं···प्रायः तेजीजी के लिफ़ाफ़े में आते हैं, और वे एक दूसरे लिफ़ाफ़े में रखकर उन्हें जल्दी से जल्दी रेडियो भेजवाती रहती हैं···

ऐसे ही ऐसे एक पत्र में गोपेश पढ़ता है, "पश्चिम ने विज्ञान को साधा है। उससे उसे नई-नई सुविधाएँ और वैज्ञानिक दृष्टि मिली हैं, जिसकी इस युग को बड़ी आवश्यकता है—ख़ासकर भारत जैसे देश को।"

विदेशों से हमारा सांस्कृतिक आदान-प्रदान तभी सम्भव है, जब हम उनकी भाषाएँ सीखें, और वे हमारी। भाषाएँ सीखने में भारतीय सबसे अधिक पिछड़े हैं। यहाँ मैंने बुद्धिजीवियों को ३-३, ४-४, भाषाओं का ज्ञाता पाया है। काम भी बाहर के सभी देशों के लोग हम भारतीयों से कहीं अधिक करते हैं—जर्मन शायद सबसे अधिक···"

एक पत्र में, गोपेश के किसी प्रसंग के उत्तर में बच्चनजी उसके निकट मित्र डॉक्टर धर्मवीर भारती की चर्चा करते हैं···"भारती से बहुत लोग नाराज़ होते हैं। यह उनकी क़लम के ज़ोर का सबूत है। चलने वाला चाहे ग़लत रास्ते पर चले, चले; ठीक

रास्ते पर आ जाएगा। भारती चलने वालों में हैं, इसका मुझे विश्वास है। मैं उनका लिखा पढ़ने को विवश होता हूँ।...''

और, बच्चनजी डॉक्टर होकर स्वदेश लौट आते हैं—इलाहाबाद यूनिवर्सिटी ज्यों की त्यों रहती है...गोपेश का इस बीच ग़ैर मामूली तरक़्क़ी के साथ, तबादिला हो जाता है...वह हिंदी-कार्यक्रम-अधीक्षक बनकर आकाशवाणी के कलकत्ता केन्द्र में जा पहुँचता है...वहाँ बच्चनजी के एक पत्र से ज्ञात होता है कि वे आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र में हिंदी-प्रोग्राम्स-प्रोड्यूसर हो गए हैं...फिर, पता चलता है कि वे दिल्ली जा रहे हैं...भारत सरकार के विदेश मंत्रालय में...बच्चनजी स्वयं लिखते हैं, "मेरी तो छोटी-सी साधना यही रही है कि जिनकी नज़रों में उठा, उनकी नज़रों में गिरूँ न !...हिंदी की सेवा करने का जो एक नया अवसर मुझे मिला है, उससे मैं बहुत खुश हूँ। मैं तो समझता हूँ कि मुझे एक बार फिर कसौटी पर चढ़ाया जा रहा है। भगवान मेरी इज़्ज़त रक्खें। पंडित नेहरू को खुश करना खेल नहीं है। यानी, ख़ुशी के साथ मेरे मन में आशंका भी कम नहीं है। पर, आत्मविश्वास की मुझमें कमी नहीं। आई विल पुट इन दि बेस्ट इन मी—उससे अधिक की आशा तो भगवान भी नहीं करता।...''

और, फिर, थोड़े समय बाद गोपेश की जिस दाईं हथेली में समुद्र-यात्रा की कोई रेखा ही कभी नहीं बताई गई, उसीमें कहीं से पूरे का पूरा एक नक़्शा उभर आता है... भारत सरकार उसका चुनाव कर लेती है सोवियत संस्कृति मंत्रालय के अधीन, मास्को जाकर रूसी साहित्य के अनुवाद का काम करने के लिए—बच्चनजी का पत्र कलकत्ता पहुँचता है, "मुझे ख़ुशी है कि तुम्हें भगवान ने यह अवसर दिया। इसका उपयोग करो। आगे बढ़ो। औरों को बढ़ाओ। मैं जानता हूँ कि तुम्हें अज्ञात में क़दम रखना पड़ेगा, पर अज्ञात में प्रवेश करने से बड़ा सुख कहीं नहीं है।—'है शेष आकर्षण अभी मेरे लिए अज्ञात में'...सब कुछ नया होगा, और इतने नये से परिचय करने का तुम्हें जो सौभाग्य मिल रहा है, उससे मुझे भी ईर्ष्या हो रही है।...''

इसी बीच गोपेश को बच्चनजी का एक दूसरा पत्र मिलता है, " 'ज्ञानोदय' में तुम्हारा लेख देखा। उसने मेरी भी कुछ पुरानी स्मृतियाँ जगा दीं। तुम ऐसी ही आसानी से अपने जीवन का पूरा संस्मरण लिखो तो कितना रोचक हो...विशेष घटनाओं के दिन चुन सकते हो। सोचना इसपर। अपने बारे में लिखते हुए भी बाहरी दुनिया पर तुम रोशनी फेंक सकते हो। कविता-साहित्य का यही महत्त्व है। वैसे हमारे-तुम्हारे जैसे 'परम लघु' जीवों के दुःख-सुख-संघर्षों में किसीकी रुचि क्यों हो ! हमारा-तुम्हारा मूल्य इतना ही है कि हमारे-तुम्हारे दिल की खिड़कियों से दुनिया का एक दृश्य दिखाई दे जाता है। मैंने तुम्हें आत्मकथा लिखने को कहा था, तब भी यही चीज़ मेरे मन में थी। 'इगोइस्ट' दुनिया में सब कुछ बन सकता है, साहित्यकार नहीं बन सकता।''

और, इसी दौर-दौरे में एक दूसरा पत्र भी गोपेश को मिलता है, क्योंकि, अपनी दौड़-धूप के बावजूद, उसने बच्चनजी को जैसे कि जानबूझकर छेड़ दिया है...बच्चन-जी लिखते हैं, "यार, अख़बार वाले यह चाहते हैं कि मैं उस सम्बन्ध में अपनी ओर से

कुछ सफ़ाई दूँ, फिर कुछ विवाद चले और लोग अख़बार खरीदें। मेरी चुप्पी से वे जितने नाराज़ हैं, शायद मेरे कुछ लिख देने से उतने न होते। पर, मैंने अख़बारों की बिक्री बढ़ाने या उनमें सनसनी पैदा करने के लिए साहित्य साधना नहीं की। मौक़े पर बात आ गई तो एक जगह कह दी, मुझे जो लिखना होगा, लोहे की क़लम से लिखूँगा। आप मिटा सकिएगा तो मिटा दीजिएगा।"

यहाँ गोपेश के सामने बच्चनजी की कुछ और पंक्तियाँ आ जाती हैं, "कविता लिखने के लिए सबसे बड़ी ज़रूरत है तबीयत की आज़ादी की। ज़िन्दगी जिधर से भी बुलाए, आप कह सकें, हाज़िर हूँ। दूसरों से ज़्यादा हम अपने-आपको अपना ग़ुलाम बनाते हैं। अपने से आज़ाद होना खेल नहीं, पूरी ज़िन्दगी की साधना चाहिए।..."

और, इन पत्रों और बाक़ी दुनिया को एक ज़ोर का झटका देकर वह वेला भी आ जाती है, जब गोपेश को देश छोड़ना है।...फिर, वह क्षण भी आ जाता है...दिल्ली के (बात सन् '५६ की है) सफ़दरजंग हवाई अड्डे पर घर के लोगों, इष्ट-मित्रों, साहित्यिक बंधुओं के साथ मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार श्री इलाचंद्र जोशी भी हैं और बच्चनजी भी...बच्चनजी तो सबको छोड़-छाड़कर वहाँ आ जाते हैं, जहाँ सारी 'फ़ॉरमैलटीज़' अदा हो रही हैं...वे गोपेश को इशारे से बुलाते हैं, "बीमा करवा लिया ?"...."कैसा बीमा ?"...."अरे, बीमा हवाई यात्रा की किसी भी दुर्घटना और उससे होने वाली जान की क्षति के ख़िलाफ़...इधर आओ...हाँ, साहब, ढाई लाख[1] का बीमा कर दीजिए इनका...बतलाइए कितना हुआ इनका," और बंद गले का कोट खोलकर अंदर की जेब में हाथ डालते हैं, "यार, मनीपर्स घर पर ही भूल आया क्या ?"...और, फिर एकदम हड़बड़ाने के बाद ही उसी तरह आश्वस्त होते हैं, "है, यह रहा"—और, रक़म मालूम कर, पूरी की पूरी अदा करते हैं...

इसी समय उनकी निगाह गोपेश के चमड़े के एयर बॉक्स पर पड़ती है—उस-पर बाहर की ओर, हैंडिल के नीचे, सफ़ेद अक्षरों में, अंग्रेज़ी में लिखा है—'जी० गोपेश,' बच्चनजी काफ़ी नाराज़गी भरे स्वर में कहते हैं, "इसपर नाम अंग्रेज़ी में क्यों ?...नाम तो हिन्दी में ही होना चाहिए था...बाहर जा रहे हो तो भारतीय और पूर्ण भारतीय रूप में ही बाहर जाते...अपनी भाषा का अभिमान लेकर जाते...तुम हर काम उल्टा-सीधा करते हो !"...और, गोपेश अनुभव करता है कि बात ने कहीं मन में गहरी कचोट पैदा कर दी है...बाद में अफ़ग़ानिस्तान की सीमा पार करते ही तरमेज़ में तो बच्चनजी की बात का शब्द-शब्द जैसे आँखों के आगे साकार हो उठता है कि बात समझिए तो हमारी भाषा में समझिए—हम तो अपना सारा कामकाज अपनी भाषा में ही करेंगे...हमारी बला से कि आप Restaurant को Pectopah पढ़िए... यह तो आपका काम है कि हमारे यहाँ आए हैं तो आप यह भी जानें कि अंग्रेज़ी का 'प' ध्वनिवाला शब्द हमारे यहाँ 'र' ध्वनि के लिए है, और अंग्रेज़ी का 'एच' रूसी में 'न' ध्वनि के लिए होता है।...

---

१. इस बीमे के लिए रक़म साधारण अदा करनी पड़ती है पर अदा तो करनी ही पड़ती है।

और, गोपेश विदेश में छः वर्ष रहता है···इस बीच भी बच्चनजी···पत्र, समय निकालकर, निरन्तर लिखते हैं, ऐसे कि दिन जोड़िए—इतने दिन पत्र पहुँचने में, इतने दिन पत्र आने में, और ऐन उस तारीख को पत्र घर के 'पोचता' में—डाक-बक्से में···

मास्को के साथी बच्चनजी के पत्रों से सूत्रबद्धता से परिचित हैं···तभी तो पूर्ण सोमसुन्दरम और भीष्म साहनी आदि एक बार पहिली अप्रैल के मौक़े पर उसका पूरा मज़ा लेते हैं···उसकी दास्तान 'धर्मयुग' के पाठक पढ़ ही चुके हैं और देख चुके हैं कि सचमुच मास्को पहुँचने के पहिले भी कैसे बच्चनजी एक बार मास्को पहुँच गए।···

यों बीच में गोपेश तीन बार भारत भी आता है···लगभग हर बार ही बच्चन-जी कहते हैं, "बच्चा, दुनिया बहुत बड़ी है···तुम्हें मौक़ा मिला है, जितना देख सको, देख लो···मास्को में बँधे न रहो—देश लौटने पर कौन जाने दुबारा जाने का अवसर आए, न आए···" तभी तो गोपेश न केवल लगभग पूरा सोवियत संघ देख लेता है, बल्कि तीन बार यूरोप के भी चक्कर लगाता है···एक बार चीन भी जाता है, और वापिसी के वक़्त मिस्र भी···पूँजीपति देशों का दौरा खास तौर पर करता है, ताकि दुनिया की दो प्रमुख व्यवस्थाओं—समाजवादी और पूँजीवादी—की समझदारी के बीच एक सन्तुलन क़ायम हो सके···सन्तुलन की सीख उसे सभी बुज़ुर्गों से सदा ही मिली है··· बच्चनजी ने तो हमेशा ही इस बात पर पूरा ज़ोर दिया है···

और, गोपेश के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय समाप्त होता है···वह स्वदेश लौटता है···

पहली ही शाम को बच्चनजी के यहाँ जाता है···बच्चनजी कहते हैं, "बेटा, जो जीवन तुम जी आए, वह अब दुर्लभ होगा···अब तो नये रूप में संघर्षों का उदय होगा··· तुम्हारे पुण्यों का क्षय हो गया···" और, इसके साथ ही गोपेश को सन् '५६ की निराला-जी की बात का ध्यान हो आता है···उस समय वह छुट्टी पर भारत आया था··· निरालाजी के दर्शनार्थ दारागंज गया था। निरालाजी ने कहा था, "तुम रूस गए हो··· लौटने पर क्या होगा? इससे क्या अन्तर पड़ता है कि तुम्हें भारत सरकार ने स्वयं चुनकर भेजा है—ठप्पा तो लग ही गया।"

यानी, बच्चनजी के वाक्य पुराना ज़ख्म जैसे ताज़ा कर देते हैं···गोपेश का मन मथ उठता है···कुछ दिनों के बाद सच्चाई से दो-चार होना है, तो वह बहुत ही दुःखकर एक कविता लिखता है:

पिता मेरे···
मत दुखो—
मेरे पुण्य क्षीण नहीं,
मैं तो दीन-हीन नहीं—
इतना ही है कि शब्द-शर-बेधी
यह तुम्हारा पुत्र

छद्म-छल-क्षुद्रता में
किंचित् प्रवीण नहीं—

उसपर कोढ़ में खाज कि भाग्य उसे दिल्ली जा पटकता है। वहाँ वह दुबारा बच्चनजी के निकट सम्पर्क में आता है···एक नये ही रूप में···उसे ताज्जुब होता है, उनका जीवन देखकर, और अध्यवसाय देखकर, और नीर-क्षीर-विवेक देखकर···सचमुच बहुत ही मुश्किल काम है दिल्ली में स्वाभिमान से जीना, अनेकानेक मोहों से अलग रहना और अपने अन्तर्जगत् को विकसित ही विकसित करते जाना···और कुछ न हो तो, भावुक हृदय व्यक्ति के लिए घुटने को ही कुछ कम नहीं है, सोचना-समझना, लिखना-पढ़ना ताक पर ही रक्खा रह जाता है···फँसाने को जाल भी ऐसे हैं कि बस ! मगर, ख़ैर।···

इसी बीच गोपेश के तीसरे काव्य-संग्रह के निकलने की बात सामने आती है··· गोपेश, बच्चनजी से भूमिका लिखने को कहता है। बच्चनजी खीझकर जवाब देते हैं, "तुम विदेशी विश्वविद्यालय तक में पढ़ा आए, मगर सर्टिफ़िकेट लेने की आदत तुम्हारी नहीं गई···आखिर कब तक लेते रहोगे ये सर्टिफ़िकेट ? भूमिका अपने आप लिखो, और जो कहना चाहो विश्वास के साथ, खुलकर, जमकर लिखो·· समझे।···" और उस काव्य-संग्रह की भूमिका गोपेश ख़ुद लिखता है···

इसके बाद थोड़ा समय बीतता है कि वह सहसा ही एक ऐसी बदनसीबी का शिकार हो जाता है कि क्या कहिए !

नतीजा यह कि गोपेश एकदम असहाय, निस्सहाय और बे-चारा हो उठता है···मगर, ऐसे ही मौक़ों के लिए तो कहा है :

'क़तील' अपना मुक़द्दर ग़म से बेगाना अगर होता,
तो फिर अपने-पराये हमसे पहचाने कहाँ जाते।

सो, पहचान हो जाती है; और, ऐसे बिरले अपनों की पंक्ति में गोपेश सबसे आगे पाता है बच्चनजी को, अगरचे कि उन्हें तो होना चाहिए था, उस पंक्ति में ही नहीं···

मगर, बच्चनजी गोपेश से कहते हैं, "मुझपर इस तरह छींटे-वींटें नहीं आया करते। मुझमें आत्म-विश्वास की इतनी कमी नहीं···रही तुम्हारे साथ ही लपेट में आने वाले तुम्हारे एक-दो मित्रों की, वे भी तुम्हें ग़लत नहीं समझेंगे। और, जहाँ तक तुम्हारा अपना सवाल है, अगर तुम्हारी अपनी आत्मा साफ़ है, तो तुम्हें किसी और की फ़िक्र नहीं करनी चाहिए। अपने पुरुषार्थ पर भरोसा रक्खो। क्यों समझते हो कि दुनिया में अब कहीं कुछ और है ही नहीं ? तुम बतलाओ, तुम्हारे लिए किसे लिखना है, किससे बात करनी है, किसके पास जाना है; मैं लिखूँगा, जाऊँगा, बात करूँगा। तुम इस तरह कातर होते हो, अभी तो मैं मरा नहीं हूँ ! ···" और, गोपेश का रुका बाँध दुगुने वेग से फूट पड़ता है···

ज़माना अपनी रफ़्तार से आगे बढ़ता है, और गोपेश को सर छुपाने को ठौर मिल ही जाता है···अन्त में वह कुछ सुस्थिर हो जाता है, और साहित्य और काव्य के फिर सहज निकट सम्पर्क में आता है। वह देखता है कि बच्चनजी के बड़े नये-नये रंग उभरकर आ रहे हैं···

'गत्यवरोध', 'गैंडे की गवेषणा,' 'शृगालासन' और न जाने क्या-क्या, जैसे कि अन्तर के आग्रह और क़लम के ईमान से बड़ा दुनिया में कहीं कुछ भी न हो।···साथ ही वे लोकधुनों और लोकगीतों को काव्य के वृत्त में खींचने लगते हैं, बड़े रस से, बड़ी लगन से, बड़े नये अन्दाज़ से और, गोपेश एक इतवार को खाना खाकर सपरिवार बैठा है कि रेडियो से एक गीत उभरता है—

कौने रंग मोतिया···
कौने रंग मुँगवा···

और, स्वर बच्चनजी का, संगत ढोले और मजीरे की ··गोपेश अपने बड़े बेटे प्रभात से कहता है, "लो भई, एक धंधा बचा था, सो बाबा ने यह भी अपना लिया"—और, वह इसी आशय का एक पत्र भी बच्चनजी को तुरन्त ही लिख देता है ··ठीक पाँचवें दिन उत्तर आता है, "तुम सबको सुख मिला, मेरा श्रम व्यर्थ नहीं गया···।"···"सुना, प्रभात साहब, यह लिखा महात्मा ने।···"

और, आल्हा की ताल 'ट्विस्ट' की लय से मिलाई जाती रहती है, और लोक-संगीत का तार काव्य की आत्मा से मिलाया जाता रहता है कि बच्चनजी एक नया हंगामा खड़ा करते नज़र आते हैं··जिस रचना में देखिए, उसीमें बुज़ुर्गी का गाना, टूटने का अहसास···

गोपेश आश्चर्य करता है कि ऐसा भी क्या; जहाँ बूढ़े बैल भी सींग तुड़ाकर बछड़ों की जमात में शामिल होने को बेकल है, जहाँ पैदा होते ही आदमी नेता हो जाता है, और जहाँ नेता होने का भ्रम होते ही लीडर, मिनिस्टर होने के लिए गुट्टियाँ बैठालने लगता है, वहाँ—

एक थे अत्ते
एक थे फत्ते···

और ऐसे ही अनगिनत माध्यमों से, जवानों को भी मात देने वाली तुर्शी और शिद्दत के धनी बच्चनजी को यह क्या हो रहा है···वैसे--

मंत्री बनने को तु···तु · आऊँ,
क्या कुत्तों ने काटा है,

वाली बात गोपेश की समझ में आती है; पर, जिस सुधी स्रष्टा को इसका अहसास है कि—

अगले वक़्तों के
कुछ गुप्त साधनाओं से
बाहर-भीतर गाँठों को खोला करते थे,
जीवन में ही मुक्त हुआ करते—
ऐसा सुनते आते हैं;
इन गाँठों से ग्रसे-कसे
हम उनके वंशज;
बहुत हुआ तो,

कविता ग्रौर ग्रकविता लिखते हैं,
श्रोताग्रों के मिलने पर ग्रललाते हैं;
नहीं,
पत्रिकाग्रों-पत्रों में छपवाते हैं।
पहले ही क्या कम थीं जो हम
ग्रहं, नाम, यश की गाँठें भी डलवाते हैं;
ग्रौर, बहुत-से
इसके भी ग्रागे जाते हैं।

उसके लिए ग्रभी काम बहुत है; ग्रौर, तब तो काम ग्रौर भी बहुत है, जब काम-काम के नाम की डुगडुगिया पूरी ताक़त से सब पीटते हैं, पर सचमुच काम करने की बात कम ही लोग सोचते हैं, सचमुच काम पर दृष्टि ही जैसे किसीकी नहीं है···

ऐसे में गोपेश बच्चनजी से कहना चाहता है, "श्रीमान्, ग्रापकी जन्म-पत्री के बीते हुए वर्षों की गिनती तो हम सब मिलकर भी घटा सकने से रहे, मगर इन वर्षों की गिनती तो ग्राप स्वयं ही बढ़ा रहे हैं ग्रौर बढ़ा सकते हैं ग्रपने मन के सार्थक सन्तोष से, ग्रपनी साहित्य ग्रौर काव्य-साधना की गंगाजी की क़सम वाली ईमानदारी से···

"बस, तो ग्राप भविष्य में भी इसी प्रकार प्रत्येक पूर्णिमा के दिन सिर पर तौलिया डालकर तेजीजी की बगल में बैठिए ग्रौर सत्यनारायण भगवान की कथा सुनिए; हर दिन सुबह टहलने जाइए तो कंधे पर ढो-ढोकर बड़े-बड़े पत्थर लाइए, उनपर स्वयं तूलिका-रंगों के सहारे ग्राकृतियाँ उभारिए, ग्रौर उनपर पंतजी की पंक्तियाँ ग्रंकित कीजिए; ग्रौर जाड़े के दिनों में नंगे पैरों ग्रपने लॉन की हरी घास पर टहलिए, ग्रौर हम लोगों से कहिए, 'भाई, मैं तो ग्रपनी इस धरती से शक्ति ग्रहण करता हूँ···' "

यानी, हर तरह बाहर-भीतर से शक्ति ग्रहण करते रहिए···ग्रापकी हम सबको ज़रूरत है, ग्रौर सख़्त ज़रूरत है···कम से कम ग्रापको लगता तो है कि—

नंगा नाचै, चोर बलैया लेय,
भैया नंगा नाचै···
···············

कम से कम ग्राप इतना कह तो सकते हैं कि --

ज़ुल्म सुना तो तुमने कानों उँगली कर ली,
भ्रष्टाचार दिखा तो ग्राँखों पट्टी धर ली,
चुप्पी साधी, खुलकर खेली गुंडागर्दी,
ग्रो गाँधी के बंदर तीनो, लाज-हया हो,
लाल करो मुँह ग्रपना-ग्रपना मार तमाचे—
नंगा नाचै, चोर बलैया लेय,
मैया नंगा नाचै।
नंगा नाचै···नगा नाचै···

तीनों अर्थों में कवि

कल्याणमल लोढ़ा

मार्क ट्वेन ने अपनी साहित्यिक उपलब्धियों पर विचार करते हुए एक बार कहा था, "मैंने ऐसा कोई असत्य नहीं लिखा, जिसपर लोग अविश्वास करें और न ऐसा सत्य ही कहा, जिसे स्वीकार किया जाए।" जब कभी मैं बच्चनजी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व के बारे में सोचता हूँ, लगता है, ये पंक्तियाँ उनपर भी पूर्णतः चरितार्थ होती हैं। व्यक्तित्व पर भी—कर्तृत्व पर भी। बच्चन के लिए इन दोनों में कहीं अन्तर नहीं है—उनका व्यक्तित्व उनका कर्तृत्व रहा है और कर्तृत्व ही उनका व्यक्तित्व। गत पच्चीस वर्षों के सम्पर्क और सान्निध्य में, मैंने जितना उन्हें भीतर और बाहर से देखा, जाना और समझा, उसका यही निष्कर्ष है। उन्होंने अपने जीवन को ही काव्य की आधार-भूमिका बनाया और अपने व्यक्ति को ही उसका आलम्बन।

उन दिनों कैशोर्य की मादकता में डूबा हुआ जीवन का हर क्षण यौवन की मस्ती, अल्हड़ता और उसके विभिन्न रंगों से भरा हुआ था। मन के अनुकूल कवि की पंक्तियाँ होंठों से हटती नहीं थीं। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के पूर्वार्ध में छायावाद अपने सम्पूर्ण काव्य-माधुर्य के साथ हिन्दी जगत् को आप्यायित किए था—प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी किशोर कंठों के गलहार थे—कॉलेज के भीतर-बाहर, यत्र-तत्र इन कवियों की पंक्तियाँ सुनने-सुनाने को मिलती थीं पर इनसे भी अधिक प्रभाव और प्रियता मिली थी बच्चन को। उनका 'तेरा हार', 'मधुशाला,' 'मधुबाला', 'मधुकलश,' के साथ-साथ 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' भी प्रकाशित हो गए थे। इन ग्रंथों की अनेक पंक्तियाँ ही नहीं, कविताएँ भी उन विद्यार्थियों को कंठस्थ थीं, जिनका हिन्दी भाषा और साहित्य से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। कवि-सम्मेलन में छात्र बच्चन की तर्ज़ पर उनकी भाव-भंगिमा से कविता सुनाना अपनी शान समझते थे—और प्रभाव का मूल-मन्त्र भी; श्रोताओं को स्तब्ध रखने का अचूक प्रयोग। अपनी सम्पूर्ण भाव-सम्पदा से बच्चन मेरे भी प्रिय कवि थे।

मैं स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए सन् १९४१ में प्रयाग गया। पहले ही दिन मेरे मित्र श्री कमल कुलश्रेष्ठ ने दूर जाते हुए एक व्यक्ति की ओर संकेत करते हुए कहा, "जानते हैं, ये ही बच्चन हैं—'मधुशाला' के कवि, विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के अध्यापक।" सुखद आश्चर्य से मैंने अपने प्रिय कवि को ताका और लगा—'यह पग-ध्वनि मेरी पहचानी'। उनकी चाल-ढाल, भाव-भंगिमा, वेश-भूषा—सब कुछ उतना ही निराला और प्रिय लगा, जितना उनका कवि और काव्य। एक दुर्निवार भरपूर

आकर्षण ! कुछ दिनों के अनन्तर मैं उनके निवास-स्थान पर जा ही पहुँचा। ढलती हुई साँझ के प्रभाविहीन सूर्य की किरणें उनके कक्ष को किसी अवसाद से भर रही थीं और मुझे लगा कि 'निशा-निमन्त्रण' के नैराश्य में डूबा हुआ 'एकान्त संगीत' गाने वाला, 'मधुशाला' और 'मधुबाला' का वह कवि आज पीला-पीला उदास-सा अस्तंगत सूर्य को निर्निमेष दृष्टि से देख रहा है ! मैं सहम गया—भीतर जाऊँ या लौट पड़ूँ। अंग्रेज़ी कवि लांगमैन की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आईं, 'पास ऑन, वीक हार्ट, लीव मी, वेयर आई लाइ गो बाइ।' आज इतने वर्षों के अनन्तर भी बच्चन की वह भाव-मुद्रा मस्तक में अविस्मरणीय बिम्ब बनकर छाई हुई है—और जब भी उसपर सोचता हूँ, न जाने क्यों मेरी आँखों में वान गाग का 'आत्म-चित्रण' वाला वह चित्र साकार हो उठता है—जिसे बनाकर स्वयं को संबोधन करते हुए वह कह उठा था, "मैं, मनुष्य, मनुष्य, केवल मनुष्य।" 'दो पल की हलचल' को सुनने-सुनाने का आकांक्षी, कलकत्ते की अनजान नगरी में आतिथेय को घर न पा, बाहर बरामदे में होलडाल पर बैठकर अस्वस्थ शरीर से भी 'इस पार प्रिये तुम हो, मधु है, उस पार न जाने क्या होगा' गाने वाला कवि, वर्तमान को, केवल वर्तमान को स्वीकारनेवाला, खैयाम के जीवन-दर्शन का समर्थक वह व्यक्ति—क्या सचमुच इतना उदास और संत्रस्त हो सकता है कि उसकी सिसृक्षा और जिजीविषा ही समाप्त-सी लगे ? पर वह सत्य था, आँखों देखा सत्य और विरोधाभास। ···तब से आज तक निराला की भाँति बच्चन भी मुझे सदैव एक विरोधाभास लगे—'पैराडॉक्स'। व्यक्तिदृष्टि से भी, कविदृष्टि से भी। पर यह विरोधाभास संतों की 'वज्रादपिकठोराणि मृदूनि कुसमादपि' कोटि का न होकर जीवन को सही और सच्चे अर्थ में भोगने वाले व्यक्ति और कवि का है। जीवन को अकृत्रिम रूप से स्वीकारने और भोगने की क्षमता, देय और प्राप्य दोनों की सहज आकांक्षा और जीवन के हर क्षण को परम अनुभूत करने की शक्ति-साहस बच्चन का व्यक्ति-सत्य ही नहीं, उनके व्यक्तित्व का प्रयोजन और उसकी अर्थवत्ता भी रहा है। उन्होंने स्वयं कहा है, "पाप हो या पुण्य हो कुछ भी नहीं मैंने किया है, आज तक आधे हृदय से," सुख या दुःख, जो भी उन्हें मिला, उसे उन्होंने पूरे हृदय से और समूची शक्ति से स्वीकार किया और उसीकी अनुभूति में डूबे रहे। 'मधुशाला' की मस्ती में भी और 'निशा-निमन्त्रण' की निराशा में भी। यदि 'मधुशाला' के दिनों में वे बिना मदिरा-सेवन के ही, सेवन ही क्यों संस्पर्श से अछूते रहकर भी, उसकी मादकता को सचेतन धरातल पर उतारने की क्षमता रखते थे, तो विषाद और वियोग के दिनों में गिरिजाघर के घंटे के स्वर और गंगापुल को भी अपनी गहरी निराशा में डुबा देने की शक्ति—आगे चलकर प्रौढ़ि के ढलते दिनों में भी उनकी यह चेतन-समग्रता (होल कांशसनेस) कम नहीं हुई। किसी महामानव के संपर्क में आकर, उसके संस्पर्श से जब वे किसी अतीन्द्रिय लोक के अनुभव में डूब गए—तो पुनर्जन्म के साथ, देह के परे, किसी अगम बोध और दिव्य सत्ता को सहज रूप से स्वीकार करने में भी कोई झिझक नहीं—कोई संकोच नहीं। उन्होंने यह निस्संकोच स्वीकार किया कि "अब मेरे सिरहाने मधुशाला नहीं—गीता रहती है।" बच्चन के व्यक्तित्व का यह वैशिष्ट्य ही मुझे सर्वाधिक प्रभावित करता आया है और यही कारण है कि कोई भी उनके सम्पर्क

में आकर उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता; यह प्रभाव भी केवल सतही नहीं, गहरा होता है। मैंने सदैव उनमें भोगे हुए सत्य की या सत्य को भोगने की स्थिति ही नहीं पाई, अपितु जीवन को जीने की भी—सिसृक्षा की, जिजीविषा की पूर्णता का भी अनुभव किया है। यह 'पूर्णता' जीवन के चढ़ाव और उतार दोनों में समान रही। उनके व्यक्तित्व और चरित्र में कहीं अंतर नहीं रहा—उनका चरित्र न कभी जड़ हुआ और न स्थिर (स्टैटिक) रहा। वह एक गतिशील प्रवाह रहा—कृति नहीं प्रक्रिया—'मैं जहाँ खड़ा था कल, उस थल पर आज नहीं, फिर इसी जगह कल मुझको पाना मुश्किल है।'

एक बार प्रयाग विश्वविद्यालय के किसी कवि-सम्मेलन में केवल दो ही कविताएँ सुनाने पर श्रोताओं की खीझ और मनुहार के बीच जब डॉ० अमरनाथ झा ने पूछा तो उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया 'ऐटमास्फ़ियर इज़ वेरी प्रोज़ेक' (वातावरण बहुत गद्यात्मक है।) इसके विपरीत एक दिन गंगानाथ झा छात्रावास के मेरे कक्ष में वे रात्रि के बारह बजे तक एकान्त में मुझे केवल कविताएँ ही सुनाते गए, तो दूसरे दिन दारागंज जाते हुए इक्के में आधा घण्टे तक एक शब्द भी न कहा, न सुना। भावविह्वलता और भावावेश का अन्तर मैंने उनके व्यक्तिगत सम्पर्क और काव्य-अनुशीलन से समझा। जेरोम ब्रीनर के अनुसार जीवन और रचना-प्रक्रिया दोनों की उनके लिए एक 'मौन-विधि' है। जहाँ उन्होंने समस्त बाह्य परिवेश को, जगत् को अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व में आत्मसात् करने की चेष्टा की है, वहाँ अपने भीतर समाहित समस्त जगत् के समस्त परिवेश के संधान का भी प्रयास किया है। यदि मैं मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग करूँ तो मैंने उनमें व्यक्तित्व के प्रति वह साधारण प्रतिरक्षात्मक प्रचेष्टा (डिफ़ेंस मेकैनिज़्म) नहीं देखी जो काव्य-प्रक्रिया में प्राय: स्वीकार की जाती है। एक घटना बताऊँ—'निशा-निमन्त्रण' की एक पंक्ति है, "···है चिता की राख कर में माँगती सिन्दूर दुनिया।" यह पंक्ति संभवत: उन्होंने अपनी प्रथम पत्नी श्यामाजी के मरणोपरान्त आए हुए पुनर्विवाह के प्रस्तावों के संदर्भ में लिखी थी। सन् '४२ में जब वे पुन:विवाहित हुए, तब इस पंक्ति को कुछ बदलकर निरालाजी ने एक प्रीतिभोज में यों लिखा, "माँग के सिंदूर से अब हो गई अनुकूल दुनिया।" निराला की इस पंक्ति को जब बच्चन ने पढ़ा या सुना तो कहा—"मैं तो वर्तमान में जीता हूँ, 'जो बीत गई, सो बात गई'" (नहीं जानता कि उनकी इस शीर्षक से प्रसिद्ध कविता का भी क्या यही स्रोत है)। बच्चन ने जीवन को सदैव इसी 'अनुकूल' भाव से देखा है या देखने की चेष्टा की है। यही कारण है कि जहाँ 'निशा-निमन्त्रण,' 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अन्तर' में निराशा, विषाद और दु:ख है, वहाँ उसी परि-पूर्णता से 'मिलन यामिनी' और 'सतरंगिनी' आदि ग्रंथों में उल्लास, संयोग और आकांक्षा का बोध। बच्चन सही अर्थ में कभी दौहार्द भाव (नॉस्टैल्जिक टेण्डेन्सीज़) से पीड़ित नहीं रहे। उनके व्यक्ति ने सदैव ही अपना 'पूर्णत्व' (टोटैलिटी आफ़ मैन) प्राप्त करने की चेष्टा की है। प्रसिद्ध चित्रकार पिकासो ने जिरोस से एक बार कहा था कि "मेरा चित्र विनाश का समग्र योग होता है। मैं चित्र बनाता हूँ और मिटा देता हूँ, पर अन्त में देखता हूँ कि कुछ भी नहीं मिटा। जिस लाल रंग को मैं समाप्त कर देता हूँ, वही अन्य स्थान पर किसी दूसरे रूप में उभर जाता है—कहीं कुछ भी खोता नहीं हूँ," ठीक यही सत्य बच्चन

के कवि और व्यक्ति के लिए भी है। मैंने सदैव यह अनुभव किया है कि उनके जीवन का प्रत्येक क्षण उसकी 'संपूर्णता' का बोध है। और इसीसे उनकी रचनात्मक समग्रता या परिपूर्णता का अधिकरण उसमें सन्निविष्ट है। 'मैं गाता हूँ इसलिए, जवानी मेरी है।' और इसीके साथ जीने की अकृत्रिम इच्छा से—जिजीविषा से जीवन भी सदैव उनका रहा - देश में भी, परदेश में भी। अकेलेपन में भी, परिवार में भी, निस्संगता में तो भीड़ और कोलाहल में भी उन्होंने जीवन के साथ 'साझा' रखा, समझौता नहीं। 'वासनामय उद्गार' जितना सहज था, उतनी ही स्वाभाविक थीं वियोग और विषाद में जागरण की रातें और पतझड़ की साँझें, जिनमें मरकत-से साथी और नीलम-से पल्लव छूट गए, तो उतनी ही सहज स्वाभाविक उनकी यह धारणा कि प्यालों की ममता से पीने वाले कच्चे हैं। उनके लिए जीवन सदैव 'आस्वादन' रहा। 'वसुधा' में रहते हुए उन्होंने देखा कि बार-बार तोड़ने पर भी पक्षी अपने नीड़ का निर्माण करने से नहीं थकता - वह उसकी स्वाभाविक जैविक और मानसिक प्रवृत्ति है, उनचास आँधियों के मध्य भी चोंच में तिनका दबाए, वह निर्माण में संलग्न है, तो जीवन का मूल स्वर विनष्टि नहीं, सृष्टि है। उन्होंने इस घटना को गीत ही नहीं, जीवन में भी उतार दिया। प्रथम पत्नी की मृत्यु पर, वैचारिक ऊहापोह और असमंजस में पड़े रहने पर, मुझे भी उन्होंने यही कविता लिखकर भेजी थी। 'उनके मरघट की ज्वाला' शांत हो गई - और 'हलाहल' नि:शेष और 'अतीत का गीत' अन-गाया रह गया।

पच्चीस वर्षों के सम्पर्क और परिचय में मैंने अपने से एक प्रश्न किया है—'क्या बच्चन के व्यक्तित्व में कहीं कोई ऐसा अचेतन या अवचेतन भी है, जो अपनी ग्रंथि या कुण्ठा से उनके व्यक्तित्व या कर्तृत्व का संचालन करता हो और उनकी रचना-प्रक्रिया में उभर-उभर कर आता हो ?' मनोवैज्ञानिक दृष्टि और मान्यता से तो होगा ही। उनके 'इड' और 'इगो' और 'सुपर इगो' में संघर्ष चलता ही होगा पर न जाने मुझे क्यों ऐसा लगता है कि उनका व्यक्तित्व अधिकांश में चेतना-सम्पन्न व्यक्ति का व्यक्तित्व है। वे चेतना के धरातल पर ही जीवन जीने में विश्वास करते हैं। जितना सचेतन उनका व्यक्ति है, उतना ही स्वत:स्फूर्त उनका काव्य भी। जीने की इच्छा के साथ-साथ उसे स्वीकारने की अद्भुत शक्ति बच्चन में है। फ्रेंच नाटककार मोलियर का एक पात्र जुर्दे यह जानकर स्तंभित रह जाता है कि जो कुछ वह कहता-बोलता आया है, वही गद्य है। बच्चन भी एक न एक दिन अवश्य ही यह जानकर स्तंभित हुए होंगे कि वे जो कुछ भी जीवन में करते, सोचते और भोगते आए हैं, वही काव्य है। रूपर्ट ब्रुक ने कवि की जो तीन श्रेणियाँ निर्धारित की थीं, बच्चन उन तीनों अर्थों में कवि हैं—कविता की है, कविता पढ़ी है और कवि का जीवन जिया है।

यहाँ एक छोटी-सी घटना याद हो आई। प्रयाग विश्वविद्यालय में उन दिनों हम लोग जोधपुर के अनेक विद्यार्थी रहते थे और अपना भोजनालय चलाते थे, जिनकी समस्त खाद्य-सामग्री, मिर्च-मसाले, पापड़ तक जोधपुर से आते थे। रसोइया तो वहाँ का था ही। एक बार मैंने बच्चनजी और कुछ मित्रों को खाने पर आमन्त्रित किया। खाने के पूर्व और पश्चात् हम लोग कहते-कहते थक गए कि वे कविता सुनाएँ पर उन्होंने एक

नहीं मानी। पहले यह कहकर टाल गए कि इस समय उनकी दृष्टि भोजन पर है—जोधपुरी 'कचौड़ियों' और कोफ़्तों पर, तो पीछे यह कहकर कि भोजन करने से उन्हें इतनी तृप्ति, स्वाद और आनन्द मिला है कि कविता कही ही नहीं जा सकती। सचमुच, उन्हें उतना ही आनन्द मिला, कारण, इस निमन्त्रण के बाद कई बार मुझे उनका अतिथि-सत्कार करना पड़ा और आज भी,जब कभी वे कलकत्ता आते हैं—उन्हें सर्वाधिक यही स्मरण रहता है। यह घटना इस बात का प्रमाण है कि बच्चन के व्यक्तित्व में जीवन को, किसी भी क्षण को भरपूर जीने की बलवती-स्पृहणीय आकांक्षा है, तो··· और यह बहुत बड़ा 'तो' है — मुझे लगता है कि जो तृप्ति और आनन्द की बात उन्होंने उस समय कही थी, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। जीवन को जीने की जिस व्यक्ति में जितनी उद्दाम आकांक्षा रहती है, उतनी ही गहरी कहीं न कहीं उसकी अतृप्ति और उसका असंतोष भी ! और यह आवश्यक नहीं कि यह असंतोष सदैव अचेतन की ही संपत्ति हो; बच्चन में पहले भी, बीच में भी और आज भी—सम्पूर्ण तृप्ति और संतोष के मध्य अवश्य ही अतृप्ति और असंतोष भी साथ-साथ विद्यमान होंगे—सब कुछ पूर्ण होने पर भी अपूर्णता का बोध (परफ़ेक्शन न्यूरोसिस),सब कुछ कहकर भी, कुछ शेष रह जाने की असमर्थता (इमोशनल न्यूरोसिस) उनमें अवश्य है— और यही बच्चन के व्यक्ति और कवि की मूलभूत आत्म-पीड़ा (ऐगनी) है। इसी दृष्टि से वे अतृप्त और आत्म-पीड़ित भी हैं (होमी द दतूर) कुछ संदर्भों में 'सिसिफ़स' ! मुझे इसका अनेक बार एहसास हुआ है -- इस 'पिपासा' का। 'दो चट्टानें' में सिसिफ़स का खण्डन अनेक संदर्भों में कवि का अपना भी है।

बात संभवत: सन् १९४७ की है। मैं कलकत्ता नया-नया ही आया था। बच्चनजी एक कवि-सम्मेलन में भाग लेने के लिए आए हुए थे। मेरे एक परिचित व्यवसायी ने इच्छा प्रकट की कि बच्चनजी उनके यहाँ प्रातःकाल की चाय लें। मैंने भी अपनी अनुभवहीनता में बच्चनजी से अनुरोध किया और सौजन्य से उन्होंने इस निमन्त्रण को स्वीकार भी कर लिया,— यह सोचकर कि कुछ समय तक साथ ही रहेंगे और फिर बाहर घूमने जाएँगे। प्रातःकाल दस-बीस व्यक्ति उपस्थित थे, जिनमें संभवतः कोई भी ऐसा नहीं था, जिसका हिन्दी साहित्य या काव्य से बहुत दूर का भी परिचय हो और सुसंस्कृत साहित्यिक अभिरुचि हो। हाँ, खाने-पीने की वस्तुएँ बहुत थीं - अच्छी भी, सुस्वादु भी। 'अनसमझ के सराहने' से जो पीड़ा उस दिन हुई थी, उसका दुःख मुझे तो आज भी है। " 'मधुशाला' और 'मधुबाला' क्या बहनें थीं ? आपको कहाँ मिलीं?' '"आप उन दिनों कितनी एक साथ पी लेते थे ?" आदि-आदि। पर बच्चन सारी बातचीत में केवल हँसते रहे — भीतर से भी, बाहर से भी। एकाध कविता भी सुनाई - नाश्ता भी ठीक ही किया - और वहाँ से सप्रेम विदा ली—पुनः आने के निमन्त्रण को अकृत्रिम भाव से स्वीकार करते हुए। और मैं, मन ही मन उबल रहा था। 'दान-दक्षिणा' के दो सौ रुपये बच्चन ने लौटाए पर मैंने उन्हें मेज़बान पर ही फेंकना चाहा। जो हो, बच्चन ने पीछे कहा, "मुझे कुछ भी ग़म नहीं - पहले ऐसे आलोचक मिले, तो आज पाठक। वे आलोचक अधीत होकर भी यही कहते-सोचते थे —ये तो बेचारे पढ़े-लिखे भी नहीं हैं।" मुझसे

कहा, "तुम्हें किस बात का दुःख है?" पर मेरे सोच और संकोच, ग्लानि और पीड़ा की सीमा ही न थी और बच्चन के लिए जैसे कहीं कुछ भी नहीं हुआ हो। तभी मुझे याद आईं अनेक घटनाएँ —अनेक कवि-सम्मेलन, पैरोडियाँ,धमकियाँ। "यदि बिहार आए तो लौट-कर नहीं जा पाएँगे।" "आज कवि-सम्मेलन में बच्चन आमन्त्रित ही न किए जाएँ"—आदि-आदि। छायावाद के उस युग में छायावाद की काव्यभूमि के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किए जाने वाला कवि, उसीकी शैली में डूबकर उसीका संपुष्ट अंग रहा हो, यह कैसी विडम्बना थी। वे अपने युग के जितने पहले थे, उतने ही आज भी हैं। युग के भीतर और बाहर। हाँ, भीतर और बाहर दोनों; जितने भीतर, उतने ही बाहर, संपृक्त और असंपृक्त! जैसा कि'एक भारतीय आत्मा' ने कहा है, "जो लोग गान गाते हैं, वे शुभ हैं, जो लोग 'जीवन का गान' गाते हैं, वे और भी शुभ हैं। किन्तु जो लोग जीवन की मार, जीवन के प्रहार-प्रलय के बीच लौकते हैं और फिर न सध सकने वाले आवेगों में गाने का प्रयास करते हैं (वे और अधिक शुभ हैं)।" बच्चन के व्यक्ति ने 'जीवन का गान' गाया है—उनके कवि ने न सध सकने वाले आवेगों का—वह इसी से अधिक शुभ है। एक दिन उन्होंने लिखा था, "वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी?" नहीं कह सकता, वृद्ध जग को उनकी जवानी अखरी थी या नहीं, पर यह निश्चय है कि आज के जवान जग को उनका वार्धक्य न खलता है और न अखरता है, क्योंकि 'साधु बनने की वृथा चेष्टा' उन्होंने कभी नहीं की और उनके व्यक्ति और कवि ने कहीं कुछ भी नहीं छिपाया, उनका छल-छद्मरहित व्यवहार ही, शत्रु और मित्र बनने-बनाने की नहीं कहता, उनके व्यक्ति-त्व की वह असाधारण विशेषता है, जिसे मैंने देखा और समझा है—पहले भी, आज भी। वे मित्रों के मित्र तो हैं ही, शत्रुओं के भी मित्र ही हैं। मुझे उनका वह अयाचित उप-कार आज भी स्मरण है, जब मुझसे ही उपकृत एक ज्येष्ठ हिन्दी अध्यापक, सात वर्ष पूर्व मेरे पथ में 'भारी-भरकम रोड़ा' बनकर बैठ गए थे और बच्चन ने मेरी सहायता कर मेरे पथ को, प्रगति को निर्बाध रखा। उनका संसार भावनाओं से सदैव भरा-पूरा रहा है। स्वप्न में ही नहीं, जीवन में भी वे न जाने कितने व्यक्तियों को स्नेह-सौजन्य से सींचते रहे हैं। टी० एल० इलियट ने चाहे कितने ही ज़ोर से कला-सृजन-प्रक्रिया में सृजनशीलता को 'व्यक्तित्व से मुक्ति' कहकर व्यक्ति और रचनाकार के व्यवधान पर बल दिया हो, पर बच्चन के व्यक्ति और कवि में मैंने कहीं दुराव या व्यवधान नहीं देखा—वे इसके सशक्त और सफल अपवाद हैं और यही उनका वैशिष्ट्य भी है। मेरी प्रतीति इसकी साक्षी है।

जैसा मैंने उन्हें पाया

विष्णुकान्त शास्त्री

मैं बच्चनजी को जितना उनके काव्य के माध्यम से जानता हूँ, उतना व्यक्तिगत रूप से नहीं। अब भी मुझे लगता है कि यदि अचानक उनसे कहीं मुलाक़ात हो जाए तो हो सकता है कि मेरे लिए भी उन्हें अपनी ये पंक्तियाँ दुहरानी पड़ें :

हाथों ने क्या बात कही थी, हाथ कहीं क्या थाम तुम्हारा,
याद-याद-सी शक्ल तुम्हारी, भूला-भूला नाम तुम्हारा।

फिर भी कई बार उनसे मिलने और जमकर बातचीत करने का मौक़ा मिला है। उनकी कविताओं के अनुरागपूर्ण अनुशीलन तथा सीमित व्यक्तिगत परिचय के द्वारा उन्हें कितना जान पाया हूँ, उसीके आधार पर उनकी षष्टिपूर्ति के अवसर पर 'अर्पित हैं, मेरे ये अँजुरी भर फूल।'

बच्चनजी को पहली बार देखा था १९४३ में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की अर्धशताब्दी जयन्ती के अवसर पर हुए विराट् कवि-सम्मेलन में। तब मैं नवम कक्षा का विद्यार्थी था। बच्चनजी की उन दिनों धूम थी। विद्यार्थी समाज में उनकी 'मधुशाला', 'मधुबाला' आदि अत्यन्त लोकप्रिय थीं। मैं भी उनकी कुछ कविताएँ पढ़-सुन चुका था। अपने प्रिय कवि के मुख से कविताएँ सुनने का लोभ ही हम लोगों को वहाँ खींच ले गया था। बच्चनजी उस कवि-सम्मेलन में बहुत जमे। उन्होंने कई कविताएँ सुनाई थीं, जिनमें 'गूँजी मदिरालय भर में लो पियो-पियो की बोली' तथा 'तुम गा दो मेरा गान अमर हो जाएँ' बहुत पसन्द की गई थीं। मेरे बड़े भाई रमाकान्तजी को यह अद्भुत शक्ति मिली है कि वे किसीसे भी एक बार कविता या गीत सुनकर बिलकुल उसी स्वर में उसको गा सकते हैं। ये दोनों कविताएँ उन्होंने याद कर लीं और प्रायः बच्चन के स्वर में ही उन्हें वे गाया करते। कॉलेज तक आते-आते मैं 'निशा-निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' भी पढ़ चुका था। फिर भी अपने व्यक्तिगत एवं पारिवारिक संस्कारों के कारण 'मधुशाला', 'मधुबाला' आदि की हालावादी कविताओं से मेरा तादात्म्य नहीं हो सका था और प्रियवियोग के शोक से कातर 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' आदि के गीतों की वेदना ने मुझे छुआ तो था किन्तु चढ़ती जवानी के अपने आशावादी, कर्मठ जीवन-दर्शन के कारण उन गीतों से समरस नहीं हो पाया था, घनतिमिर को चीर कर आनेवाली उनकी शुभ्रता की पावनकारिणी करुणा का सम्यक् अनुभव नहीं कर पाया था। १९४५ या '४६ में मुझे 'सतरंगिनी' मिली और सच कहता हूँ कि बहुत वर्षों तक वह

मेरी सर्वाधिक प्रिय कविता-पुस्तक रही। स्मरणशक्ति मुझे पिताजी (स्व० पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री) से विरासत में मिली है। मेरी यह मान्यता है कि जिस कविता से वास्तविक आनन्द मिला हो, उसे कंठस्थ कर एवं मित्रों को सुनाकर ही आंशिक रूप से कविऋण से उऋण हुआ जा सकता है। बहुत ही शीघ्र 'सतरंगिनी' की तीन-चौथाई के क़रीब कविताएँ मुझे कंठस्थ हो गई। यह क्रम आगे भी चलता रहा। 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' आदि के भी बहुत-से गीत मेरे स्मृति-कोष के अमूल्य रत्न हैं। मानवीय प्रणय-भावना का इतना सहज, इतना मांसल, इतना स्वस्थ, इतना प्राणवान चित्रण हिन्दी में विरल है। इन कविताओं को याद नहीं करना पड़ता, ये अपने-आप याद हो जाती हैं। और फिर उपयुक्त अवसरों पर अकेले में या स्नेहियों के बीच इनकी आवृत्ति करना कितना रोमांचक, कितना आनन्ददायी अनुभव है, यह कैसे बताऊँ !

हिन्दी में कभी यह परम्परा बहुत व्यापक थी कि सहृदय व्यक्ति सैकड़ों सरस कविताएँ कंठस्थ रखा करते थे और उनकी भावपूर्ण आवृत्ति करने में गौरव का अनुभव करते थे। ब्रजभाषा का 'पठंत कवि-सम्मेलन' उसी परम्परा का सुफल है। किन्तु पिछले पच्चीस-छब्बीस वर्षों के अपने अनुभवों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि खड़ीबोली में इस स्वस्थ परम्परा की दागबेल नहीं पड़ी। लोग अपनी सड़ी-गली कविताएँ सुना-सुनाकर दूसरों को बोर करने में तो अपना गौरव समझते हैं, किन्तु प्रतिष्ठित कवियों की अच्छी से अच्छी कविता का भावानुरूप पाठ करने को भी नितान्त बचकाना काम मानते हैं। सौभाग्य से बंगाल में पलने और बढ़ने के कारण मैं इस कुण्ठा का कभी शिकार नहीं हुआ, क्योंकि मैंने यहाँ देखा है कि डॉ० नीहाररंजन राय जैसे विद्वान् भी कलकत्ता विश्वविद्यालय के रवीन्द्र शतवार्षिकी जैसे समारोह में व्याख्यान देने की तुलना में रवि बाबू की कविताओं की सफल आवृत्ति कर पाने को अधिक बड़ा काम समझते हैं। फिर बंगाल में कविता को गाकर सुनाने की परम्परा नहीं है, गाए तो गान जाते हैं, कविताओं की तो आवृत्ति होती है। मेरे ऊपर भी इसका ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा है, मैं भी कविताओं को गाकर सुनाने का पक्षपाती नहीं हूँ। ईमानदारी का तकाज़ा है कि यहाँ यह भी स्वीकार कर लूँ कि भगवान ने मुझे ऐसा गला ही नहीं दिया है कि चाहकर भी गाकर कविता सुना सकूँ अन्यथा बच्चन की तरह बच्चन के गीत गा पाने के लिए मेरा मन ललचता बहुत है। जो हो, कॉलेज के दिनों में मेरा प्रिय व्यसन था कविताओं की आवृत्ति करना, अब भी इससे मुक्त नहीं हुआ हूँ, यद्यपि यह सत्य है कि अब उसमें कुछ शैथिल्य आ गया है। उन दिनों मैं जिन कविताओं की प्रायः आवृत्ति किया करता था, उनमें आधी के क़रीब बच्चन की होती थीं।

मुझे अपने इस सरस व्यसन का एक मधुर फल उस दिन मिला, जिस दिन मैंने बच्चनजी की सन्निधि में उनकी कविताओं का पाठ किया। इसी १०-७-'६७ को श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के यहाँ बच्चनजी के सम्मान में छोटी-सी गोष्ठी की गई थी। मैं भी आमन्त्रित था। जब मुझसे कुछ सुनाने के लिए कहा गया तो मैंने कहा कि मैं बच्चनजी की ही कविताएँ सुनाऊँगा। गंगाजल से गंगा की पूजा करना अपने देश की परम्परा ही है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि बच्चनजी को कविता पढ़ने का मेरा ढंग अच्छा

लगा और उन्होंने वहीं सबके सामने उसकी प्रशंसा की।

मेरी मान्यता है कि छायावादी अभिजात काव्य-चेतना का लोकीकरण मुख्यतः बच्चन, दिनकर आदि ने किया। इस निष्कर्ष पर मैं अपने व्यक्तिगत अनुभवों से पहुँचा हूँ। निराला, प्रसाद, पन्त, महादेवी, अज्ञेय आदि की कविताओं की भी आवृत्ति करता रहा हूँ। अपने श्रोताओं की प्रतिक्रियाओं से बराबर मुझे यही लगा है कि इन कवियों के बड़प्पन और इनकी कविताओं की सहज पकड़ में न आने वाली उदात्त गरिमा से वे आतंकित ही अधिक होते हैं, जब कि बच्चन की सरल, सरस कविताओं को सुनकर भाव-विभोर हो वे झूम उठते हैं। 'बच्चन को सुन कौन जन जो नहिं सिर चालन करै' इसका मैं व्यक्तिगत साक्षी हूँ। अब समझ में आता है कि ऐसा क्यों हुआ करता है। छायावादी कवियों या बाद के प्रयोगशील नये कवियों ने अपने को बराबर विशिष्ट समझा है, उनका आग्रह रहा है कि उनकी कविताओं को समझने के लिए पाठकों को उनके स्तर तक उठना चाहिए, विशिष्ट बनना चाहिए, वे भावों का साधारणीकरण नहीं विशेषीकरण करते हैं, जबकि बच्चन का अपने लिए आदर्श है :

कठिन काव्य के प्रेत न डालो मुझपर अपनी छाया,
सहज स्वभाव, सरल जीवन को मैंने ध्येय बनाया।

और अपनी कविताओं की कसौटी वे पंडितों और प्रवीणों को नहीं, गंगोजमन के बावलों को मानते रहे हैं। पण्डितम्मन्य आलोचकों से बच्चन की कभी नहीं पटी। उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए वे अपने स्वीकृत आदर्शों का बलिदान नहीं कर सकते। उन्होंने साफ़ लिखा है, "मैं तुम्हारा स्नेह, संवेदन, समादर चाहता हूँ, पर नहीं उस दाम पर जो माँगते तुम।" अपनी कविताओं के प्रति गहरा विश्वास उन्हें सामान्य जन के स्नेह से सम्पुष्ट होते रहने के कारण ही हुआ है, अतः अकारण 'टर-टर' कर दोषारोपण करने-वालों से वे पैंतरा बदलकर कह सकते हैं, "यह कमल का वास है दादुर, इसे पहचान तू सकता नहीं है।" अपने विशाल प्रशंसकवर्ग से वे कवि-सम्मेलनों के माध्यम से सीधा सम्बन्ध स्थापित करते रहे हैं, अपनी कविता एवं अपने स्वर के जादू से वे कवि-सम्मेलनों को लूट लेते रहे हैं। मैंने देखा है कि उनके आग्रह से सैकड़ों व्यक्ति लोकगीतों की धुनों पर आधारित उनके गीत उनके साथ गा सकते हैं। जनता का इतना प्रेम, इतना समर्पण हिन्दी के किसी दूसरे आधुनिक कवि को नहीं मिल सका।

और यहीं पर बच्चन के स्वभाव की एक और बड़ी बात झलकती है। इस प्रेम को पाने के लिए उन्होंने अपने कवि को कभी धोखा नहीं दिया। उन्होंने कवि-सम्मेलनों में तालियाँ पिटवाने के लिए कुछ नहीं लिखा, जो लिखा, वह अपनी भीतरी प्रेरणा से, भीतरी विवशता से। यह बात भिन्न है कि उनका हृदय लोकहृदय से एक होकर, लोक की आशा-आकांक्षा, वेदना-व्यथा को व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से उपलब्ध कर, अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्हें सर्वगत बनने की क्षमता से सम्पन्न कर, लोक को ही अर्पित करता रहा है। 'अर्पित तुमको मेरी आशा और निराशा और पिपासा' यह पंक्ति भले ही उन्होंने अपनी प्रिया को सम्बोधित कर लिखी हो, जनता पर भी उतनी ही लागू होती है। किन्तु ये रचनाएँ उनकी अपनी साँसों से विनिर्मित हैं, वाहवाही लूट लेने के सुवि-

दित नुस्खों और लटकों से नहीं। इसीलिए उनमें सस्तापन नहीं है, अनुभूत सच्चाई की विश्वसनीयता और विविध मन:स्थितियों की ताज़गी है। उनका आन्तरिक विश्वास रहा है :

भावनाओं का मधुर आधार
साँसों से विनिर्मित
गीत कवि उर का नहीं उपहार
उसकी विकलता है।

इसी कारण वे अपने को दुहराते नहीं, अपनी अत्यधिक लोकप्रिय कविताओं की शैलियों से बँधते नहीं, सुरक्षित तीर पर नहीं रुकते, उस पार की कुछ विभा इस पार लाने के लिए लहरों का निमन्त्रण स्वीकार कर अगणित पोतों को डुबाने वाली तरंगों से जूझते आगे बढ़ते चले जाते हैं। 'मैं जहाँ खड़ा था कल, उस थल पर आज नहीं, फिर इसी जगह कल मुझको पाना मुश्किल है।' की मनोवृत्ति के कारण जहाँ यह सच है कि उनकी रचनाओं में बासीपन नहीं आया है, वहीं यह भी सच है कि सभी शैलियों में उन्हें समान सिद्धि नहीं मिली है। बच्चन की सिद्ध शैलियाँ दो हैं, रुबाई और गीत। रुबाई में तो उन्होंने शैलीगत अधिक प्रयोग नहीं किए, किन्तु गीतों में उनके समान विविधता लाने वाले कवि कम ही हैं। और जब उन्होंने गीत छोड़कर मुक्त छन्द से नाता जोड़ा, तब उन्होंने बदलती हुई काव्य-चेतना को तो स्वीकारा, किन्तु ऐसी राह पर चलना शुरू किया जो शायद उनके लिए नहीं थी। उनकी ये नयी रचनाएँ लोकहृदय को उस प्रकार स्पन्दित नहीं कर सकी। जो हो, बच्चनज़ी किसी काम को अधूरे मन से नहीं करते। उनकी एक मर्मस्पर्शी पंक्ति है, "पाप हो या पुण्य हो कुछ भी नहीं मैंने किया है आज तक आधे हृदय से।" और मुक्त छन्द को भी पूरे हृदय से अपनाने के कारण ही 'दो चट्टानें' जैसी बड़ी रचना वे दे सके।

पर मैं शायद बहक रहा हूँ। यह निबन्ध बच्चनजी की कविताओं की विशेषता पर नहीं, निकटता से देखे गए व्यक्ति बच्चन पर लिखना है। शायद प्रोफ़ेसरों का सबसे बड़ा दोष यह है कि वे सिद्धान्तीकरण (थियराइज़ेशन) किए बिना नहीं रह सकते, किन्तु आप ही बताइए कि क्या व्यक्ति बच्चन और कवि बच्चन में पार्थक्य की दुर्लंघ्य दीवार खड़ी की जा सकती है? एक की चर्चा कीजिए तो दूसरा स्वरूप भी आ ही जाएगा, क्योंकि वे दोनों स्वरूप 'कहियत भिन्न न भिन्न' हैं। अत: इस स्वत:स्फूर्त विवेचना को श्री अजितकुमार अप्रासंगिक क़रार नहीं दे सकते। लीजिए, अब मैं आत्म-समर्थन करने लग गया। कबीर ने ठीक ही कहा है, 'माया महा ठगिनि हम जानी, तिरगुन पास लिये कर डोले ...' नहीं, नहीं, अब मैं और पाशों में नहीं फँसूँगा, सीधे अपने विषय पर आऊँगा अर्थात् व्यक्ति बच्चन की कुछ ऐसी झाँकियाँ प्रस्तुत करूँगा, जिनका मैं साक्षी हूँ।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से बच्चनजी का सम्बन्ध दुहरा रहा है। विभाग के पुराने अध्यक्ष स्व० आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल बच्चनजी के अध्यापक रहे हैं और वर्तमान अध्यक्ष श्री कल्याणमल लोढ़ा उनके शिष्य। अत: स्वाभाविक था

कि कलकत्ता आने पर बच्चनजी सुकुलजी से मिलने बंगीय हिन्दी परिषद् आते या लोढ़ाजी उनसे मिलने जाते। ऐसे बहुत-से अवसरों पर सुकुलजी और लोढ़ाजी दोनों का स्नेहभाजन तथा बच्चनजी की कविताओं का अनुरागी होने के कारण मैं भी उपस्थित रहा हूँ एवं इन अन्तरंग गोष्ठियों में बच्चनजी से जमकर बातचीत करने का सुयोग पाता रहा हूँ। कलकत्ते में बच्चनजी जिन कवि-सम्मेलनों या साहित्य-गोष्ठियों में भाग लेने के लिए आते रहे हैं, उनमें प्राय: मैं भी सम्मिलित होता रहा हूँ। अत: मेरे अनुभव इसी परिधि के भीतर के हैं, किन्तु मुझे इस बात का हर्ष है कि इन मुलाक़ातों में 'मेरी सीमित भाग्यपरिधि को और करो मत छोटी' कहने का प्रसंग कभी नहीं आया, बच्चनजी ने बराबर अकुंठ भाव से मुझे अपना स्नेह दिया।

जो घटना सबसे पहले दिमाग़ में आ रही है, वह '५९-'६० की होगी। कलकत्ते के एक बड़े कवि-सम्मेलन में नीरजजी और बच्चनजी दोनों पधारे थे। नीरजजी ने कविता-पाठ करते समय भूमिका बाँधते हुए कहा, "अब मैं बूढ़ा हो चला हूँ, मृत्यु की छाया का क्षीण आभास होता रहता है, इसी मनोदशा की कविता सुनिए, 'एक पाँव चल रहा अलग-अलग और दूसरा किसीके साथ है'।" नीरजजी के बाद बच्चनजी की बारी थी। उन्होंने छूटते ही कहा, "यदि नीरजजी बूढ़े हो चले हैं तो मैं तो क़ब्र से बोल रहा हूँ।" जनता ठहाका मारकर हँस पड़ी। बच्चनजी ने उस दिन पहली कविता सुनाई 'मैं गाता हूँ इसलिए जवानी मेरी है।'

'आरती और अंगारे' के प्रकाशन के बाद बच्चनजी कलकत्ता पधारे थे। मैंने उनसे कहा, "आपने कुछ आरतियाँ तो सहज भाव से उतारी हैं: किन्तु एक में कुछ वक्रता है।" उन्होंने पूछा, "किसमें ?" मैंने कहा, "उसमें आपकी एक कविता है, 'गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है', क्या इसमें धर्मवीर भारती पर कटाक्ष नहीं है ? 'ठंडा लोहा' तो उन्हींका कविता-संग्रह है।" बच्चनजी मुस्करा उठे, बोले, "नहीं, नहीं, उस पंक्ति को लिखते समय मेरे दिमाग़ में भारती नहीं थे। वस्तुत: उस समय मैं कैम्ब्रिज में अपने अनुसन्धान-कार्य के सिलसिले में पुस्तकों और अपने लिखे हुए नोटों में उलझा हुआ था। किसीका निमंत्रण था। 'जाऊँ कि न जाऊँ' का हल्का-सा द्वन्द्व उठा ही था कि वह पंक्ति अनायास उभरी। उसमें स्नेहियों का भावोष्ण सम्पर्क ही गर्म लोहा है और निर्जीव छापे के अक्षरों से जूझना ही ठंडा लोहा पीटना है।"

सम्भवत: '५९ में 'कल्याण' में एक गीत पढ़ा, 'काम जो तुमने कराया कर गया, जो कुछ कहाया कह गया।' मैंने आँखें मलीं और फिर देखा बच्चन और 'कल्याण' में। किन्तु गीतकार का नाम साफ़ छपा था, डॉ० हरिवंशराय बच्चन, एम० ए०, पी-एच० डी०। उसके बाद 'त्रिभंगिमा' पढने को मिली। 'कल्याण' में प्रकाशित उक्त गीत के अतिरिक्त उसके कुछ गीत हैं, 'तुम प्रतीक्षा में हमेशा से खड़े थे और मैंने ही न देखा', 'इस तुम्हारी मौन यात्रा में मुखर मैं भी तुम्हारे साथ', 'अब तुमको अर्पित करने को मेरे पास बचा ही क्या है !' मेरे आस्तिक मन को बहुत अच्छा लगा। किन्तु मुझे बड़ा कौतूहल भी हुआ। मन्दिर-मस्जिद के ऊपर मधुशाला को वरीयता देने वाले, प्रार्थना में झुकी गर्दन, बँधे हाथ, नत लोचन देखकर 'यह मनुष्य का चित्र नहीं है, पशु का है रे कायर, प्रार्थना मत

कर, मत कर, मत कर।' लिखनेवाले विद्रोही बच्चन यह क्या लिख रहे हैं, क्यों लिख रहे हैं, ये प्रश्न मेरे मन को मथने लगे। सौभाग्य से उसीके कुछ दिनों बाद बच्चनजी कलकत्ते आए। श्री कल्याणमल लोढ़ा के साथ उनसे मिलने गया। यथासमय मैंने अपनी जिज्ञासा उनके सामने रखी। वे गंभीर हो गए, कुछ देर चुप रहे, फिर बोले, "अपने अनुभवों को क्या करूँ ? आपने मुझे विद्रोही कहा है, आप समझ लीजिए, परम्परा से विद्रोह करने वाला बच्चन अविश्वास से भी विद्रोह कर बैठा।" और फिर खोद-खोदकर पूछे जाने पर उन्होंने बताया कि वे गोरखपुर में काष्ठमौनी बाबा से कैसे मिले, बाबा से यह पूछने पर कि क्या पूर्वजन्म, पुनर्जन्म होता है, बाबा ने किस प्रकार उनके दोनों हाथ पकड़ लिए और उन्हें लगने लगा कि जैसे भीतर उथल-पुथल मच गई हो, जैसे भूत, वर्तमान, भविष्य की सीमाएँ अर्थहीन लगने लगी हों, जैसे बहुत-सी स्मृतियाँ (संभवत: बहुत-से जन्मों की स्मृतियाँ) जाग रही हों और तब पूर्वजन्म, पुनर्जन्म आदि को न मानना उनके लिए असम्भव हो गया आदि-आदि। मुझे याद आया, बच्चन ने लिखा है, "जो कहा, वही मन के भीतर से उबल चला।" मन के भीतर से उबलने के कारण ही बच्चन ने वे गीत लिखे होंगे, इसमें मुझे सन्देह नहीं है। मैं बच्चनजी को भाग्यशाली मानता हूँ कि अपने भीतरी आस्तिक संस्कारों के ऊपर जीवन की कटुता और भौतिकतावादी बौद्धिकता के कारण पड़े आवरण को नष्ट कर पाने में वे प्रभुकृपा से समर्थ हुए हैं।

बच्चनजी से मिलने-जुलने का सुयोग मुझे १९५५ के बाद ही अधिक मिला। तब तक वे प्रौढ़ हो चुके थे। 'मेरी तो हर साँस मुखर है' लिखने वाले कवि को बातचीत में मैंने संयत, गम्भीर और अल्पभाषी पाया। अपनी बात मनवा लेने का आग्रह उनमें नहीं है। दूसरा अपना मत रखे तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु उसके सम्बन्ध में अपनी राय बिना लाग-लपेट के वे प्रकट कर सकते हैं। शिष्टाचार के नाते या किसी अन्य दबाव के कारण अपनी बात को दूसरे के मनोनुकूल बनाकर कहना संभवत: उनके स्वभाव में नहीं है। मुझे याद है कि सुकुलजी से बातचीत करते समय इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अंग्रेज़ी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री शिवाधार पाण्डेय के जनसंघ की सदस्यता स्वीकार कर लेने पर, यह जानते हुए भी कि सुकुलजी के मन में भी जनसंघ के प्रति स्नेह-सद्भाव है, उन्होंने अपना मर्यादित क्षोभ प्रकट किया था।

अपने काव्य के प्रति दी गई रायों को वे सुन लेते हैं, किन्तु मुझे लगता है कि वे उनको अधिक महत्त्व नहीं देते। जब 'गीता' का अनुवाद उन्होंने अवधी में दोहे-चौपाइयों में किया, तब भी और जब उन्होंने मुक्त छन्द में, खड़ीबोली में किया, तब भी मैंने यह मत प्रकट किया था कि बच्चनजी की अनूदित 'गीता' जनता द्वारा 'सुगीता' होगी, इसमें सन्देह है। मेरा कहना था कि अनुवाद खड़ीबोली में और रुबाई छन्द में होता तो बच्चनजी के अनुवाद को अधिक सफलता एवं लोकस्वीकृति प्राप्त होती। दोनों बार एक दबी-सी मुस्कराहट से बच्चनजी ने इस प्रसंग को समाप्त कर दिया।

अपनी कविताओं के अनुरूप ही अपने व्याख्यानों से भी बच्चनजी अपने श्रोताओं को आतंकित नहीं करते, आश्वस्त करते हैं, परिश्रान्त नहीं करते, परिगृहीत करते हैं। शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली का यथासम्भव सहारा न लेते हुए, अपनी बात कहना

चाहते हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में 'अपनी रचना प्रक्रिया' पर बोलते समय, पहले तो उन्होंने अपना 'ट्रेड सीक्रेट' बताने से इन्कार कर विद्यार्थियों को गुदगुदा दिया और फिर बहुत ही आत्मीयता के साथ जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों, संकल्पों, स्वप्नों या आकांक्षाओं द्वारा संस्कारों और विचारों के अनुरूप किसी अपरिभाषेय, अनिर्वचनीय प्रेरणा-क्षण में कलाकृति का रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया का आत्म-प्रमाण-युक्त सरस विवेचन किया। मुझे लगा कि निश्चय ही प्राध्यापक के रूप में भी वे बहुत सफल रहे होंगे।

बच्चनजी के एक और गुण की साखी देना चाहूँगा। अपने से छोटों को प्रोत्साहित करने में वे कितनी उदारता बरतते हैं, इसका मुझे व्यक्तिगत अनुभव है। मेरा निबन्ध-संकलन 'कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबन्ध' १९६३ में प्रकाशित हुआ था। उस समय मुझे अत्यन्त सुखद आश्चर्य हुआ, जब मेरे प्रकाशक ने मेरे पास बच्चनजी की सम्मति की प्रतिलिपि भेजी, जिसमें उक्त पुस्तक की पर्याप्त प्रशंसा करते हुए उन्होंने कुछ अत्यन्त उपयोगी सुझाव भी दिए थे। अपने कुछ अन्य मित्रों के ऐसे अनुभवों से भी मैं परिचित हूँ। सम्भावनापूर्ण नये लेखकों की रचनाओं का स्वागत वे मुक्त हृदय से करते हैं।

हिन्दी का यह चिर युवा कवि 'साठा सो पाठा' की पुरानी लोकोक्ति को सत्य सिद्ध कर 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' की औपनिषदिक भावना के अनुसार हिन्दी साहित्य को अपनी कृतियों द्वारा समृद्ध करता हुआ शतायु हो, भगवान से मेरी यही प्रार्थना है।

कवि के साथ घर की एक सुबह

डॉ० बच्चन सिंह

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का स्वर्ण जयन्ती-समारोह। १५ फ़रवरी '६७ को कवि-सम्मेलन का आयोजन। बच्चनजी विशिष्ट अतिथि थे। उन्हें अतिथि-भवन में ठहराने का प्रबन्ध किया गया था। एक सज्जन ने उनसे अत्यधिक आग्रह किया कि वे अतिथि-भवन में ही ठहरें, किन्तु मुग़लसराय स्टेशन पर उन्होंने मेरी ओर देखते हुए कहा कि "आपको कष्ट न हो तो आपके साथ ठहरना पसन्द करूँगा।" मुझे बेहद प्रसन्नता हुई।

कवि-सम्मेलन से लौटकर हम लोग २ बजे रात सोए। मुझे क्या पता कि वे सुबह ५ बजे ही उठ जाएँगे। दो घंटे में स्नानादि से निवृत्त होकर वे खाने की टेबल पर डट गए। बिना तकल्लुफ़ बोले, "अब नाश्ता चाहिए।" उन्होंने पापड़ का एक टुकड़ा उठाया ही था कि मेरे मुख से प्रश्न फिसल गया।

प्रश्न—बच्चनजी, आपने हिन्दी के मुहावरे को बदला है, इसमें दो मत नहीं हैं। जीवन के किस नये यथार्थ अथवा नये युगबोध को व्यक्त करने के लिए आपको यह ज़रूरत महसूस हुई ?

उनकी मुद्रा गम्भीर हो गई। चेहरे पर तनाव आ गया। उन्होंने कहा, "क्या आप इंटरव्यू ले रहे हैं ?" मैंने शांतिपूर्ण लहजे में कहा, "नहीं, यह साहित्यिक गपशप है।" लेकिन बात गंभीर हो गई।

उत्तर—भाषा दो तरह से प्राप्त होती है —परम्परा से और समाज से। परंपरा की भाषा अर्जित की जाती है। तत्कालीन समाज से वह सहज में ही प्राप्त होती है। किन्तु भाषा का नवनिर्माण वैयक्तिकता से होता है। अपनी वैयक्तिकता (इनडिविज्वैलिटी) से मैंने भाषा को अन्वेषित किया है। कबीर ने लिखा है—'कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ, जो घर जारै आपना चलै हमारे साथ।' यह भाषा रोज़मर्रा की भाषा है; लेकिन इसे कबीर ने अन्वेषित किया है। इसमें उनके जीवन की प्रखर अनुभूति व्यक्त हुई है। तुलसी के मानस और केशव की रामचन्द्रिका की भाषा अन्वेषित नहीं है। मैंने जो कुछ जिया है, जो कुछ 'रिऐक्ट' किया है, उसीको अभिव्यक्त किया है। इसके लिए भाषा को अन्वेषित करना ज़रूरी था।

पापड़ का टुकड़ा अभी ज्यों का त्यों पड़ा था। वे तैश में आते जा रहे थे। श्रीमतीजी ने देखा कि उनका सारा आयोजन व्यर्थ होने वाला है। वे डाइनिंग टेबल के पास खड़ी हो गईं। बच्चनजी की प्रखरता में कमी आई। वे बोलीं, "आप लोग नाश्ता कर लें

तो बहस शुरू करें।" उनकी आज्ञा टालना मुश्किल था। हम लोग नाश्ते पर जुट गए। वे हमारी आदत से वाक़िफ़ थीं। वे एक कुर्सी पर बैठ गईं और चाय पीने लगीं। लेकिन हम लोगों को चाय तक आने में अभी देर थी, क्योंकि अभी दूसरे सामानों के साथ इन्साफ़ करना बाक़ी था। उन्हें किसी काम से घर में जाना पड़ा। मैदान ख़ाली देखकर हम लोग फिर भिड़ गए। मैंने पूछा :

प्रश्न—लेकिन आपने यह नहीं बतलाया कि किस यथार्थ के लिए आपने भाषा को अन्वेषित किया ?

उनके नाश्ते की प्रक्रिया में अर्धविराम लग गया।

उत्तर—मैंने मध्यकालीनता (मेडिविलिज़्म) के विरुद्ध विद्रोह किया है। यह विद्रोह नई भाषा में ही व्यक्त हो सकता था। मेरे युग की सबसे बड़ी प्रेरणा आज़ादी थी। दबे समाज में राजनीतिक स्तर पर संघर्ष आरम्भ हुआ। व्यक्ति को मध्यकालीन ज़ंजीरें बाँधे हुए थीं। मैं उन्हें तोड़ने के लिए बेचैन था। जाति-पाँति, छुआ-छूत आदि का मैं सख़्त विरोधी था। मेरी सबसे बड़ी आकांक्षा थी—मुक्त जीवन। रूढ़िग्रस्त नैतिक बन्धनों को भी मैंने अपने जीवन में तोड़ा। मेरे घर की ऐसी कोई परम्परा नहीं थी, जिसे मैंने न तोड़ा हो।

मेरी छोटी लड़की आशा ने अभिभावक के टोन में कहा, "चाचाजी, चाय ठंडी हो जाएगी।" उन्हें लगा कि हाँ चाय भी पीनी ही है। उन्होंने गम्भीर मुद्रा में ही कहा, "मैं क्या करूँ ? तुम्हारे पिताजी नहीं चाहते कि जमकर नाश्ता करूँ।" हँसी से वातावरण सहज हो उठा। उन्होंने सहज भाव से कहा कि "मैं चाय की जगह दूध लूंगा।" उनकी इस बेतकल्लुफ़ी का घर पर बड़ा ही मोहक प्रभाव पड़ा। अब हमारी वार्ता में कोई अवरोध नहीं था।

प्रश्न निराला ने भी सभी तरह से विद्रोह किया है। उनके विद्रोह और आपके विद्रोह में क्या अन्तर है ?

उत्तर—निराला का विद्रोह उनकी अपनी नियति (डेस्टिनी) से ज़्यादा है। उनकी नियति देश और समाज की नियति नहीं थी।

प्रश्न खेद है कि मैं आपसे सहमत नहीं हूँ। उनकी नियति (डेस्टिनी) पूरे युग की नियति थी, बुद्धिजीवी की नियति थी।

उत्तर—निराला का संघर्ष आंतरिक है। उनका व्यक्तित्व असाधारण है, जटिलताओं का पुँज है। मैं अपने को साधारण व्यक्ति समझता हूँ। निराला से तादात्म्य स्थापित करने के लिए असाधारण बनना पड़ेगा। वे अपनी जटिलताओं की सृष्टि हैं।

प्रश्न—निराला और पन्त ने भाषा को क्या दिया है ?

उत्तर—निराला की वैयक्तिकता ने भाषा का अन्वेषण किया है, विशेषकर ऐसे स्थानों पर जहाँ उन्होंने लिखा है, 'धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध, धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध !' निराला लखनऊ में भाषा सीखने के लिए आए। वे होटल में रहते थे। लखनऊ का इतना प्रभाव पड़ा कि ग़ज़ल लिखने लगे। पंत की भाषा का निर्माण कालाकाँकर के प्रवास में रुक गया। वे तीस वर्ष की उम्र में काला-

काँकर गए थे। अवधी वे समझ नहीं सकते थे। इसलिए, जनभाषा से हटकर सुसंस्कृत भाषा का अभ्यास करने लगे।

एक मज़ेदार बात बताऊँ। पन्तजी से एक दिन मैंने मज़ाक में कहा कि आप आप्टे का कोश मुझे दे दीजिए। उन्होंने उत्तर दिया कि उसे तो मैं तकिये के नीचे रखकर सोता हूँ (बच्चनजी ने कहा—इसे लिखिएगा नहीं)। फिर भी उन्होंने परम्परा से प्राप्त भाषा का अच्छा संकार किया है। भाषा के सम्बन्ध में उनकी यही देन है।

प्रश्न—अच्छा, यह बताइए कि आपकी 'मधुशाला' इतनी लोकप्रिय क्यों है? कल कवि-सम्मेलन में उसे सुनने की बड़ी गहरी माँग थी।

उत्तर—सन् १९३३ में, इसी विश्वविद्यालय के शिवाजी हॉल में मैंने उसे पहले पहल सुनाया था। तब वह छपी नहीं थी। लोग पूरी की पूरी लिख ले गए। अब तक उसे १० लाख व्यक्तियों ने सुना होगा। उसकी पाँच लाख प्रतियाँ बिकी होंगी, दो लाख पर रॉयल्टी मिल चुकी है। वास्तव में उसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण यह है कि उससे लोगों की गाँठें खुलती हैं।

प्रश्न—मुझे ताज्जुब है कि आपने 'बंगाल का काल' क्यों लिखा। आप जिन संवेदनाओं के जीने और भोगने की बात करते हैं, वे उसमें नहीं मिलतीं। वह आपकी रद्दी रचना है।

उत्तर—आप अजीब आदमी हैं। उसे मैं अपनी 'पावरफ़ुल' रचना मानता हूँ। वह हिन्दी कविता की पहली पुस्तक है, जो बँगला में अनूदित हुई है, बंगालियों ने उसकी काफ़ी प्रशंसा की है।

मैं सोचने लगा बँगला में अनूदित होना उसकी शक्ति का प्रमाण-पत्र नहीं है।

प्रयोगवाद के सम्बन्ध में कुछ चर्चा हुई थी कि एक देवीजी आ गईं—बच्चनजी की परिचित। साहित्य को छोड़कर घर-द्वार की बतकही होने लगी। पर यह कब तक चलती। उनके जानेके बाद एक दूसरे सज्जन आ धमके। उन्हें मैंने आदरपूर्वक ड्राइंग रूम में बिठा दिया। 'धर्मयुग' की प्रति उनकी ओर सरकाकर मैं ख़ुद सरक गया। बात का सिलसिला टूट चुका था।

प्रश्न—मुझे याद नहीं कि प्रयोगवाद के बारे में मैं क्या कह रहा था! शायद आप प्रयोगवाद को साहित्य का प्रयोग मानते हैं, जीवन का नहीं।

उत्तर—जी हाँ, प्रयोग करने से भी जीवन बदल सकता है पर उसमें शक्ति (वाइटैलिटी) नहीं आती।

प्रश्न—प्रयोगवादी कविता ने भाषा को क्या दिया है?

उत्तर—प्रयोगवादी कविता की भाषा का तख़मीना लगाना मुश्किल है। नये प्रयोगवादियों में विद्रोह नहीं है। वहाँ जीवन की कमी है। प्रसन्नता नहीं है। सर्वेश्वर, धर्मवीर भारती, कुँवरनारायण, और किसी हद तक शंभुनाथसिंह की कविता में ज़िन्दगी मिलती है। इसलिए उनकी भाषा में भी नवीनता है।

प्रश्न—लेकिन जब जीवन में प्रसन्नता नहीं है, आस्था नहीं है तो कविता में कहाँ से आएगी?

उत्तर — आप अपने में अनास्था लाइए, उसे पचाइए। यह अप्रसन्नता उधार ली हुई है, अपने परिवेश में नहीं उगती है। आज का नयापन दूसरों से लिया गया है। इसे मैं आधुनिक होने के लिए एक संघर्ष मान सकता हूँ। किन्तु देखता हूँ कि यहाँ पर तो काफ़्का, सार्त्र, कामू 'कोटेड' हैं। नया कवि एकदम 'जंप' करके पश्चिम के समकक्ष बैठना चाहता है। इस तरह वह सहज स्तर न पाकर बनावटी स्तर पर जा खड़ा होता है।

प्रश्न — मतलब यह कि आज की आधुनिकता परम्परा से कटी हुई है, वह नक़ल है। यही न ?

उत्तर—इसे मैं एक सीढ़ी मान सकता हूँ। लेकिन नक़ल मात्र से आधुनिक नहीं बना जा सकता। अमरीकी व्यक्तित्व विघटित है। वहाँ व्यक्ति मशीन का अंग है। अपनी परम्परा को खोकर उनके मेल में कविता करना असफलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमारा राजनीतिक चिन्तन ह्रासोन्मुखी है। एक समय हमारा नेतृत्व रामकृष्ण, रामतीर्थ, विवेकानन्द के हाथ में था, अब वह राजनीतिज्ञों के हाथ में है। विनोबा भावे को कोई नहीं पूछता। राजनीतिक ज़िन्दगी में जो बीमारी आई है, उसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा है। आज के साहित्यिक आन्दोलनों के पीछे राजनीति का विकार है। राष्ट्र पूँजीपति से डरता है। पूँजीपति बुद्धिजीवी को अनैतिक बनाता है, उसे गिराता है। इन सबके पीछे बुर्जुआ लोगों का ख़तरनाक षड्यन्त्र है। 'ज्ञानोदय' में क्या छपता है ? फ्रस्ट्रेशन की कविताएँ।

प्रश्न—और अकविता ?

उत्तर—हर पीढ़ी अपनी लघुता में अपने को 'एसर्ट' करना चाहती है। यह पीढ़ी अकविता के माध्यम से कविता भी ढूँढती है। इस प्रतिमान से तो मेरी कविता अकविता है, क्योंकि यह पीढ़ी अपनी अकविता को कविता कहती है।

उन्होंने घड़ी देखी और कहा—"यार समय हो गया और तुम्हारी गाड़ी नहीं आई।"

•

गम्भीर या विनोदप्रिय

सुरक्षा मायर

एक दिन कॉलेज में मेरे साथ पढ़ाने वाली हिंदी की एक अध्यापिका ने, जो बच्चनजी की कविताओं की बहुत प्रशंसा करती हैं, एक प्रश्न पूछा, "क्या बच्चनजी घर में कभी हँसी-मज़ाक में भाग लेते हैं या कि वहाँ भी शान्त और गम्भीर ही रहते हैं ?"

सहसा मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह प्रश्न एक का न होकर सभी बच्चन-प्रेमियों का है। यहाँ मैं कुछ एक अन्तरंग संस्मरण प्रस्तुत कर रही रही हूँ जो अपने आप इस प्रश्न का उत्तर दे देंगे।

भोजनवादी कवि

प्रत्येक कवि की रचनाओं को किसी एक 'वाद' विशेष के साथ गठबन्धन करने की प्रचलित प्रथा है। इसीसे, जब बच्चनजी ने 'मधुशाला' लिखी तो कविता-पारखियों तथा साहित्यकारों ने चट से उनको 'हालावादी' कवि का विशेषण दे दिया। कुछ समय के पश्चात् 'निशा-निमन्त्रण' प्रकाशित हुई तो बेचारे पारखी वर्ग के सदस्य कविता के इस नये मोड़ को देख सोच में पड़ गए कि कविवर बच्चन को अब किस 'वाद' से सुशोभित करना चाहिए। उत्तर मिल गया और बच्चनजी 'निराशावादी' कवि घोषित कर दिए गए। तभी 'सतरंगिनी' ने सात रंगों का इन्द्रजाल फैलाया तो साहित्यकारों को झख मारकर बच्चनजी का 'आशावादी' कवि कहकर सत्कार करना पड़ा। 'मिलन यामिनी' के गीत पढ़कर कविता-पारखियों ने चैन का साँस लिया किं अब बच्चनजी अपना 'वाद' नहीं बदलेंगे। परन्तु मेरा निम्नलिखित विवरण बता देगा कि उन सबकी धारणा और उनका ज्ञान अभी तक अधूरा था।

बात इलाहाबाद की है। सन् तो ठीक से याद नहीं पड़ता परन्तु इतना पता है कि छुट्टियाँ थीं और हम चार बहनें तेजी बहन (श्रीमती बच्चन) के पास गई हुई थीं। घर में ख़ूब हंसी-मज़ाक चलता रहता। एक तो पाँच बहनें इकट्ठी, ऊपर से पंजाबिनें। भला मुँह पर काबू कैसे रहता ! दिन भर गाना, बजाना, खाना और हँसी-ठिठोली करना। बच्चनजी भी इस छूत की बीमारी के शिकार हो ही जाते थे। अन्तर था तो केवल हँसने के अन्दाज़ में। जहाँ एक और हम ठेठ पंजाबी लहजे में स्वच्छन्द हँसी हँसतीं, बच्चनजी शालीनतापूर्ण यूपियाना अन्दाज़ से होंठ दबाकर मुस्कराते रहते।

एक दिन सब नाश्ता करने बैठे थे। मेज़ पर चाय के साथ महाराज गरम-गरम पकौड़ियाँ ला रहा था। उस समय प्लेट में केवल पाँच पकौड़ियाँ ही थीं। बच्चनजी ने

प्लेट उठाकर प्रिय बहन (पूरा नाम प्रियदर्शी है, परन्तु घर में केवल 'प्रिय' कहकर पुकारते हैं) की ओर बढ़ाते हुए कहा :

"प्रिये पकौड़ी पाइए
पड़ीं प्लेट में पाँच
तेल कढ़ी विधि से गढ़ी
चड़ी कढ़ाई आँच ।"

तो यही है बच्चनजी के उस 'वाद' का उदाहरण, जिसे मेरी ज्ञान-शक्ति ने 'भोजनवाद' की संज्ञा दे डाली थी ।

पंजाबी बालमा

तेजी बहन ढेरों-ढेर हिन्दी बोलती-बोलती कभी थक जाती हैं तो मुँह की थकावट दूर करने के लिए पंजाबी गीत उनकी सहायता को आता है । अनायास उनके मुँह से गीत के स्वर फूटने लगते हैं (गाती वे बहुत सुन्दर हैं) । उस दिन वे गोल कमरे में फूल सजा रही थीं और खूब जोश से यह गीत गा रही थीं :

"राह तकाँ मैं तेरी कोठे चढ़ के,
आजा मेरे बालमा बहाना करके ।"

पास में बैठी मैं पत्रिका के पन्ने पलटती हुई गीत में साथ देने की सोच ही रही थी कि 'स्टडी' (बच्चनजी का पुस्तकालय) का किवाड़ खोल बच्चनजी बाहर आ छूटते ही बोले, "तेजी ! बहाना बनाने की क्या आवश्यकता है, लो मैं यूँ ही आ गया ।"

बूथा उर्फ़ कामदेव का मुखड़ा

बात फिर छुट्टियों के दिनों की, जब हम फिर दलबल सहित बच्चनजी के यहाँ थीं । उन दिनों वे कोई कविता-पुस्तक लिख रहे थे इसलिए प्राय: सोच में ही रहते थे । साथ निभाने के विचार से खाने की मेज़ पर आते अवश्य परन्तु चेहरे पर का भाव यह स्पष्ट बताता कि मन उनका लिखने की मेज़ पर रखे पन्नों में भटक रहा है, जहाँ किसी नयी कविता की रचना हो रही है । इसीलिए हम सब भी खाते समय अधिकतर फुस-फुसाहट में ही बात करते ।

एक दिन तेजी बहन से रहा नहीं गया और बोलीं, "बच्चन, यह क्या तुम बूथा बनाकर बैठ जाते हो ।" (पंजाब में चेहरे को 'बूथा' चिढ़ में कहा जाता है) । बच्चनजी ने तत्काल उत्तर दिया, "हाँ, यही 'बूथा' शादी से पहले कामदेव का मुखड़ा था, अब बूथा बन गया है ।"

लाख रोकने पर भी हम सबकी हँसी इस क़दर छूटी कि तब तक की सारी कमी पूरी हो गई और इसके प्रभाव से बूथा भी एक बार फिर कामदेव का सुन्दर मुखड़ा बन गया ।

चोबदार बच्चन

कुछ दिन हुए मेरी छह वर्षीय छोटी बेटी अन्नु अपनी एक सहेली के संग जानवरों की तस्वीरों की एक पुस्तक देख रही थी कि अकस्मात् वह शेर के चित्र पर रुक गई। फिर जैसे कुछ याद आ रहा हो—एकदम आँखें चमका उसने सहेली को बताया कि दिल्ली (वह १३ विलिंग्डन क्रेसेंट को दिल्ली कहती है) में उसके एक बच्चन मौसा रहते हैं, जिन्हें शेर की बोली आती है। शेर उनके बुलाने पर बात सुनने पास आ जाता है।

नन्ही सहेली ने भी दिल्ली-ज्ञान का परिचय देते हुए शान बघारी कि दिल्ली में उसके एक फूफा हैं जो वहाँ के राजा हैं। खूब बड़ी कोठी है और बड़ी कार है।

भला अन्नु कब हार माननेवाली थी। चट से बोली, "हमारे मौसा तुम्हारे फूफा से बड़े हैं। वे हमारी मौसी के 'चोबदार' हैं।"

'चोबदार' शब्द उसने कुछ इस ढंग से कहा कि उसकी इस अनोखी कल्पना पर क्रोध के साथ हँसी भी निकल गई। मेरे डाँट बताने पर उसने रुआँसी आवाज़ में उस चिड़ियाघर की सैर की बात बताई, जब मौसाजी ने अपने को चोबदार कहा था और शेर को भी पास बुलाया था।

बात सुनते ही मुझे भी वह सैर याद हो आई, जहाँ बच्चनजी ने अपने नाम के अर्थ को पूर्णरूपेण सार्थक किया था। यहाँ पर सैर का पूरा ब्यौरा देना तो सम्भव नहीं, परन्तु ऊपर लिखित दोनों बातों की ही कहानी कहूँगी।

जो बच्चनजी सिनेमा घर में बिताए तीन घण्टों को समय का दुरुपयोग मानते हैं, वही सर्कस या चिड़ियाघर में बिताए समय को समय का सदुपयोग समझते हैं—वह भी जब बच्चे साथ हों।

पिछले से पिछले दिसम्बर की छुट्टियों में अपनी दोनों बेटियों के साथ उनके यहाँ थी। बच्चों के अनुरोध पर एक दिन हमने चिड़ियाघर देखने का कार्यक्रम बनाया। बच्चनजी उन दिनों कुछ लिख रहे थे तो हमने उनसे पूछा भी नहीं कि वे चलेंगे। प्रसन्नता-मिश्रित आश्चर्य तो हमें तब हुआ जब अचकन पहनने हुए बच्चनजी ने अपने कमरे से निकलकर एलान किया कि वे भी साथ चल रहे हैं।

वहाँ पहुँचकर पहले 'लैंडो' (घोड़ा गाड़ी) को किराये पर ले लिया जो पूरे चिड़िया घर में घुमाती है। सर्वप्रथम मैं और तेजी बहन सीट पर बैठ गईं। सामने की सीट पर दोनों बच्चियों ने अभी अधिकार जमाया ही था कि दोनों हँसी में खूब लोटपोट होने लगीं। उनकी हँसी का कारण जानने हेतु पीछे मुड़कर जो देखा तो पाया, बच्चनजी पीछे के स्टैंड पर खड़े हो गए हैं। हँसते-हँसते नीहारिका ने कहा कि स्टैंड पर तो चोबदार ही खड़े होते हैं तो बच्चनजी छूटते ही बोले, "मैं भी तो तुम्हारी मौसी का चोबदार हूँ।"

हँसते-बतियाते, मौज उड़ाते, आइस्क्रीम खाते हम शेर के पिंजरे के सामने पहुँचे। शेर चुप एक ओर बैठा था। चौकीदार ने बताया कि उसे कुछ तकलीफ़ है, इसीसे वह उठ नहीं रहा है। देखने वाले बहुत-से बच्चे चाह रहे थे कि वह उठे और उनके सामने

पिंजरे के पास आए। परन्तु वह टस से मस नहीं हो रहा था। तभी बच्चनजी ने शेर की-सी आवाज़ निकालनी आरम्भ की। भगवान जाने उनकी आवाज़ के जादू से (जो लाखों लोगों का दिल मोह लेती है) या कि दर्द की कमी से हुआ था, शेर बड़े ठाठ से उठा और धीरे-धीरे चलकर ठीक हम सबके सामने आ चक्कर काटने लगा। बच्चों ने ख़ूब तालियाँ पीटीं और मेरी नन्ही बिटिया ने दो बातें अपने मौसा के विषय में जान लीं। एक तो उन्हें शेर की बोली आती है, जिससे वह उनका कहना मानता है, दूसरे कि उसके मौसा चोबदार हैं।

(नोट—नीहारिका के बताने से अन्नु को अब पता चल गया है कि उसके मौसा 'कवि' हैं। चाहे मानने से पहले उसने बहस की थी कि 'चोबदार' चार अक्षरों का है, 'कवि' केवल दो का है, इसलिए छोटा है।)

केवल एक संस्मरण

वर्षा पंडित

कितनी बड़ी समस्या है केवल एक संस्मरण का चुनाव करना जब कि सारा जीवन ही बच्चनजी के सम्पर्क में घटित सुखमय तथा मनोरंजक अनुभवों से भरा पड़ा हो। परन्तु उन दिनों की याद मन में सबसे अधिक उभरकर आती है जिन दिनों मैं प्रथम बार इलाहाबाद में बच्चनजी के पास दो महीनों के लिए रही। इस संस्मरण के लिखने से पहले यह बता देना अनुचित न होगा कि श्रीमती बच्चन मुझे सगी छोटी बहिन से कम नहीं मानतीं और इसी नाते मुझे इस सर्वप्रिय कवि को 'जीजाजी' कहकर पुकारने का भी अधिकार प्राप्त है। बच्चनजी भी स्वयं को इसके लिए भाग्यशाली मानते हैं, इसमें भी कोई सन्देह नहीं।

सन् १९४७ के दिन थे। लाहौर में काफ़ी गड़बड़ी होने के कारण तेज बहिनजी (श्रीमती बच्चनजी को मैं ऐसे ही पुकारती हूँ) ने हम चारों बहनों (मेरी चार बहनें और भी हैं) को अपने पास इलाहाबाद में बुला लिया। बच्चनजी के साथ यूँ इतने निकट सम्पर्क में आने का यह हमारा पहला ही अवसर था। मन में काफ़ी घबराहट थी। सबसे बड़ी चिन्ता तो उनके साथ हिन्दी में बातचीत करने की थी। एक तो पंजाबी होने के कारण वैसे ही हिन्दी में बोलने का अधिक अभ्यास नहीं था, दूसरे, बच्चनजी ने एक बार 'पंजाबी कथावाचक महाभारत की कथा कैसे बाँचता है' की एक नक़ल भी लगाकर दिखाई थी। इससे उनके साथ हिन्दी में बातचीत की झिझक और भी बढ़ गई थी। रही-सही कसर उनके चेहरे की गम्भीरता पूरी कर देती थी। पर न मालूम भगवान ने हमारी यह घबराहट कब देख ली कि जाते ही हिन्दी बोलने की भारी समस्या को ही हल कर दिया। हमारे वहाँ पहुँचने के दो-एक दिनों के बाद ही बच्चनजी तो अपने कमरे में यूँ अन्तर्धान हो गए कि बात की तो कौन कहे, यहाँ तो उनके दर्शन ही दुर्लभ हो गए। न किसीसे बातचीत और न हँसी-मज़ाक। जब भी कभी कमरे से निकलें तो त्यौरियाँ चढ़ी हुई। खाने की मेज़ पर बैठें तो गुमसुम। उनके सामने हमारी जीभ भी तालू से चिपक जाती। खाने की हर चीज़ में कुछ न कुछ ग़ल्ती निकाल और उसे जैसे-तैसे निगलकर अपना नाम शहीदों में लिखाकर, जब वे मेज़ से उठकर चले जाते तो कहीं जाकर हम लोगों का बोल फूटता। मुझे तो आश्चर्य होता कि ये इतने लोकप्रिय कवि कैसे बने जब कि ये इतने शुष्क और नीरस हैं। इस रौद्र रूप का कारण पूछने पर तेज बहिनजी ने ज़रा खिसियाहट के साथ बताया कि "इनको आजकल कविता का 'मूड' आया हुआ है।" तेज बहिनजी को मैंने मन ही मन दया का पात्र तो मान ही लिया था परन्तु साथ ही साथ

वीरता में भी लक्ष्मीबाई झाँसी से कम नहीं माना, जो पता नहीं ऐसे कितने 'मूडों' का सामना कर चुकी थीं और कितनों का आगे को करना था। घर का वातावरण काफ़ी खिंचावपूर्ण था जब कि बाहर का मौसम बहुत ही सुहावना हो गया था, क्योंकि इलाहाबाद में जून-जुलाई की बरसात आरम्भ हो गई थी।

तभी एक दिन, जब मैं चाय का प्याला लिए बच्चनजी के कमरे की ओर जा रही थी, तो वे अपने कमरे से निकले। मेरे हाथ से तो प्याला गिरते-गिरते बचा। मैंने अपनी आँखें मलीं और ध्यान से देखा कि कहीं यह मेरा भ्रम ही तो नहीं था कि मैं बच्चनजी के मुँह पर मुस्कराहट देख रही थी। इस कायाकल्प की सूचना जब मैंने तेज बहिनजी को दी तो उन्होंने एक शांति की साँस लेते हुए कहा, "चलो, अच्छा हुआ। इस बार तो कविता का 'मूड' ज़रा जल्दी ही समाप्त हो गया। शायद तुम लोग आई हुई हो, इसी-लिए।" नाश्ते पर उन्होंने हमसे ऐसे बातचीत की कि जैसे आज ही उन्हें हमारे आने का पता लगा हो। तेज बहिनजी को हमारी आवभगत का पूरा ध्यान रखने की काफ़ी हिदा-यतें मिलीं। आसमान पर उमड़-घुमड़कर छा रहे काले बादलों को देख बच्चनजी का कवि-हृदय झूम उठा और नौकर को उसी समय घर के आम के पेड़ पर हम लड़कियों के लिए झूला डालने की आज्ञा मिली। आधे घण्टे में ही दो झूले तैयार हो गए और इस अति सुन्दर परिवर्तन का स्वागत करते हुए हम बहिनें बारी-बारी से झूला झूलने लगीं। अब बच्चनजी को एक बात गवारा न थी कि हम गूँगों की भाँति झूला झूलें। बड़े मीठे स्वर में बोले, "लड़कियो, गाना भी तो गाओ।" बड़ी मुसीबत थी। गाना तो आता था परन्तु पंजाबी में। हमें आनाकानी करते देख नीरस बच्चनजी (मेरे विचार में) ने एक रसिक बच्चनजी का रूप धरकर अपने पूरे स्वर से अवधी भाषा में समयोचित गीत गाना आरम्भ किया। मुझे तो विश्वास ही नहीं होता था कि ये वही त्योरियों वाले 'जीजाजी' थे। झिझक कुछ कम होने के कारण हमने भी कहीं-कहीं सुर में सुर मिलाने का यत्न किया। तभी ज़ोर की गड़गड़ाहट के साथ घनघोर वर्षा आरम्भ हो गई। हम सब घर के अन्दर भागे। बच्चनजी कहीं से ढोलक उठा लाए। तेज बहिनजी ने भी उसी समय एक सुघड़ गृहिणी होने का प्रमाण दिया—गर्म-गर्म पकौड़े और पूए बनवा लाईं। फिर जो हम सबने मिलकर गाया और आनन्द किया, वह अवर्णनीय है। जाने कब मेरे मानस-पटल पर सदा के लिए एक बड़े ही सरल और स्नेहमय बच्चनजी की तस्वीर खिंच गई। हालाँकि, मुस्कराहट को तो अब भी जीजाजी 'कन्ट्रोल रेट' पर ही प्रयोग में लाते हैं, परंतु अब मुझे पता है कि इस गम्भीरता के पीछे कितनी सरलता व स्नेह छिपा पड़ा है। बीस साल पहले बच्चनजी के सिखाए हुए उन अवधी भाषा के गीतों को मैं अब भी ढोलक के साथ बख़ूबी गा लेती हूँ।

अंकों का आकर्षण

नर्मदाप्रसाद त्रिपाठी

दुनिया में ऐसी अनेक घिसी-पिटी बातें हैं, जिनमें मेरा विश्वास नहीं। ज्योतिष उसमें से एक है। आज तक कई बार जानकारों ने बड़े दम्भ के साथ भविष्यवाणियाँ कीं और वे सब व्यर्थ चली गईं। अतः अनुभव और सत्य की कसौटी पर ऐसी बातों के लिए मन में कुछ लगाव नहीं रहा। लेकिन इसीके साथ कुछ ऐसी बातें भी हैं, जो देखने-सुनने में अविश्वसनीय लगती हैं, लेकिन उनमें कहीं न कहीं बड़ी सचाई है। आकाशवाणी, भोपाल में मेरे एक मित्र हैं—अवस्थीजी। एक दिन मैं कुछ उदासी की मुद्रा में था, तो उन्होंने मुझे बड़ी सान्त्वना दी। मेरा जन्म २७ मार्च का है। अवस्थीजी का कहना है कि २७ माने सात और दो—नौ नम्बर के जन्मदिन वाले व्यक्ति जीवन में या तो बड़े सामान्य स्तर पर शांत पड़े रहते हैं या फिर उठते हैं तो तूफ़ान जैसा आसमान को छूने लगते हैं। अवस्थीजी का कहना है कि ऐसी जन्मतिथि वाले लोग अपने जीवन में कुछ विलम्ब से प्रगति करते हैं, लेकिन जब एक बार वे उठ खड़े होते हैं, तो फिर उनकी प्रगति कोई रोक नहीं सकता। उदाहरण के लिए अवस्थीजी श्रद्धेय बच्चनजी का नाम लेकर मुझे सान्त्वना दे रहे थे। बच्चनजी का जन्म-दिवस २७ नवम्बर पड़ता है। अवस्थीजी का कहना था कि एक समय ऐसा था कि जब कुछ नामधारियों के बीच बच्चनजी का भी एक नाम लिया जाता था, लेकिन अब नक्षत्रों की स्थिति ऐसी है कि बच्चन ही बच्चन देश की राजधानी तथा देश में दिखाई पड़ते हैं।

ये शब्द अवस्थीजी ने मुझे बहुत पहले कहे थे। जन्म-तारीखों की समता, यानी कि अंकों का यह गणित, अवस्थीजी के आत्म-विश्वास का विषय है। मैं तो उस समय उनकी बातों को अति सामान्य मानकर टाल गया था। लेकिन कुछ दिन जब मैंने अकेले में बैठकर अवस्थीजी के इस वक्तव्य को कसौटी पर कसा, तो अनेक घटनाओं के आधार पर मुझे इस अंकगणित में विश्वास-सा जमने लगा। बच्चनजी से किसी तरह की तुलना करने की धृष्टता मैं नहीं करूँगा। लेकिन हाँ, उनसे प्रेरणा लेने और अनेक बातों में उन जैसा बनने की आकांक्षा अवश्य मन में सदैव रहती है।

उस दिन मैं सोच रहा था कि बच्चनजी जैसे वरिष्ठ साहित्यकार और महा-मानव का मुझपर इतना अनुराग क्यों है? न कभी उनसे किसी तरह की रिश्तेदारी, न कभी एक शहर या मुहल्ले में रहे, न कभी एक-दूसरे के चेहरे को अच्छी तरह देखा-बूझा, फिर यह कैसे हुआ कि बच्चनजी की सारी करुणा, उनका समग्र स्नेह मुझपर उन दिनों उमड़ पड़ा, जब मैं सन् '६६ के प्रारम्भ में यक्ष्मा जैसी गम्भीर बीमारी का शिकार होकर

पड़ा था। उस समय तो उन्हें मेरे चेहरे का भी स्मरण नहीं होगा। कोई दस वर्ष पहले दिल्ली के रामजस कॉलेज में अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा सम्मेलन की ओर से एक कवि-सम्मेलन था। बच्चनजी उस कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष थे और मैं उस मंच पर बैठे कवियों में से एक था। इतना ज़रूर याद है कि उस समय बच्चनजी ने मेरी 'अवैध शिशु के प्रति' कविता काफ़ी पसन्द की थी। लेकिन उसके बाद उनसे कभी पत्र-व्यवहार नहीं हुआ। हाँ, उन्हें मेरे कवि का चेहरा अवश्य परिचित लगा होगा। सन् '६३ में जब मेरी नई कविताओं का संग्रह 'चाँदनी का ज़हर' छपा, तो मैंने उसकी प्रति उन्हें अवश्य भेजी थी। बस इतना-सा परिचय था उनसे, सन् '६६ की अपनी बीमारी से पहले। लेकिन जैसे ही उन्हें मेरी बीमारी का पता चला, वे बेचैन हो उठे। मेरा ऐसा दावा है कि उस लम्बी बीमारी के बीच मेरे और मेरी पत्नी के रिश्तेदारों से कहीं अधिक विकलता और सक्रिय आत्मीयता का परिचय श्रद्धेय बच्चन दादा ने दिखाया। उन दिनों उनकी ओर से 'शब्द और 'अर्थ' दोनों की कमी नहीं महसूस हुई। और मुझे उस संकट के बीच अपने सभी सम्बन्धों का अर्थ स्पष्ट होता गया। महाकवि तुलसीदासजी ने आपत्ति के समय 'धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी'—इन चारों को परखने की बात कही है। तुलसी की इस कसौटी पर नारी—श्रीमती कृष्णा—के अतिरिक्त मैंने धीरज, धर्म और मित्र के सम्मिलित रूप में केवल श्रद्धेय बच्चनजी को पाया है।

मैं अभी भी सोचता हूँ कि उन दिनों बिना किसी विशेष परिचय के दादा की आत्मा क्यों मेरे दुःख से विकल हो उठती थी! क्यों वे मुझे इतने आत्मीय और निकट लगते थे! क्या सचमुच में यह जन्मदिन वाले समान अंकों का आकर्षण नहीं है? ज़रूर कोई न कोई ऐसी समान और सम्बद्ध तंत्री है जो एक सिरे पर झंकृत होती है, तो तुरन्त दूसरे कोने पर हलचल हो उठती है।

मैं तो उस बीमारी का सदैव ऋणी रहूँगा, जिसने बच्चनजी जैसे महामानव को मेरे इतना निकट ला दिया। और अब तो दादा न केवल मेरे अत्यन्त निकट हैं, बल्कि घर का प्रत्येक व्यक्ति उन्हें अपने परिवार का एक वरिष्ठ सदस्य समझता है। मेरे तीनों बच्चों के लिए बच्चनजी का नाम-स्मरण अथवा किसी पत्र-पत्रिका में उनका चित्र दीख जाना एक अत्यन्त हर्ष की बात है। मेरी सबसे छोटी दो वर्षीया बच्ची अर्चना भी 'दादा बच्चन' कहकर उनका चित्र देखते ही खुशी से झूम उठती है। ऐसी ही निकटता बच्चनजी से इस देश के लाखों प्राणी अनुभव करते हैं। जब बिना मिले हुए कोई व्यक्ति पत्रों से उनके निकट हो सकता है, तो जो व्यक्ति एक बार उनसे मिल ले, वह उनसे कैसे दूर हो सकता है? इसका कारण है बच्चनजी की अपार मानवीय संवेदना। आज बच्चनजी न केवल मेरे, बल्कि मेरे परिवार के प्रत्येक सदस्य के भी अत्यन्त निकट हैं। लेकिन वे अभी भी मेरे लिए एक आश्चर्य का विषय बने हुए हैं। उनके इतना निकट होकर भी इस बात पर विश्वास नहीं होता कि कोई हाड़-मांस का साधारण-सा व्यक्ति इतना असाधारण मानव हो सकता है। बच्चनजी वास्तव में एक सन्तुलित महामानव हैं। अपार विद्वत्ता, मान-सम्मान तथा लोकप्रियता ने भी उन्हें कृत्रिम और दंभी नहीं बनाया। साठ की उमर पार कर जाने के बाद भी वे स्वभाव से बच्चों जैसे सरल और निर्मल हैं। मैंने उन्हें कभी

किसीकी शिकायत करते नहीं सुना। उनके अधरों पर सदैव हल्की-सी मुस्कान और मिठास बोलती रहती है। कविवर पन्तजी ने उनके लिए 'अमृत हृदय में, गरल कण्ठ में, मधु अधरों में' जैसी पंक्ति बहुत ही सार्थक लिखी है। मुझे अब तक के जीवन में अनेक वरिष्ठ साहित्यिकों के निकट रहने का सौभाग्य मिला है, लेकिन मैंने बच्चनजी जैसी परदु:खकातरता किसी व्यक्ति में इतने प्रबल रूप में नहीं देखी। वे वास्तव में एक सन्त-मना व्यक्ति हैं। कविवर पन्तजी के लिए बच्चनजी ने 'कवियों में सौम्य सन्त' 'शब्दों का प्रयोग किया है। मुझे पन्तजी के निकट आने का सुयोग नहीं मिला, लेकिन मैं बच्चनजी को निकट से देखने के बाद यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि बच्चनजी स्वयं कवियों में सौम्य सन्त हैं। उन्होंने शायद अपने जीवन में कुछ (लोगों के प्रेम के अतिरिक्त) संग्रह करने के बजाय. जो कुछ भी उनके पास था, उसे जी भर कर लुटाया है। सोना लुटा देने के बाद उन्होंने राख तक अपने पास रखना उचित नहीं समझा।

कंचन तो लुट चुका पथिक,
लूटो अब राख लुटाता हूँ।
मैं अग्निदेश से आता हूँ।

अग्निदेश से आने वाले इस महामानव में कितनी शीतलता है!

अपनी बीमारी के बीच बच्चनजी के लिखे अनेक पत्रों में से एक पत्र यहाँ उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। मैंने उन दिनों अपने एक साहित्यिक मित्र को बच्चनजी की महानता और उनकी अपार संवेदना के बारे में बताया था। बच्चनजी को जब पता चला, तो वे उन बातों के विज्ञापन पर संकोच से भर उठे। उनका यह पत्र आत्मीयता और उनकी महानता का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है :

१३, विलिंगडन क्रिसेंट,
नई दिल्ली-११
१४. १०. ६६

प्रिय नर्मदा,

पत्र मिला। मैं तुमसे नाराज़ हूँ। यह भी किसीसे कहने की बात थी! अब किसी-से कहो तो मेरी क़सम।

टी० बी० अब कोई असाध्य रोग नहीं समझा जाना चाहिए—ठीक दवा, अच्छी खुराक़, पूरा आराम, पूरी निश्चिन्तता।

चिंता हम जैसे लोगों को होती है पैसों की। वह थोड़ी देर के लिए किसी और पर छोड़ दो। अपनी आवश्यकता मुझे लिखना। मैं किसी न किसी तरह पूरी करूँगा। तुम्हें अपना पूरा इच्छाबल लगाकर रोगमुक्त होना है—होगे—निश्चय होगे। यह सुखद समाचार है कि तुम्हारे स्वास्थ्य में सुधार है। काम पर जाने की जल्दी न करना।

मैं सोच रहा हूँ कि तुम्हें देखने को किसी दिन भोपाल आ जाऊँ—मगर किसी-को मेरे आने की खबर न हो।

दादा की शुभकामनाएँ और प्यार।

बच्चन

और बच्चन दादा का यह पत्र पाने के बाद फिर मेरे सामने कोई समस्या नहीं रह गई। मैं समझता हूँ कि उन दिनों बच्चनजी के प्यार ने मेरे स्वास्थ्य-संवर्द्धन में असली दवाइयों से कहीं अधिक असर किया था।

उनके स्नेह में केवल आत्मीयता और निश्छलता है, दिखावा नहीं। मेरी बीमारी के बीच ही वे सोवियत पुरस्कार पाकर विदेश जा रहे थे। जब उन्होंने विदेश जाने की बात लिखी, तो मैंने उन्हें छोटे बच्चों जैसा लिखा था, "दादा, वहाँ से मेरे लिए कोई छोटी-सी चीज़ ज़रूर लेते आइएगा।" बात आई-गई हो गई। एक वर्ष बाद मैं सितम्बर '६७ में जब दिल्ली गया, तो लौटते समय उनसे पुन: मिलने पहुँचा। चलते समय उन्हें कुछ याद आ गया और रोककर बोले, "ठहरो।" और कुछ क्षण खोज-बीन करने के बाद उन्होंने एक खूबसूरत चमकीली वस्तु मेरे हाथों पर रख दी। एक छोटी-सी प्लेट जिसमें लेनिन-ग्राद स्क्वेयर का चित्र अंकित है और रूसी लिपि में लिखा हुआ है — मस्क्वा। और तब मुझे याद आया कि मैंने उन्हें वर्ष भर पहले रूस से कुछ लाने को लिखा था। रूस-यात्रा में वे न जाने अन्य कितने देशों की यात्रा पर अत्यन्त व्यस्त रहे। लेकिन उस व्यस्तता और मान-सम्मान के बीच भी उनके दिल में मेरी वह माँग बराबर बनी रही।

प्रदर्शन से बचने की एक और घटना याद हो आई। अक्तूबर '६७ में बच्चनजी भारत-सोवियत मैत्री-संघ की ओर से सोवियत क्रान्ति की पचासवीं वर्षगाँठ पर प्रमुख वक्ता के रूप में भोपाल पधारे थे। संध्या को एक साहित्यिक मित्र बच्चनजी को कार्यक्रम के लिए ले चलने हेतु अपनी कार लेकर आ गए थे। लेकिन हमारे साथ के तरुण मित्र रमा-कान्त सिन्हा ने राजभवन की कार मँगाने के लिए ड्राइवर को आदेश दे दिया। बात का समर्थन मैंने भी किया था। शायद रमाकान्तजी का मतलब बच्चनजी को राजभवन की कार में ले चलने का यही था कि जनता पर इस बात का रौब पड़े कि बच्चनजी राज्यपाल के मेहमान हैं।

जैसे ही बच्चनजी अपने कमरे से बाहर आए, वे फ़ौरन असलियत को भाँप गए और उन्होंने राजभवन की गाड़ी वापस कर दी। रास्ते में मुझसे कह रहे थे, "नर्मदा। मुझे प्रदर्शन से सख़्त नफ़रत है। देखो न, जो मज़ा इस गाड़ी का है, वह राजभवन की गाड़ी में कैसे आ सकता है! यह कितनी अच्छी बात है कि एक कवि-मित्र (श्री मदन तापड़िया) इस गाड़ी को चला रहे हैं।"

वास्तव में बच्चनजी में प्राणिमात्र के लिए इतना प्रेम और सहिष्णुता भरी हुई है कि पूरे देश में उन्हें श्रद्धा और प्रेम देने वालों की संख्या अपार है। मेरा ऐसा ख़याल है कि एक बार किसी भी तरह का सम्बन्ध बन जाने पर बच्चनजी ने शायद ही उसे तोड़ा हो। इस सन्दर्भ में एक उदाहरण पर्याप्त होगा। १६ दिसम्बर, '६७ को बच्चनजी भोपाल होते हुए रायपुर जा रहे थे। योजनानुसार वे कुछ घंटे मेरे घर ठहरे। मुझे इस सम्बन्ध में पूर्व सूचना थी, अत: मैंने उस समय के सदुपयोग के लिए अपने घर पर एक साहित्यिक गोष्ठी बुला ली। बच्चनजी ने रेलवे स्टेशन पर और फिर एक बार मेरे घर पर कवि दुष्यन्तकुमार को याद किया। मैं दुष्यन्त को गोष्ठी का बुलावा भिजवा चुका था। दुबारा एक मित्र को उनके यहाँ भेजा। लेकिन गोष्ठी मेरे यहाँ हो रही है और

बच्चनजी मेरे घर ठहरे हैं, यह बात शायद दुष्यन्तकुमार को अच्छी न लगी। उन्होंने बच्चनजी को पत्र लिखकर गोष्ठी में आने से साफ़ इन्कार कर दिया। इस बीच गोष्ठी प्रारम्भ हो गई थी। गोष्ठी की समाप्ति के बाद बच्चनजी भोजन पर बैठ गए और इसी बीच रेडियो की गाड़ी उन्हें लेने आ पहुँची। बच्चनजी को फिर दुष्यन्तकुमार की याद हो आई। और इस बार मैंने न चाहते हुए भी बच्चनजी को वह चिट्ठी दे दी। निश्चित ही उसकी भाषा चुनने वाली थी। बच्चनजी ने कहा, "रेडियो की गाड़ी लौटा दो, हम दुष्यन्त से मिले बग़ैर नहीं जाएँगे।" बड़ी मुश्किल से वे उसी गाड़ी में दुष्यन्त के घर तक चलने को तैयार हुए। यदि वे गाड़ी छोड़ देते तो बिलासपुर एक्सप्रेस पर ठीक समय पहुँच पाना कठिन हो जाता। अस्तु, जैसे ही बच्चनजी ने दुष्यन्त के घर पर आवाज लगाई, दुष्यन्त मे हड़बड़ाकर दरवाज़ा खोला, और उन्होंने सपरिवार बच्चनजी के चरण छुए। इस प्रकार बच्चनजी के धीर-गम्भीर और निश्छल व्यवहार से सारा माहौल ही बदल गया, और दुष्यन्त आधी रात को उन्हें छोड़ने स्टेशन तक आए।

लोकप्रियता की दृष्टि से शायद तुलसीदास के बाद बच्चनजी अकेले कवि हैं, जिन्हें इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई है। मेरी व्यक्तिगत धारणा है कि जो लोकप्रियता श्री जवाहरलाल नेहरू को देश की उस जनता के बीच प्राप्त थी, जिसमें अधिकतर बेपढ़े-लिखे भी शामिल हैं, वही लोकप्रियता बच्चनजी को देश के पढ़े-लिखे, सुसंस्कृत तथा काव्य-रसिक लोगों के बीच प्राप्त हुई है। यह अपने आप में एक ऐतिहासिक घटना है।

जब से बच्चनजी से निकटता प्राप्त हुई और ज्यों-ज्यों उनकी महानता से परिचय बढ़ता गया, एक आकांक्षा मेरे मन में बराबर दृढ़ होती गई है। वह यह कि चाहे मुझे अपने जीवन में साहित्यिक उपलब्धि कुछ भी न प्राप्त हो सके, लेकिन कम से कम बच्चन जी जैसा मनुष्य बनने का सौभाग्य अवश्य मिले।

जन-जीवन के कवि की सार्थक यात्रा

दिनकर सोनवलकर

१७ अक्तूबर, १९६१ को मैं अपने जीवन का परम सौभाग्यशाली दिन मानता हूँ। उस दिन पहली बार बच्चनजी से मेरा परिचय हुआ जबलपुर की एक साहित्य-गोष्ठी में। उस गोष्ठी में मैंने कवि का ही एक गीत 'साथी, अन्त दिवस का' गाया और एक विचित्र घटना घटित हुई। विचित्र संयोग था वह! गीत का प्रभाव कुछ ऐसा हुआ कि कवि की आँखों से आँसू बह चले। गीत और आँसू के माध्यम से ही वह प्रथम परिचय आत्मीयता में बदल गया। तब से आज तक जितनी बार भी बच्चनजी के दर्शनों का सौभाग्य मिला है, यह आत्मीयता गहरी होती गई है। तब से आज तक मैंने बहुत कुछ पाया है: उनका स्नेह, उनका मार्ग-दर्शन। मिलने के बाद हर बार यह लगा है कि बच्चनजी की सरल विनम्रता उनकी महानता के अनुपात में ही बढ़ती गई है। श्रद्धावान भला क्या दे सकता है श्रद्धेय को? उनकी कृपादृष्टि का निर्मल प्रकाश मेरे जीवन के अँधेरे को चीरकर अन्तरतम तक फैल गया है।

अपने साधारण से साधारण पाठक के मन को छू लेने की यह विशेषता ही कवि बच्चन की शक्ति है। ज्यों-ज्यों उनकी रचनाओं को देखता हूँ, त्यों-त्यों यह निष्कर्ष दृढ़ होता गया है कि बच्चन जनता के कवि हैं; जनता के लिए हैं, जनता द्वारा अभिनंदित हैं। इस साधारणता में ही उनकी असाधारणता का रहस्य छिपा है।

"आप अगर मेरी कविताओं की ओर आकर्षित होते हैं, उसमें आपको कुछ आनन्द, कुछ रस, कुछ शान्ति, सन्तोष या प्रेरणा मिलती है तो मैं यही समझता हूँ कि जग-जीवन के प्रति आपके भीतर कुछ उसी प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, जैसी मेरी होती है। आपके मन में कुछ उसी प्रकार की भूख-प्यास है, जैसी मेरे मन में है।"

प्रणय पत्रिका (भूमिका), पृष्ठ ६

चाहे 'मधुशाला' की मस्ती हो; चाहे 'निशा-निमंत्रण' का संगीत, चाहे 'बगाल का काल' का विद्रोह हो, चाहे 'त्रिभंगिमा' का लोक-संगीत, चाहे 'दो चट्टानें' की वैचारिक भूमिका हो, चाहे 'बहुत दिन बीते' की अनासक्त दृष्टि—जन-मानस की छवि सर्वत्र विराजमान है।

इस प्रेषणीयता को कुछ लोग लोकप्रियता का फतवा देकर यूँ ही उड़ा देना चाहते हैं। पिछले कुछ वर्षों से हिन्दी कविता के रचनाकारों तथा समीक्षकों में यह भ्रम

फैल गया है कि यदि कविता को श्रेष्ठ बनाना है तो उसे कठिन, अस्पष्ट, दुर्बोध तथा उलझन-भरी होना ही चाहिए। इस भ्रम के विचित्र परिणाम सामने आ रहे हैं। अलग-अलग वादों का सहारा लेकर कविता को प्रतिष्ठित किया जा रहा है; आठ पंक्तियों की रचना को आठ पृष्ठों के वक्तव्य की बैसाखी से चलाया जा रहा है, कविता से पहले तरह-तरह के विशेषण लगाकर उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की जा रही है। सृजन को आत्मरति की क्षुद्र दीवारों में बन्द करके या विकृति की अन्धी गलियों में भटकाकर प्रेषणीयता का प्रश्न हल किया जा रहा है। जब सारी कोशिशें नाकामयाब हो जाती हैं, तब शुतुरमुर्ग की तरह रेत में मुँह छिपाकर कह दिया जाता है कि जनता तो बुद्धिहीन है।

शायद बच्चन शुरू से इस खतरे को जानते थे; इसलिए उनके मन में भ्रम कहीं नहीं है। न अपनी क्षमता के प्रति, न पाठक की समझदारी को लेकर। जून १६६१ में में ही वे लिख चुके थे, "साधारण मनुष्य इतना निर्मम, शुष्क या अग्रहणशील नहीं जितना प्राय: कवि उसे समझते हैं। वह औरों के अनुभवों का भागीदार बनने को उत्सुक रहता है। कवि को अपने पाठकों में विश्वास रखना चाहिए और अपनी सीमा, क्षमत और त्रुटियों का भी ध्यान रखना चाहिए।"

पाठकों के प्रति आस्था रखने से कविता कमजोर होती है; ऐसी हठधर्मी कहाँ तक उचित है ? प्रत्युत, इसी आस्था के बल पर कवि निरन्तर सक्रिय रहा है; जीवन में भी और रचनात्मक स्तर पर भी। हर विपत्ति का सामना उसने किया है; घोर निराशा में भी 'सतरंगिनी' के गीत गाए हैं; उपलब्धियों की राह पर आगे बढ़ते रहे हैं उसके अथक चरण। उपलब्धियों के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर भी उसने अपने को एकाकी और अद्वितीय नहीं माना; वह गर्व से अहंकारी नहीं हुआ। यह सब इसीलिए सम्भव हो सका, क्योंकि उसकी आस्था जन-जीवन के प्रति समर्पित थी; प्रगतिवादी नारेबाजी की तरह नहीं; बल्कि सृजन के आन्तरिक, कलात्मक स्तर पर।

सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि बच्चन के समीक्षकों ने उन्हें व्यक्तिवादी और निराशावादी जैसे खिताब दे रखे हैं। बच्चन व्यक्तिगत अनुभूतियों के कवि जरूर हैं, लेकिन व्यक्तिवादी कहीं नहीं। उनकी कुछ रचनाओं में निराशा के स्वर अवश्य मिलते हैं, लेकिन उनका विश्वास शुरू से ही जीवन पर, कर्म पर, श्रम पर, पुरुषार्थ पर रहा है। तुलसी की विनयशीलता और गीता की कर्मठता को अगर जोड़ दें, तो बच्चन के कवि-व्यक्तित्व को समझना आसान हो सकेगा।

विनम्रता के उल्लेख से यह न समझा जाए कि कवि के मन में किसी प्रकार का हीन भाव है या वह स्वयं को कमज़ोर मानता है। उसे स्वयं पर अडिग विश्वास है; फ़र्क़ सिर्फ़ यही है कि वह अपनी सामर्थ्य का डंका नहीं पीटता। दुःख ने उसे कम नहीं घेरा—यहाँ तक कि सदा दुःखी रहने को ही आदर्श बनाने की इच्छा उसके मन में जगी थी; किन्तु उसके भीतर कहीं इस्पात की ऐसी शलाका थी, जो मुड़ नहीं सकती थी। तभी

उसने गाया :

झुकी हुई अभिमानी गर्दन
बँधे हाथ, नत निष्प्रभ लोचन,
यह मनुष्य का चित्र नहीं है
पशु का है रे कायर !
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर !

(सतरंगिनी, चौथा संस्करण, पृष्ठ १२)

पिछले, ३६ वर्षों से यह कवि-यात्री बराबर चलता रहा है। दोस्तों के सदमे भी उसने कम नहीं उठाए; लेकिन कवि ने कभी उसका तमाशा नहीं बनाया, क्योंकि इसे वह ओछी बात मानता है। सब कुछ जानते-समझते हुए भी, उसका मस्तक गर्व से तना है। बेवफ़ा दोस्तों या पक्षधर समीक्षकों की परवाह उसे नहीं है।

कर दे बन्द
जो मुझे देता रहा समाज;
चाट कर तलवे
हिलाकर पूँछ
मैंने नहीं कमाई अपनी रोटी

(बुद्ध और नाचघर, : पृष्ठ ८७)

ऐसे सब लोगों से उसका यही कहना है—

बहुत दिन पुजता नहीं वेश का प्रताप
अन्त में परदा उघरता है अपने आप,
झूठ की खुलती है क़लई
साँच को नहीं आती आँच।
इसी एक एतक़ाद पर
मैंने किया है जीवन-भर संघर्ष।

•

बच्चनजी के सभी परिचित स्नेही यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि वे ज़बर्दस्त पत्र-लेखक हैं। देश के किसी भी कोने से भेजा गया कोई भी पत्र अनुत्तरित नहीं रह पाता। वे स्वयं सबको उत्तर लिखकर भेजते हैं। देखने-सुनने में यह बात निहायत मामूली जान पड़ती है, लेकिन उसके पीछे जो जीवन-दृष्टि है, सबके प्रति स्वागत का उत्सुक भाव है; वह सहज व्यक्तित्व की कठिन साधना है। एक बार मैंने उनसे प्रश्न किया था, "छोटे से छोटे पत्र का उत्तर भी आप तुरन्त देते हैं। निश्चित ही प्रतिदिन काफ़ी समय पत्र-लेखन में जाता होगा। क्या आप ऐसा नहीं सोचते कि उतने ही समय में बेहतर लिखना-पढ़ना हो सकता था ? जैसे कुछ बड़े लोग पत्र-लेखन को समय एवं शक्ति का अपव्यय मानते हैं, क्या आपको भी वैसा नहीं लगता ?"

कवि ने उत्तर दिया, "जब कोई दरवाज़ा खटखटाए, उठकर खोलना चाहिए। मानवता की उपेक्षा करके कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया जा सकता। जीवित-

जाग्रत् मनुष्य से विचार-भावों के आदान-प्रदान से अधिक आवश्यक क्या हो सकता है ? कविता लिखना ? जी नहीं ! कविता तो इसीलिए लिखी जाती है कि मनुष्य मनुष्य के निकट आ सके । कविता अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारकर नहीं चल सकती ।"

जिस कवि की मानवता में ऐसी दो टूक आस्था हो, उसके सामने किताबी सवाल नहीं उठते । समीक्षकों की उपेक्षा से वह विचलित नहीं होता ।

जन तथा सज्जन बिठायें
उर-सिंहासन पर जिसे
उसके लिए कंचन-सिंहासन
धूलि-मिट्टी ।

(दो चट्टानें)

और अब तो कवि उस यात्रान्त पर पहुँच गया है जहाँ सभी उपलब्धियाँ अर्थहीन हो जाती हैं और जीवन की खोज भीतर की तरफ़ सार्थकता के नये आयाम देखने लगती है। यह अन्तर्मुखी वृत्ति कवि के सृजन में एक महत्त्वपूर्ण दिशा का संकेत है। नये कविता-संग्रहों में व्यापकता के साथ-साथ गहराई के स्तर पर भी यह यात्रा चलती रही है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि कवि ने रहस्यवादी मुद्रा धारण कर ली है या जन-जीवन के लिए उसके मन के वातायन बन्द हो गए हैं। उसकी मूल भावभूमि वही है : कविता का सत्य और सौन्दर्य तो उसे जन-जीवन में से ही पाना है । अन्तर केवल यह है कि अब उसका व्यक्तित्व सुख-दुःख के प्रति अनासक्त हो गया है । जगत्-गति तो उसे अब भी व्यापती है, लेकिन अब वह आवेश बनकर अभिव्यक्त नहीं होती; बल्कि चिन्तन के स्तर पर मुखर हो गई है । अब वह किसी बड़े इम्तहान की तैयारी में है :

वह परीक्षा कौन जिसकी
सब परीक्षाएँ तैयारी ।

जीवन के बेरोक सफ़र में हर एक पहलू से वह गुज़र चुका है; अब तक जीवन की आपाधापी में उसे वक़्त ही नहीं मिला कि अपने कहे, किए पर कुछ देर बैठकर सोच सके । अब उसकी यात्रा इसी आयाम में चलेगी । सबके प्रति सहज, सरल, तरल, समादर । वह सिन्धु-दृष्टि अब विकसित हो गई है इसलिए व्यक्तिगत जय-पराजय की चिन्ता मिट गई है । उसकी महानता और विनम्रता एक दूसरे के पर्याय बन गए हैं ।

सोचता हूँ : कैसी अनोखी थी वह रात, जब रात के साढ़े दस बजे, बच्चनजी मेरा पता पूछते हुए, अँधेरे में दो-दो ज़ीने चढ़कर, मुझसे मिलने आए । उन क्षणों के आश्चर्य एवं आनन्द को व्यक्त कर सकूँ : वे शब्द नहीं हैं मेरे पास ! कितनी अविश्वसनीय-सी लगती है यह बात कि हिन्दी का श्रेष्ठ, महान् कवि मुझ जैसे अकिंचन से मिलने आए । रवीन्द्रनाथ ने लिखा है :

"सिंहासन छोड़ पधारे
मेरी कुटिया के द्वारे ।'

अकेलेपन, अजनबीपन और अकविता के इस युग में इस दुर्लभ संस्मरण में छिपे हुए विराट् मानव-सत्य को समझने वाले कितने हैं ?

गुण से मूल्य उतरते गिरते
अवगुण पर जाकर बैठा है।

साठ वर्ष में भी डाक्टर हरिवंशराय अभी भी 'बच्चन' ही हैं : सक्रिय और सतर्क। अँधेरे में किसी छोटे मन्दिर में जलते हुए दीपक को भी वे नमन करते हैं, क्योंकि वह किसीकी मूक श्रद्धा का प्रतीक है।

दुनियावालों के सामने भार उठा सकने की अपनी क्षमता वे प्रमाणित कर चुके हैं और अब भीतर की गाँठें सुलझा रहे हैं। उनकी आज तक की लिखी कविता को कविता समझा जाएगा अथवा नहीं; वे इस चिन्ता से बहुत ऊपर उठ चुके हैं। अभी एक पत्र में उन्होंने लिखा था, "अपनी सभी उपलब्धियों से असंतोष ही जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है।"

यही है श्रेष्ठ रचनाकार का सबसे बड़ा सत्य। इसीलिए वह सृजन को ही मान-दण्ड और साधारण पाठक को ही अपना अभिनन्दनकर्ता मानता है। सचमुच बच्चनजी को इन्सान का प्यार सबसे ज्यादा मिला है और वही उन्हें जिला रहा है। इससे बढ़कर और दूसरी सार्थकता क्या होगी ?

कैम्ब्रिज के साथी

विश्वनाथ दत्ता

कैम्ब्रिज में अप्रैल की एक परिचित-सी शाम थी। (मेरा ख़याल है, यह १९५२ की बात है।) सँकरी सड़कें और ऊँची-ऊँची इमारतें, बरसात हो चुकने के बाद, बिलकुल ताज़ी, धुली हुई दिखने लगी थीं और गाउन पहने विद्यार्थियों के समूह पग-पग पर मिल जाते थे। तभी क़स्बे के सबसे व्यस्त भाग—बाज़ार—में मैंने एक अपरिचित व्यक्ति को देखा, या शायद अधिक उचित यह कहना होगा कि हम दोनों एक-दूसरे के आमने-सामने आ पड़े। मुझे लगा कि वह व्यक्ति अपरिचित है, लेकिन इसके पहले कि मैं बोल सकूँ, हम दोनों के हाथ आगे बढ़ चुके थे, अनजाने में ही हमने हाथ मिला लिया था और मुझे एक स्पष्ट तथा आत्मविश्वासपूर्ण स्वर सुनने को मिला था—"मैं बच्चन हूँ।" सामान्य परिचय हो चुकने के बाद, हम साथ ही साथ चल पड़े, चारों ओर के शोरगुल से अछूते, अपने में डूबे।

एकाएक अतीत मेरे सामने उजागर हो उठा और उस दूर देश में बच्चन की बातें सुनते-सुनते मेरा मन गुज़रे ज़माने की तरफ़ मुड़ गया। उस समय से सात वर्ष पहले, अमृतसर में, मैं उनसे पहली बार मिला था, यद्यपि तब हम घनिष्ठ नहीं हुए थे। बच्चन लगभग हर साल अमृतसर आते थे और अपने मित्र श्री रघुवंशकिशोर कपूर के साथ कुछ दिन ठहरते थे। श्री कपूर उन दिनों अमृतसर के हिन्दू कॉलेज में प्राध्यापक थे। वे साहित्यकार थे और उनका घर एक ऐसा साहित्यिक अड्डा बन गया था, जहाँ उनके विद्यार्थी और मित्र इकट्ठे होकर, उनसे प्रेरणा ग्रहण करते थे। जिन दिनों बच्चन वहाँ होते, हिन्दू कॉलेज में और अन्यत्र भी कवि-सम्मेलन ज़रूर किया जाता था। उस बार का कवि-सम्मेलन म्यूनिसिपल कमेटी के हॉल में होना था। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैंने बच्चन और उनकी सुन्दर पत्नी को श्री कपूर के घर पर देखा था। उन दिनों उर्दू के मशहूर शायर फ़ैज़ अमृतसर में ही रहते थे और उनकी बड़ी धूम थी। मैं ख़ुद भी उर्दू कविता का प्रेमी था, हिन्दी में मेरी कोई ख़ास दिलचस्पी न थी। उस समय के शहरी पंजाबी नवयुवकों का दृष्टिकोण सामान्य रूप से कुछ-कुछ इसी तरह का था, इसलिए मेरी तनिक भी इच्छा कवि-सम्मेलन में जाने की न थी। लेकिन मेरे दो-एक सहपाठी—जिनमें से एक का नाम था नत्थनलाल और जो बहुत अच्छा विद्यार्थी था—मुझे अपने साथ घसीट ले गए। हॉल ठसाठस भरा हुआ था, वातावरण कविता के बिलकुल उपयुक्त था और तभी युवा कवि ने 'मधुशाला' की रुबाइयाँ सुनानी शुरू कीं। मैं स्वीकार करूँगा कि उन रुबाइयों के कुछ हिन्दी शब्दों का अर्थ मैं समझ नहीं सका, लेकिन रचना का

भरपूर प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा। मैं उसमें खो-सा गया और मैंने अनुभव किया कि उन छंदों में मन को भीतर से द्रवित कर देनेवाला गुण है। ऐसा लग रहा था कि सारे श्रोता ख़ुशी से पागल हो गए हैं। इस रोमांचक अनुभव के बाद बहुत समय तक मेरे मन में बच्चन की कविता पढ़ने की और उनसे मिलने की इच्छा होती रही। कुछ वर्षों के अनन्तर, मेरा इलाहाबाद जाना हुआ और मैं बच्चन से मिलने उनके घर गया भी, लेकिन वहाँ ताला पड़ा हुआ था।

कैम्ब्रिज की सँकरी और चक्करदार सड़कों में से गुज़रते हुए : इस अतीत स्मृति के कुछ अंश मेरे मन में उभर आए। अब तक हम पेटी क्यूरी और जीसस लेन को पार कर चुके थे। पहले बच्चन यहीं रहते थे, उसके बाद वे क्लसट्यूटम लेन में और फिर मेड्स काज़वे में रहने लगे, जो उस जगह से कुछ ही गज दूर था, जहाँ मैं अपनी पत्नी के साथ रहता था। दिसम्बर १९५३ में, जब मैं कैम्ब्रिज से लौटा, तब बच्चन ट्रम्पिंगटन स्ट्रीट के एक फ़्लैट में रहते थे। मेरी और उनकी घनिष्ठता उस समय बढ़ी, जब वे मेड्स काज़वे में थे। लेकिन उसके अतिरिक्त भी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में हम दोनों की भेंट होती थी, ख़ास तौर से 'लंच' के समय निचली मंज़िल में, चाय के कमरे में, या इधर-उधर कहीं और। बच्चन अधिकतर 'एंडर्सन रूम' में अपने काम में लगे रहते थे। स्वप्निल आँखें, उल्लसित व्यक्तित्व, पूर्णतया शालीन आचरण और जानने तथा सीखने की अपूर्व वृत्ति : यही बच्चन थे !

आरम्भ में बच्चन केवल एक वर्ष के लिए इंग्लैंड आए थे। उनका इरादा था कि अपने प्रवास का आधा समय वे कैम्ब्रिज में बिताएँगे और आधा आक्सफ़र्ड में। वे कैम्ब्रिज में प्रोफ़ेसर बेसिल विली के निर्देशन में येट्स पर एक निबन्ध लिखना चाहते थे और उसके बाद आक्सफ़र्ड जाकर प्रोफ़ेसर सी० एम० बावरा के साथ विचार-विमर्श करना चाहते थे। बाद में उनका इरादा इंग्लैंड तथा यूरोप के कुछ स्थलों को देखने का भी था। यही उनकी मूल योजना थी। मैंने उन्हें सुझाया कि आपका निबन्ध चाहे कितना ही विद्वत्तापूर्ण और मौलिक क्यों न हो, भारत के शैक्षिक वर्ग – उनकी योग्यता के विषय में क्या कहा जाए !—आपके निबन्ध को दक्ष अनुसंधान के एक उदाहरण के रूप में मान्यता देना तो दूर, तनिक भी महत्त्व न देंगे। हर चीज़ के लिए डिग्रियों को ही अन्तिम प्रमाण मान बैठने की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति भारत में उस समय तो थी ही, आज और भी बढ़ गई है। किसी व्यक्ति के पास पी-एच० डी० की डिग्री न हो तो उसे विश्व-विद्यालय के विभागीय अध्यक्ष-पद के लिए अनुपयुक्त समझा जाता रहा है— भले ही उसने अपने विषय पर कोई अत्यन्त प्रामाणिक ग्रंथ लिखा हो। इसके विपरीत, किसी भारतीय विश्वविद्यालय का कोई पी-एच० डी० प्राप्त व्यक्ति चाहे किसी अनुशासन-विशेष के प्रारम्भिक शोध-सिद्धांतों को भी भली प्रकार न जानता हो, चाहे उसने कोई भी ग्रन्थ प्रकाशित न किया हो, फिर भी उसे सामान्यतः उपयुक्त व्यक्ति समझा जाता रहा है, क्योंकि उसके पास तथाकथित 'कागज़ी योग्यता' होती है। मैंने बच्चन को सुझाया कि वे कैम्ब्रिज में ही रहें (शायद ऐसा सोचने में मेरा भी कुछ स्वार्थ रहा हो), आक्स-फ़र्ड जाने का विचार छोड़ दें और किसी डिग्री के लिए काम करें। लगभग एक पखवारे

बाद, उन्होंने मुझे बताया कि कैम्ब्रिज में ही पी-एच० डी० के लिए कार्य करने का उन्होंने निश्चय कर लिया है। मुझे विशेष प्रसन्नता इस बात से नहीं थी कि उन्हें अंग्रेज़ीसाहित्य पर काम करने के लिए डिग्री मिलेगी, क्योंकि उनके जैसे प्रतिष्ठित कवि को डिग्री की ऐसी कोई आवश्यकता न थी। मैं तो यह सोचकर प्रसन्न था कि धुरन्धर विद्वानों के निर्देशन में आधुनिक अंग्रेज़ी कविता के अध्ययन-मनन द्वारा स्वयं उनकी कविता कुछ और समृद्ध हो जाएगी। बहरहाल, मुझे यह भी पता चला कि कैम्ब्रिज में उनके रुकने के पीछे उनकी योग्य पत्नी का भी बहुत-कुछ हाथ था।

बच्चन ने अपना काम अत्यन्त मनोयोगपूर्वक शुरू कर दिया। जून १९५२ में, उन्होंने अपना प्रथम निबन्ध 'येट्स में तर्कातीत तत्त्व' लिखा। अब तक उनके सम्मुख अपनी राह बहुत-कुछ साफ़ हो गई थी। एक शाम उन्होंने मुझे बताया कि उन्होंने अपनी स्थापनाएँ निरूपित कर ली हैं। यह सुनकर मुझे कुछ हँसी-सी आई और मैंने सोचा कि एक कवि की भाँति वे हवाई बातें कर रहे हैं। मैं तब भी यही समझता था और आज भी समझता हूँ कि किसी भी तरह की शोध के लिए विस्तृत अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। बच्चन को इंग्लैण्ड आए अभी कुछ ही समय तो हुआ था, इतनी जल्दी वे अपनी स्थापनाएँ कैसे निरूपित कर सकते थे! अभी तो बहुत कुछ पढ़ने और गुनने को शेष बचा था! तब मैं यह नहीं जान सका था कि एक कवि के मन में वस्तुओं के कारणों का विश्लेषण और उनकी जटिलताओं का हल एक तरह की कौंध द्वारा भी उपस्थित हो सकता है! यही नहीं, बच्चन पुस्तकालय में तो कठिन परिश्रम करते ही थे, अपने निवास-स्थान पर भी उन्होंने दो तरह की मेज़ें रख छोड़ी थीं : एक तो सामान्य नीची मेज़ और दूसरी ऊँची मेज़, जो उन्होंने ख़ास तौर से, खड़े होकर काम करने के लिए बनवाई थी। इस तरह, वे कभी बैठकर और कभी खड़े होकर लगातार घंटों काम करते रहते थे। बच्चन अपने निर्देशक टी० आर० हेन के कमरे में भी काम करते थे। ये महाशय अत्यन्त उदार तथा दयालु थे और संभवतः येट्स के विषय में सबसे अधिक समर्थ अधिकारी विद्वान् भी। इन बातों का मतलब यह नहीं कि बच्चन कोई किताबी कीड़े थे और उनका ज्ञान पुस्तकालय तक ही सीमित था। कई बार उन्होंने अपनी यह धारणा हम लोगों को बताई भी थी कि साथ-साथ चिन्तन-मनन न होता रहे तो बहुत ज़्यादा पढ़ने से दिमाग़ ख़राब हो जाता है। दूसरों के खयालों और विचारों का संग्रह ज्ञान के साधन के रूप में एक सीमा तक तो आवश्यक होता है, पर उसके बाद वह मौलिकता को नष्ट कर देता है। मैकाले इस तथ्य के एक विशेष उदाहरण थे।

हम कुछ लोग मिलते-जुलते रहते थे और सामाजिक विषयों में रुचि लेते थे। अंग्रेज़ी कवि डोनाल्ड डन, इतिहासकार पीटर फ्रेज़र और उनकी पत्नी – टैगोर की प्रशंसिका—ब्रेन्डा, भाषाशास्त्री डेविड मैक्युचिन, क़ानून के विद्यार्थी मिलन बनर्जी, अर्थ-शास्त्री इन्दरजीत सिंह, गणितज्ञ रणवीरसिंह बाबा, अंग्रेज़ी के शोध छात्र हमीद अहमद खाँ, एम० एम० भल्ला, राजनीति-दर्शन के विद्यार्थी—कवि इक़बाल के पुत्र—जावेद इक़बाल तथा कुछ अन्य लोग विचार-विमर्श करते थे, जिनमें बच्चन गहरी दिल-चस्पी लेते थे। इस विचार-विमर्श के विषयों में से कुछ थे : भारतीय मनीषा आलोच-

नात्मक क्यों नहीं है ? भारत आशानुकूल उन्नति क्यों नहीं कर पा रहा है ? भारतीयों में देशभक्ति की पर्याप्त भावना क्यों नहीं है ?

कैम्ब्रिज-प्रवास के आरम्भिक काल में बच्चन ने उमर ख़ैयाम के उस नये अनुवाद में बड़ी रुचि ली, जो प्रोफ़ेसर आरबेरी ने किया था। नव-प्राप्त, दुर्लभ मूल पांडुलिपि से किए गए इस अनुवाद का हिन्दी रूपान्तरण वे करना चाहते थे। लेकिन स्वयं अपने शोध कार्य और काव्य-रचना में अत्यन्त व्यस्त होने के कारण, सम्भवतः वे उसके लिए समय नहीं निकाल सके।

छुट्टियों में हमने रोमांटिक कवियों विशेषकर वर्ड्सवर्थ और कोलरिज के निवास-स्थल 'लेक डिस्ट्रिक्ट्स' की सैर का कार्यक्रम बनाया। किराये की मोटर लेकर इन्दर, बच्चन, मैं और मेरी पत्नी झील प्रदेशों में गए। हमने गाँवों को देखा और मैनचेस्टर जैसे भारी-भरकम शहरों से होकर गुजरे। हम लंकास्टर के पुराने विशाल प्रासादों के भीतर गए—जो भाँय-भाँय करते-से लग रहे थे। अंग्रेज़ संस्कृति की परम्पराएँ बनाए रखने वाली इंग्लिस्तानी सरायों में भी हमने काफ़ी कुछ समय बिताया। हमने देखा कि बरसात के ठीक बाद, चिमनियों का धुआँ उठकर इंग्लैंड के अपने ख़ास कोहरे के साथ किस तरह घुल-मिल जाता है। रास्ते में हमने ब्लैकपूल का प्रकाश-समारोह देखा और समुद्र तट से टकराते तूफ़ान का भी अनुभव किया, जो निश्चय ही बहुत सुखद न था। लेकिन हम सबसे अधिक आनन्दित और उल्लसित हुए ग्रासमियर में। वहाँ हम एक पुराने मकान में ठहरे, जिसकी निचली मंज़िल में बेहद पुरानी दिखती और तम्बाकू की गन्ध में लिपटी किराने की एक दूकान थी। शाम के वक़्त हलकी-हलकी बूँदें पड़ने लगी थीं। हम निकट के उस गिरजाघर में गए, जहाँ सिर्फ़ घास से ढकी हुई वर्ड्सवर्थ की समाधि थी। समूचा दृश्य अत्यन्त करुण था। बच्चन ख़यालों में बहुत गहरे डूब गए थे। हम लोगों ने वहाँ शायद ही कोई बात आपस में की हो। सब के सब उस विस्तृत घाटी की ओर ताकते रहे, जो आँखों के सामने फैली हुई थी। वह एक मनोहर दृश्य था : झरने की मधुर कल-कल ध्वनि, चारों ओर फैली हरियाली, कुंज और लताएँ, घाटी को घेरे हुई पहाड़ियाँ और सर्वत्र गम्भीर, उदात्त निस्तब्धता। यहाँ जन्म लेने वाले व्यक्ति के सौभाग्य का क्या कहना ! बच्चन बोले, "यहाँ के सुन्दर प्राकृतिक वातावरण में तो किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को कवि बना देने की सामर्थ्य है !"

दूसरे दिन, २८ सितम्बर की सुबह, हम वर्ड्सवर्थ का निवास-स्थान देखने गए। वह झील के बिलकुल सामने एक अलग, सादी और खुली जगह में बना हुआ था—उस सड़क के एक कोने में, जहाँ लंदन से आनेवाली गाड़ियाँ ठहरती थीं। मकान दो-मंज़िला था। उसकी खिड़की से सम्पूर्ण विस्तृत घाटी और उसकी बहुरंगी तथा आकर्षक दृश्यावली दिखाई देती थी। मकान में प्रवेश करते समय बच्चन ने कहा, "दरवाज़े तो इतने छोटे हैं ! वर्ड्सवर्थ जैसा लम्बा व्यक्ति इनमें से कैसे निकलता होगा !" मकान में वर्ड्सवर्थ का बिस्तर, बक्स, छाता, चश्मा, हैट आदि वस्तुएँ जैसी की तैसी सुरक्षित थीं। एक कमरा डोरोथी का था और कई अन्य कमरे भी, जिनमें कोलरिज, सदे, डि क्विन्सी ग्रासमियर आने पर ठहरते थे। ऐसा लगता था, मानो यह सब अभी कल ही की बात

हो ! समूचे वातावरण पर अवसाद की गहरी छाया थी। कोठे पर वर्ड्सवर्थ की बैठक थी, जहाँ वे कविताएँ लिखते थे।

लौटते समय, हम रस्किन के निवासस्थान से होकर गुज़रे और हमने रस्किन-संग्रहालय भी देखा। पहली अक्टूबर को हम हावर्थ में ब्रान्ट-बहनों का मकान देखने गए। एक गिरजाघर के पास बना वह मकान आसपास की उन तमाम जगहों का एक अवसादपूर्ण चित्र-सा प्रस्तुत करता था, जिनके आधार पर 'द वुदरिंग हाइट्स' की दुखान्त कथा सोची और लिखी गई होगी।

बच्चन ब्रिस्ट्ल भी गए। वहाँ हम अपने मित्र मोहन-दंपति के साथ ठहरे। बाथ नामक सुन्दर नगर उसके पास ही था। हमने रोमन हॉट स्प्रिंग्स (गरम पानी के सोते) भी देखे। बच्चन राजा राममोहन राय का वह स्मारक देखना चाहते थे, जहाँ उनके अवशेष संचित हैं। अतः वे आर्नो घाटी में गए और शाम के समय एक घंटा उस मकान में भी रुके, जिसमें कभी राजा राममोहन राय रहते थे। बच्चन ने डारसेट में मैक्सगेट स्थित हार्डी का मकान भी देखा।

बच्चन अपने शोध-कार्य के प्रसंग में आयरलैंड भी गए। वहाँ उन्होंने येट्स से सम्बद्ध अधिकांश स्थलों की यात्रा की। लौटने पर उन्होंने हमें उस द्वीप के व्यक्तियों और स्थानों के विषय में कितनी ही बातें बताईं। उनका आयरलैंड- प्रवास अत्यन्त सुखद रहा और वहाँ से वे अपने शोध-कार्य के लिए बहुमूल्य सामग्री भी लाए।

बच्चन एक सप्ताह के लिए आक्सफ़र्ड भी गए थे। वहाँ उन्होंने एक साहित्यिक गोष्ठी में भाग लिया और अनेक लोगों से मित्रता की। डेनिस ग्रे और उनकी आकर्षक पत्नी पैट्रिशिया ने बच्चन को मारमथशायर के अपने घर में निमन्त्रित किया था और बाद में बच्चन वहाँ गए भी थे।

ऐसा प्रतीत होता था कि बच्चन जो-कुछ भी देखते थे, उसकी अंतरात्मा में पैठ कर, उसके साथ कल्पनाजन्य सहानुभूति स्थापित कर लेते थे। उनमें मैंने हमेशा सीखने और समझने की इच्छा और प्रेम करने तथा रचने की आकांक्षा पाई। मुझे याद है कि जब वे ब्रिस्टल में थे तो कितने बेचैन रहते थे और नवीन अनुभवों से अनुप्राणित उनकी कविता कितने नये-नये रूपों और लयों में फूट निकलती थी। हम देखते रहते थे कि उनकी स्वप्निल आँखें मुँदी-मुँदी-सी रहकर मानो भीतर ही भीतर डूबी, उनके भावलोक को उजागर करती रहती थीं।

बच्चन जहाँ भी जाते थे, उनके प्रशंसक उन्हें घेर लेते थे। बच्चन अपनी नवीनतम रचनाएँ उन्हें सुनाते थे। लेकिन उनका घोषित सिद्धान्त यह था और इसे वे मूर्त रूप देते भी थे कि रूपाकार और शब्दों से कहीं बड़ी चीज़ है : जीवन ! एक सच्चे कलाकार की भाँति बच्चन के भी दिल में एक आग थी, और कैम्ब्रिज के दिनों में जो लोग उनके साथ थे और जिन्हें बच्चन को निकट से जानने का अवसर मिला था, वेकोशिश करते रहते थे कि एक लौ उन्हें भी मिल जाए और वे अपने मन के अँधेरे कोनों को थोड़े उजाले से भर सकें।

एक प्यार भरा व्यक्तित्व

सतीशबहादुर वर्मा

जनता ने जिसे सदैव प्रेम और शृंगार का कवि माना, जिसे सदैव हालावाद का जनक कहकर पुकारा, उसे क्या मालूम कि वह कवि कितना हरफ़नमौला है, उसका व्यक्तित्व कितना प्यार भरा है ! पर अप्रत्यक्ष रूप से उसने अपने प्यार से ही न जाने कितनों का हृदय जीत लिया है। एक समय कवि-सम्मेलनों के सम्राट् कहे जाने वाले डा० हरिवंशराय बच्चन के पास आज भी वह वशीकरण मन्त्र है, जिसके प्रभाव से श्रोता मन्त्रमुग्ध बैठे रहते हैं। वे कोई स्वामी विवेकानन्द या पॉल गोल्डीन नहीं हैं, फिर भी उनके व्यक्तित्व का वैद्युत आकर्षण कुछ भी करा लेता है, क्योंकि वे पाठकों को निराश नहीं करते। उनका कहना है कि "समालोचकों की राय से अधिक मुझे अपने पाठकों की राय पर विश्वास है।"

मुझे याद आती है एक छोटी-सी कविगोष्ठी की, जो उनके बरेली आगमन (७ नवम्बर, १९६४) पर ज़िला बोर्ड हॉल में आयोजित की गई थी। रात को सूचना पाते ही प्रशंसकों और साहित्यिक बन्धुओं की भीड़ लग गई। 'मधुशाला-मधुशाला' की तो पुकार लगती है, सो लगी। स्वयं बच्चनजी का कहना है कि 'मधुशाला' मेरी शत्रु साबित हुई है। इसके सामने श्रोता मेरी अच्छी से अच्छी रचना नहीं सुनना चाहते। फिर उनसे कोई लोकगीत सुनाने का आग्रह किया गया। तब तक 'त्रिभंगिमा' प्रकाशित होकर आ चुकी थी। उन्होंने कहा, "लोकगीत अकेले क्या गाऊँ, वह तो सहगान के रूप में अच्छा लगेगा, आप लोग भी गाएँ, तो मैं सुना सकता हूँ।" जनता इसपर भी तैयार थी। फिर क्या बात थी, हॉल में गूँज उठा—'महुआ के नीचे मोती झरे—महुआ के।' वे एक पंक्ति कहते और सब उसे बड़े तल्लीन होकर दोहराते।

बच्चनजी सब कुछ होते हुए भी एक इन्सान हैं जिनके शरीर में हृदय है और हृदय में प्यार। उनके परिवार में उनके प्यार का अमर स्रोत कभी नहीं सूखा। अपनी पहली पत्नी श्यामाजी को उन्होंने कितना प्यार दिया, इससे कौन अनजान है। 'निशा-निमन्त्रण' ही नहीं, बाद की अन्य कृतियों में भी उनका करुण हृदय उमड़ ही पड़ा है। तेजीजी तथा अपनी सन्तान को वे कितना प्यार करते हैं, इसका अन्दाज़ा बदले में मिलने वाले आदर और प्रेम से लगाया जा सकता है। परिवार के सदस्य ही नहीं; मित्रों, पाठकों, सहयोगियों---सभीको उन्होंने अच्छी तरह से अपनाया है, बिना किसी भेद-भाव या स्तर का विचार किए गले से लगाया है। कौन कहता है, वे 'रिज़र्व्ड नेचर' के हैं ? उन जैसा हँसमुख, मिलनसार और विनोदी प्रकृति का व्यक्ति मिलना मुश्किल है। जब

के किसीके मित्र होते हैं या किसीको प्यार की दृष्टि से देखते हैं, तो उनका हृदय बिल्कुल साधारण व्यक्ति जैसा होता है। उन्हें अपने पद, यश या प्रतिष्ठा का भाव तो छू भी नहीं गया है। सौभाग्य से ही ऐसे 'इन्सानों' की घनिष्ठता और सम्पर्क प्राप्त होते हैं।

कभी-कभी तो राह चलते ही वे मित्र बना लेते हैं। इंग्लैंड से लौटते समय जल-यान में उनका परिचय एक आयरिश कुमारी नोरा से हुआ था, जिसकी सुन्दरता से वे इतने प्रभावित हुए कि एक गीत लिख डाला, जो 'प्रणय पत्रिका' में संगृहीत है :

सबसे कोमल
आयर मधुबन की कलिका का
तुम नाम अगर मुझसे पूछो
भर आह कहूँगा मैं नोरा।

पुराने दोस्त की याद

उनको कॉलेज और विश्वविद्यालय के दिनों के मित्र कभी नहीं भूलते। बरेली से उनका काफ़ी पुराना सम्बन्ध है और उस बार भी वहाँ आते ही उन्हें अपने सारे पुराने मित्रों की याद आ गई, जिनसे वे वर्षों से नहीं मिले थे। श्री रघुवंशकिशोर कपूर के यहाँ भी गए और उनके परिवार के सब लोगों से मिले। अपने एक पुराने मित्र से मिलना वे न भूले—वे थे श्री बल्देव सहाय। मैं भी उनको जानता था अत: वे मेरे साथ ही गए। हम लोग पहुँच तो गए, पर वहाँ जब अपना परिचय दिया तब घर के लोग समझे। श्री बल्देव सहाय को बुलाया गया, पर वे आए ही नहीं। जब बच्चनजी को पता लगा कि उनकी मानसिक स्थिति ठीक नहीं है तो उन्हें बहुत बुरा लगा। पर वे अपने इन पागल मित्र से मिलने के बहुत इच्छुक थे। कई बार बुलाए जाने पर श्री बल्देवसहाय आए और दोनों मित्र एक-दूसरे के गले लग गए। सब लोग बैठे। श्री बल्देवसहाय से पूछा गया कि क्या वे बच्चनजी को पहचानते हैं, पर वे कुछ भी न बोले। बच्चनजी ने स्वयं ही विद्यार्थी-जीवन की कई घटनाएँ सुनाईं, तो वे हँस भर दिए। एक बार कुछ ध्यान आया तो इतना ही बोले, "अरे बच्चन, तू आजकल कहाँ है, इलाहाबाद में ?" दोनों मित्र एक दूसरे को देख रहे थे, समझ रहे थे पर कुछ कहने में असमर्थ थे। श्री बल्देव सहाय की हँसी बता रही थी, उनके मन-पटल पर पुरानी स्मृतियों के कितने ही चित्र बन रहे हैं, जिनको वे मानसिक असंतुलन के कारण अभिव्यक्त नहीं कर पाते।

बच्चनजी को उनकी स्मृति भी लुप्त हो जाने का बड़ा दुःख था। किन अरमानों से अपने दोस्त से मिलने आए थे और वहाँ उनकी क्या हालत थी ! उन्होंने मुझे बताया, "बल्देव एम०ए० में मेरे सहपाठी थे और मुझे बहुत प्यार करते थे। मेरी कविताओं पर मुग्ध होकर एक बार उन्होंने मुझे एक बेशक़ीमती फ़ाउंटेनपेन भेंट में दिया था, 'बच्चन मैं चाहता हूँ, इससे तुम और अच्छी कविताएँ लिखो।' 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' के बहुत-से गीत उसी क़लम से मैंने लिखे थे। कार चलाने में वे बड़े माहिर थे और बड़ी तेज़ कार चलाते थे। उनकी बुद्धि बड़ी ही प्रखर थी। मुझे क्या मालूम था कि उसकी यह क़ीमत उन्हें देनी पड़ेगी।"

एक मधुर सम्बन्ध

तभी एक और रहस्य का उद्घाटन हुआ। बरेली में बच्चनजी सदैव भीड़ और औपचारिकताओं से बचते रहे। रिक्शे में चलना उन्हें प्रिय लगा। हम लोग रिक्शे में चल रहे थे और वे मुझे बरेली से गुँथी मौन मधुर स्मृतियों की कहानी सुना रहे थे। उन्हें अपने परम मित्र स्वर्गीय प्रो० ज्ञानप्रकाश जौहरी की बहुत याद आई। वे कहने लगे, "यही कहीं पावर हाउस के पास उनका बँगला था, जब भी मैं आता, हम लोग वहीं इकट्ठे होते। अब मालूम नहीं, मैं उस स्थान को पहचान भी सकूँगा। वास्तव में बरेली में ही मेरा विवाह भी हुआ था। वर्ष का अन्तिम दिन था। उसी दिन निर्णय किया गया और एक तार तेजीजी को लाहौर भेज दिया गया। श्री और श्रीमती जौहरी का इसमें काफ़ी हाथ था।"

श्री जौहरी अंग्रेज़ी के प्रोफेसर थे और 'स्वर्णिम जिह्वा' वाले वक्ता कहे जाते थे। उन्होंने 'दि पोयट्री ऑफ़ बच्चन' नामक लेख अंग्रेज़ी में लिखा था, जो १६३६-'४० में बरेली कॉलेज पत्रिका के कई अंकों में प्रकाशित हुआ था। सम्भवतः बच्चनजी की कविता की यह पहली ही संतुलित समालोचना थी, जिसके विषय में आज कोई भी नहीं जानता।

भग्न मूर्तियों की भेंट

मुझको बच्चनजी से सहज ही बहुत स्नेह प्राप्त हुआ है। जब मैंने उन्हें चाय पर आने का निमन्त्रण दिया तो वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "हाँ, तुम्हारे यहाँ ज़रूर चलेंगे।" मैंने उनके पुराने मित्रों को निमन्त्रित कर उनसे मिलाने का प्रयत्न किया, जिससे उन्हें काफ़ी सन्तोष हुआ होगा। मुझे याद है, मेरे यहाँ उन्होंने कुछ रुबाइयाँ सुनाने के बाद निरालाजी पर लिखी कविता सुनाई थी, जिसने सबको बड़ा प्रभावित किया। मेरे पिताजी ने बताया, "वह तो तुम्हारी अपने पिताजी से तुलना कर रहे थे।" मैंने पूछा, "कैसे ?" तो उन्होंने बताया, "वे कहते थे, मेरे पिताजी सतीश की ही तरह दुबले-पतले और लम्बे थे। दूसरा तर्क उन्होंने 'चाइल्ड इज़ दि फ़ादर ऑफ़ मैन' वाली कहावत को सुनाकर प्रस्तुत किया।" हास्य-विनोद के कारण बच्चनजी की बातें और मधुर बन जाती हैं। जब कभी वे किसीसे मिलते हैं स्पष्ट और खुले दिल से।

बरेली में सदैव ही 'गाइड' की तरह उन्होंने मुझे साथ रक्खा था। उनकी ख़ातिर-दारी होती थी और माल अपने को खाना पड़ता था।

मुझे मालूम था कि वे कलात्मक वस्तुओं से बहुत प्रेम करते हैं अतः विदा के समय दो भग्न मूर्तियाँ मैंने उन्हें दी थीं, जो उन्हें बहुत पसन्द आई। एक मैं कन्नौज से लाया था और एक शंकिसा (फ़र्रुख़ाबाद) से। जब वे दिसम्बर '६४ में प्लूरिसी से ग्रस्त थे तो उन्होंने एक पत्र में इन मूर्तियों के विषय में लिखा था, "तुम्हारी याद हर समय मेरे साथ है। मेरे बिस्तरे के पास एक मेज़ है। उसपर एक गुलदस्ते के नीचे तुम्हारी दो मूर्तियाँ रखी हैं। दो मूर्तियों को मैंने एक कर दिया है। कृष्ण को देखकर राधा जैसे

मूर्च्छित हो रही हैं। कभी यहाँ आकर देखना। वे मुझे बहुत तरह की प्रेरणा देती हैं—काश कि किसी अंश को मैं शब्दों में रख सकता।

किन्तु बहुत कुछ मन की केवल
धड़कन बनकर रह जाती है।" (१७, १२, '६४)

इन मूर्तियों को आज भी वे अपनी मेज़ पर बड़े प्यार से रखते हैं। जब मैं दिल्ली गया तो उन्होंने मुझे दिखाई भी थीं। उनकी पढ़ने की मेज़ पर आज भी वे स्थान पा रही हैं।

उन्हें पत्थर, लकड़ी, मिट्टी—सभीकी उन आकृतियों से प्यार है, जिनमें कोई संदेश है या जो किसी विषय की ओर संकेत करती हैं। मुझे आज भी याद है कि जब सबसे पहली बार मैं दिल्ली गया था तो उनके बँगले के बाहर बरामदे में इन मूर्तियों आदि को देखकर आश्चर्यचकित रह गया था। हर ओर शान्ति थी। मेरा तो हृदय ही बैठा जा रहा था, यदि बच्चनजी स्वयं बाहर आकर गले से न लगाते तो शायद मैं दो शब्द बोलने लायक़ भी न रहता। मूर्तियों का संयोजन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया था और तुलसी आदि की पंक्तियों से शीर्षक भी दिए गए थे। कमरे में लगे चित्र भी सार्थक थे। उस भेंट में मैंने यह अनुभव किया कि जो बड़ा है, उससे मिलना मुश्किल नहीं है। वे बँगले के बाहर तक मुझे पहुँचाने आए थे और उन्होंने बरामदे में रखे पत्थरों और मूर्तियों के महत्त्व को मुझे समझाया था।

प्यार के देवता

वे प्यार से जीने और जीने देने में विश्वास करते हैं। मुझे सदैव ही उन्होंने यही राय दी है—

"अपनी सहृदयता और कोमलता की रक्षा करना; दुनिया उनकी दुश्मन होती है।···दुनिया को कुछ देने योग्य बन सको—लेने योग्य दुनिया में कुछ नहीं सिवा प्यार के—सदा उसके अधिकारी बने रहो।·· तुम्हारे प्रेमी तुमसे कभी निराश न हों, प्रेमी की निराशा से बड़ा अभिशाप नहीं।"

उनके प्यार में वह शक्ति है कि दो अपरिचितों को मिला देता है। कानपुर के उपेन्द्रजी पर भी उनका बड़ा स्नेह है और यही एक साधन था, जिसने उपेन्द्रजी से मेरा बड़े नाटकीय ढंग से परिचय कराया और उन्हें मेरा घनिष्ठ मित्र बना दिया।

मुझे दुःख में सदैव उन्होंने साहस-धैर्य का सम्बल दिया है। पिताजी के स्वर्गवास का जैसे ही उन्हें समाचार मिला, उन्होंने मुझे पत्र लिखा। अन्तिम शब्दों में कितनी गर्मी है, "चाहता हूँ चुपचाप तुम्हारे पास आ सकता! कुछ देर चुपचाप तुम्हारे पास बैठता। मन की सब बातें शब्दों से नहीं कही जातीं।·· मेरा बहुत प्यार।" (२, ७, '६५)

मैं उस समय काफ़ी दुखी था। ऐसे में उनका पत्र मुझे कितनी शक्ति देता था, मैं कह नहीं सकता। उनको मेरा कितना ध्यान था, "मेरा ध्यान दिन में कई बार तुम्हारी ओर जाता है और मैं सोचने लगता हूँ, तुम उस समय क्या कर रहे होगे! ऐसे समय मन में जो प्रश्न उठते हैं, उनका कोई उत्तर नहीं—हम जैसों के लिए बहुत कुछ अज्ञात ही

रहेगा पर जो ज्ञात है, स्थूल है, समक्ष है, वही क्या कम चुनौती है– उसीको हम स्वीकार करें – मेरा बहुत प्यार, बहुत संवेदनाएँ।" (६, ७, '६५)

मैं अपने पिताजी को दादा कहता था पर तभी से बच्चनजी को दादा कहता हूँ। उनके वे पत्र मेरे लिए मार्ग-निर्देशक बन गए। आज भी एक-एक पंक्ति पढ़कर लगता है, वे महामानव हैं। पर नहीं, वे तो एक इन्सान हैं, प्यार से भरपूर सच्चे इन्सान, जिनमें दम्भ और व्यावहारिकता का अंश लेशमात्र भी नहीं। एक पत्र में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए उन्होंने मुझे लिखा था, "सतीश, मैं जब अपनी मेज़ पर बैठता हूँ, मेरा ध्यान कुछ देर को तुम्हारे पास चला जाता है—मै तुम्हारे पास नहीं आ सका, शायद मेरा मन उसी अपराध का प्रायश्चित्त करता है। अकेले मत बैठा करो और न ख़ाली। मेरा बहुत-बहुत प्यार···।" (२०, ७, ६५)

न जाने कितनी घटनाएँ हैं जो मुझे बहुत कुछ लिखने के लिए प्रेरित करती हैं। जिन दिनों वे इलाहाबाद गए थे (मई '६५), उन्होंने मुझे भी बुलाया था। आदरणीय पं० सुमित्रानन्दन पन्तजी के यहाँ भेंट हुई। मेरी पन्तजी से तो बातचीत होती रही, पर बच्चनजी कुछ व्यस्त रहे। दिल्ली लौटकर उन्होंने अफ़सोस ज़ाहिर किया कि कार्य-व्यस्तता के कारण अधिक समय तुम्हारे साथ न बिता सका।

मैंने अपना काव्य-संग्रह 'लहर और लपटें' उन्हें भेजा तो उनको बहुत प्रसन्नता हुई। उन्होंने लिखा, "मैं इसलिए नहीं प्रसन्न हूँ कि पुस्तक मुझे समर्पित है बल्कि इसके अलावा। इस संग्रह को पढ़ने के बाद उन्होंने मेरे व्यक्तित्व का एक रेखाचित्र ही खींच दिया। क्या इस सबके पीछे उनका प्यार-भरा व्यक्तित्व कार्य नहीं करता? सदैव ही वे मेरे स्वास्थ्य, खाने-पीने के विषय में लिखते रहते हैं। उनकी हर बात कितनी सीधी और आत्मीयतापूर्ण होती है। अभी कश्मीर गए थे, वहाँ से पैरों की तकलीफ़ और गठिया का प्रसाद लेकर लौटे। उसका कारण बताते हुए लिखा, "कभी-कभी मैं नाम के अनुरूप बच्चा हो जाता हूँ, कश्मीर में बरफ पर चला और यह रोग ले आया।" वे कभी किसीको निराश नहीं करते। दूसरों के स्नेह को वे आदर देते हैं। उनके ही शब्दों में, "स्नेह तो अकारण ही मिलता है और मुझे किसी पूर्वजन्म के शुभ कर्म से अकारण बहुतों का स्नेह मिल गया है। प्रयत्न में हूँ कि इस जन्म में भी कुछ सँजोऊँ। अपनी सीमाओं और असफलताओं से मैं अनभिज्ञ नहीं।"··· (पत्र, ३, १ '६१)

क्या ये सीमाएँ और असफलताएँ एक इन्सान की सम्पदा नहीं हैं! बच्चनजी तो सही अर्थों में एक इन्सान हैं। उनकी कविता इन्सान की कविता है, इन्सान के लिए है और इन्सान के द्वारा।

प्रीति और प्रेरणा के स्रोत

उपेन्द्र

बच्चनजी की कविता से मेरा परिचय छात्र-जीवन में —आज से लगभग पन्द्रह साल पूर्व —हुआ था, लेकिन उनके दर्शन का सौभाग्य मुझे मिल सका पहली बार कानपुर की एक साहित्यिक गोष्ठी में। मुश्किल से सात-आठ वर्ष हुए होंगे। गोष्ठी कानपुर के प्रसिद्ध व्यवसायी श्री मुरलीधर कानोडिया के घर पर आयोजित थी। 'हॉल' में आयोजित इस गोष्ठी ने एक छोटे-मोटे कवि-सम्मेलन का रूप ले लिया था। जब हम लोग पहुँचे, बच्चनजी कहीं गए थे। काफ़ी देर तक उनकी प्रतीक्षा करने के बाद गोष्ठी की कार्रवाई शुरू कर दी गई। संयोग से उस समय मैं ही कविता पढ़ रहा था जब किसीने कहा, "बच्चनजी आ गए।" और फिर इस वाक्य की पुनरावृत्ति भिन्न-भिन्न कंठों द्वारा हुई। मैंने कविता-पाठ तो रोक दिया, लेकिन मुझे बच्चनजी कहीं नहीं दिखाई पड़े। कई बार घूमकर इधर-उधर देखा, वही इने-गिने लोग थे। मैं बड़े चक्कर में था—बच्चनजी आ गए तो चले कहाँ गए? कब आए और कब गए? मुझे क्यों नहीं दिखे? खैर, इतने में मेरे सामने का माइक लेकर किसीने (शायद देवदत्तजी थे) कहा, "मैं बच्चनजी से प्रार्थना करता हूँ कि वे मंच पर पधारें," और तब मैंने देखा, श्रोताओं में सबसे पीछे छिपकर बैठी हुई उस मूर्त्ति को, जो आहिस्ता से उठकर मंच पर आ विराजी। मन में फुरफुरी-सी होने लगी, 'यही बच्चन जी हैं! मधुशाला के लोकप्रसिद्ध कवि बच्चनजी यही हैं?'

कई बातें एक साथ मन में आईं जो कम से कम मेरे लिए अप्रत्याशित थीं। बच्चनजी सफ़ेद धुली हुई खादी के परिधान में थे और मैंने उनका चित्र जो किताबों में देखा था, उसमें सूट और टाई थी। इसलिए वे बिलकुल बदले हुए—लगभग एक भिन्न व्यक्ति मालूम हुए। दूसरे, मुझे उनका इस प्रकार आकर नीचे श्रोताओं के बीच बैठना कुछ नया-सा, कुछ आकर्षक-सा लगा। उसके पहले मैंने किसी कवि को श्रोताओं के बीच बैठते हुए नहीं देखा था। बाद में पता चला, बच्चनजी, कविता-पाठ के बीच व्यवधान न हो, इसलिए नीचे बैठ गए थे।

खैर, कुछ कवियों ने अपनी रचनाएँ सुनाईं और फिर बच्चनजी से अपना काव्य-पाठ आरम्भ करने की सादर प्रार्थना की गई। बच्चनजी ने जब अपना गीत शुरू किया तो मेरी प्रत्याशा को फिर एक धक्का लगा। मैंने सोचा था, बच्चनजी का कंठ 'मुकेश' या 'रफ़ी' जैसा नहीं तो नीरज, वीरेन्द्र मिश्र जैसा तो होगा ही – तभी तो कवि-सम्मेलनों के सम्राट् माने जाते हैं। लेकिन बच्चनजी के काव्य-पाठ में कंठस्वर का माधुर्य उतना

नहीं था। कुछ और बात थी, जिसका जादू श्रोताओं के ऊपर था। उनके काव्यपाठ की भी एक अपनी शैली है—एक निराली धज है। जिसने उन्हें एक बार भी सुना है, वह इस निराले ढंग को भुला नहीं सकता। उस दिन की संध्या भी अविस्मरणीय है। रस की जैसी अजस्र वर्षा हुई, आनन्द की जो अपूर्व अनुभूति हुई, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। बहुतों को 'मधुमती भूमिका' का मतलब समझ में आ गया। एक सज्जन तो भावावेश में आकर बच्चनजी से लिपटकर रोने ही लगे।

यह उनके साक्षात्कार का प्रथम अवसर था। इसके बाद उनके अधिकाधिक निकट आने और उनका दुर्लभ स्नेह प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे बार-बार मिलता रहा। आज तो वे हमारे पूरे परिवार के लिए सर्वाधिक पूज्य व्यक्ति बन चुके हैं।

बच्चनजी के सम्बन्ध में जब मैं सोचता हूँ तो मेरी आँखों के सामने उनके दो रूप आ जाते हैं। उनके व्यक्तित्व के ये दो पहलू हैं। एक है उनका मधुर भावमय कवि-रूप जो अत्यन्त सरल, संवेदनशील और आत्मीय है, तो दूसरा उसी कवि के पीछे छिपा हुआ एक कर्मनिष्ठ तेजस्वी मनुष्य का रूप, जो गूढ़, गंभीर और गर्वीला है। पहले में कुसुम की कोमलता है तो दूसरे में वज्र की दृढ़ता। पहला प्यार करता है तो दूसरा प्रेरणा देता है। उनके काव्य पर भी व्यक्तित्व के इन दोनों रूपों की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है।

छोटे से छोटे व्यक्ति को अपना बनाकर रखना, उसे सम्मान और महत्त्व देना वे खूब जानते हैं। बड़ों को सम्मान देना और छोटों को प्यार करना कोई उनसे सीखे। सनेहीजी लाला लाजपतराय अस्पताल में बीमार पड़े हैं और बच्चनजी फूलमालाएँ लिए हुए टैगोर रोड छावनी से उन्हें देखने जा रहे हैं। 'गढ़ाकोला' के साहित्य-प्रेमी लोग निराला के जन्मदिन पर उन्हें बुलाते हैं और कवि-सम्मेलनों के लम्बे पारिश्रमिक अस्वीकार कर घर बैठने वाले बच्चनजी दिल्ली से अपना किराया खर्च करके कानपुर और कानपुर से कानोडियाजी की मोटर माँगकर उसमें पेट्रोल भराए हुए हम सबको साथ लिए हुए 'गढ़ाकोला' चले जा रहे हैं—खेत और खाइयाँ पार करते, नहर और नाले लाँघते हुए, धूल के बादलों से घिरे हुए, रुक-रुककर रास्ता पूछते हुए, भूलते-भटकते आगे बढ़ रहे हैं। एक तो निराला की याद और दूसरे उन भोले ग्रामवासियों का प्रेम कि वे खिंचे चले जा रहे हैं और मुझे उनकी 'मिलन-यामिनी' की वे पंक्तियाँ बरबस याद आती हैं :

> चीर वन-घन, भेद मरु जल हीन आऊँ,
> सात सागर सामने हों, तैर जाऊँ,
> तुम तनिक संकेत नयनों से करो तो;
> आज आँखों में प्रतीक्षा फिर भरो तो!

जो उन्हें प्यारे हैं उनके लिए वे सब कुछ करने को तैयार रहते हैं। वे कहीं हों, उनका ध्यान उन्हें हमेशा रहता है, उनकी याद उन्हें बार-बार आती है। उनके साथ वे हँसते-खेलते और बात करते घंटों गुज़ार देते हैं। वे साथ हों तो उन्हें अपने स्वास्थ्य की फ़िक्र नहीं, अपने समय के मूल्य का ध्यान नहीं, अपनी प्रतिष्ठा की परवा नहीं। उनका

मान रखने के लिए वे अपमान भी ओढ़लें तो आश्चर्य नहीं। 'गुरुडम' उन्हें छू नहीं गया। अपने से कितने छोटे लोगों को उन्होंने हमेशा प्यार से गले लगाया है, अपने साथ बैठाया और खिलाया है, क्षण भर के लिए भी यह महसूस नहीं होने दिया कि वे उनसे कितने छोटे हैं—उम्र, पद और प्रतिष्ठा में। और मन्त्रियों के सहभोज में सम्मिलित होने को उनके पास समय नहीं है। उच्च पदाधिकारियों का निमन्त्रण भी स्वीकार करने से वे कतराते हैं। कॉलेज के विभागाध्यक्ष केवल पन्द्रह मिनट का समय चाहते हैं—अपने कॉलेज के किसी उत्सव में, लेकिन बच्चनजी साफ़ इन्कार कर देते हैं। उन्हें अमुक के घर जाना है, क्योंकि वे बेचारे स्टेशन पर आए थे। अमुक को वादा किया है, उसका घर भी देखना है, क्योंकि उसने पहले ही दिल्ली पत्र लिखकर वचन ले लिया था। अमुक के यहाँ शाम की चाय है, क्योंकि उसने बड़े प्यार से अपने घर बुलाया है। अमुक को आठ बजे रात का समय दिया है, वह बहुत दुःखी है, उसकी माँ कैंसर से पीड़ित महीनों से चारपाई पर पड़ी है।

किसीकी आँखों में उनके लिए स्नेह की झलक हो और उनके संवेदनशील हृदय पर उसकी तत्काल प्रतिक्रिया न हो -यह नामुमकिन है। किसीने उनके दरवाज़े पर दस्तक दी हो और उन्होंने उसे अपने आतिथ्य और स्नेह से नहला न दिया हो—यह असम्भव है। किसीने उनके सामने अपने मन की गाँठें खोली हों और उनकी आँखें सजल न हो गई हों—यह हो नहीं सकता। उन्हें सरल, भावुक और भोले व्यक्ति अच्छे लगते हैं, जो व्यवहार में निश्छल और निष्कपट हों। स्वार्थी, मूर्ख और मिथ्याभिमानी मनुष्यों के प्रति वे घृणा भले ही व्यक्त न करें, लेकिन उन्हें मुँह भी नहीं लगाते।

आज भी वे प्रचार के नहीं -- भाव के भूखे हैं, पद और प्रतिष्ठा के नहीं, ममता और स्नेह के प्यासे हैं। उन्हें स्वागत, सम्मान, अभिनन्दन, पुष्पमालाएँ कुछ नहीं चाहिए, चाहिए केवल प्रेम—विशुद्ध और निर्व्याज प्रेम। एक दिन मुझे उन्होंने कहा था, "तुमसे सच कहूँ, मैं आज भी प्यासा हूँ। ईवन टुडे ए किस आफ़ लव कैन विन मी।" और उनके इस कथन की सच्चाई मैंने उनके जीवन में उनके व्यवहार में उनके कर्म में, एक नहीं अनेक बार देखी है। उनकी कविता में उसीकी प्रतिध्वनि है। 'आरती और अंगारे' की इन पंक्तियों में उनका भाव-विगलित स्वर मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ता है :

अब नहीं सँग में प्रणय के
चाहिए बलिदान मुझको
आज तो अभिभूत करने को
बहुत मुसकान मुझको
आज करुणा के दृगों से
देखता कोई मुझे तो—
मैं समझता हूँ कि नज़रें डालता भगवान मुझ पर।
आज हूँ ऐसा कि कर लो तुम सहज एहसान मुझ पर।

और इसके साथ ही उनके व्यक्तित्व का दूसरा रूप कितना विपरीत, कितना असमान किन्तु कितना प्रेरणाप्रद। स्वेद और रक्त से लथपथ अग्निपथ पर निरन्तर बढ़ता हुआ

उनका कर्मठ जीवन ! वे निर्भीक और निःशब्द चरण ! साधना की अटूट शृंखला ! तपस्या की अमलिन कान्ति ! बाधाओं की चुनौती स्वीकारता हुआ, संघर्षों को निमंत्रण देता हुआ, वज्र संकल्पों का अभेद्य कवच पहने हुए उनका विजयी मनुष्य ! विश्वास की प्रज्वलित अनल-शिखा, आस्था की अमोघ शक्ति और उच्च मनोबल लिए हुए उनका उद्दीप्त पुरुषार्थ। उनका यह रूप भी मुझे बहुत प्रिय है।

उनकी ज़िन्दगी एक गर्म लोहा पीटने वाले इनसान की ज़िन्दगी है, जिसके पंजे सख्त, नस कसी हुई, कलाई चौड़ी है और जो अपनी बल्लेदार बाँहें पसारे, चिनगारी सरीखी लाल आँखों की सधी हुई दृष्टि निहाई पर जमाए खड़ा है। लोहे से लड़ने वाले इस इंसान को एक तलवार गढ़नी है, उसे भविष्यत् की माँग पढ़नी है और 'धार की इस धरोहर' को, 'शब्द के इस खर खड्ग' को अपनी संतान के हाथों में थमा कर जाना है, जिससे वह असत्य और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष कर सके, कापुरुषता और परवशता का दलन कर सके, जीवन के समरांगण में एक विजयी योद्धा की भूमिका निभा सके।

किस विश्वास के साथ वे बढ़ते चले जा रहे हैं ? मंज़िल कहाँ है ? कितनी दूर है ? पता नहीं ! वे अविराम बढ़ते जा रहे हैं —अदृश्य के किस संकेत से ? भावना की किस अमित शक्ति के आकर्षण से ? मालूम नहीं !

पंथ जीवन का चुनौती
दे रहा है हर क़दम पर
आखिरी मंज़िल नहीं होती
कहीं भी दृष्टिगोचर।
धूलि से लद, स्वेद से सिंच
हो गई है देह भारी;
कौन-सा विश्वास मुझको
खींचता जाता निरंतर ?—
पंथ क्या, पथ की थकन क्या,
स्वेद कण क्या,
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं।

जीवन की विभिन्न परिस्थितियों, घटनाओं और मनःस्थितियों के बीच उनकी काव्य पंक्तियाँ अनायास ही मन में चमक उठती हैं। वे 'पर उपदेश कुशल' नहीं हैं। उनकी कथनी और करनी में भेद नहीं है। उन्होंने जो कुछ भी लिखा है, उसे सम्पूर्ण मन से जिया है। उनके गीतों में व्याप्त हर्ष-विषाद, मिलन-विरह, आशा-निराशा, संघर्ष-अवसाद— सभी कुछ उनके जीवन का है, उनके प्राणों का है। इसीलिए वह मन पर प्रभाव छोड़ता है, इसीलिए वह कर्म की प्रेरणा देता है।

बच्चनजी देवता नहीं, मनुष्य हैं। लेकिन उनकी मनुष्यता देवत्व के द्वार की भिखारिणी नहीं है। वे स्वाभिमानी व्यक्ति हैं—'क्षत शीश, मगर नत शीश नहीं' की ठसक रखने वाले। प्यार से उनका कोई दिल जीत ले और वे उसके साथ चल दें, यह दूसरी बात है; लेकिन जीवन में (और कविता में भी) उन्होंने किसीका अनुसरण नहीं

किया, किसीके पीछे नहीं चले। किसीका दिया हुआ उनके पास कुछ नहीं है, सब कुछ स्वयं का अर्जित है, खून और पसीने की कमाई। इसलिए आज यदि उन्हें स्नेह, समादर और प्रशंसा मिली है तो उसमें किसीका एहसान नहीं (वे एहसान मानें – यह उनकी भलमनसाहत है) लेकिन स्नेह और समादर का झरना आज जो उनके जीवन में फूट रहा है, उसके हर बूंद की क़ीमत वे बहुत पहले अदा कर चुके हैं। बहुत नीचे से ऊपर उठने के प्रयत्न में उनके सामने कितनी बाधाएँ आईं, कितने शूल चुभे, उन्हें कितनी कठोर परीक्षाएँ देनी पड़ीं, कितने प्रहार सहने पड़े, अकारण ही कितने द्वेष, ईर्ष्या और विरोध का सामना करना पड़ा, लेकिन आज जब वे सब कुछ को पार कर –पीछे छोड़कर— अपराजेय योद्धा की भाँति गौरव के उच्च शिखर पर खड़े हैं, तो उनके मन में किसीके लिए कोई शिकायत नहीं, कोई दुर्भावना नहीं रह गई।

सिद्धान्तों के मामले में वे अवश्य कोई समझौता नहीं करते। वहाँ वे अविचल हैं --बिलकुल वज्र। जो उन्हें अच्छा नहीं लगता और जिसे वे उचित नहीं समझते, उसे सारा संसार उचित ठहराए तो भी वे अपना मत नहीं बदलेंगे। वे अपनी किताबें 'कोर्स' में लगवाने के लिए द्वार-द्वार नहीं घूमे। उन्होंने विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्षों को व्यक्तिगत पत्र नहीं लिखे। वे सरकारी मन्त्रियों के पास किसी याचना की आकांक्षा लेकर नहीं गए। उन्होंने अपने स्वागत-सम्मान और अभिनन्दन की तैयारियाँ नहीं कराईं। सरकारी उपलब्धियों के लिए सिफारिशी घोड़े नहीं दौड़ाए। यदि बच्चनजी इधर तनिक भी ध्यान देते तो उनकी चालीस में से बीस किताबें अब तक यूनिवर्सिटियों में अवश्य लग चुकी होतीं। लेकिन बच्चनजी ऐसा करते, यह बात कल्पना में भी नहीं आती। झूठी प्रशंसा तो उनकी 'प्यारी जनता' भी उन्हें दे तो वे उसे ठुकराकर चल देंगे। किसी काव्य-संग्रह की भूमिका में उन्होंने सच ही लिखा था, "बड़ा-बड़ा नाम देकर, मोटी-मोटी मालाएँ पहनाकर, झुक-झुककर दण्डवत् करके मुझे टरकाने का कष्ट आपको न उठना पड़ेगा। मैं आऊँगा तो पलक-पांवड़ों पर। बैठूंगा तो दिल में, दिमाग़ में; कल्पना भी है, यथार्थ भी। मानी हूँ, अभिमानी नहीं।"

•

अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों के बारे में कैसे कहूँ? आत्म-विज्ञापन होगा। मुझ अकिंचन पर भी उनकी कितनी कृपा रही है।

रोज़ के काम में—दैनिक दिनचर्या के जीवन में उनकी याद आती रहती है और प्रेरित करती-रहती है। उनके वाक्य बिजली की तरह कौंध जाते हैं। जाड़े की सुबह है। रात में सोचा था, चार बजे तड़के उठकर काम करूँगा, लेकिन अब रज़ाई से बाहर निकलने को मन नहीं करता। पत्नी का स्वर कानों में पड़ रहा है, "साढ़े चार बज चुके हैं।" मैं उसे सुनकर टाल देता हूँ। पत्नी भुनभुनाती हैं, "दादा उठ चुके होंगे और अपना काम कर रहे होंगे और आप हैं कि पाँच बजे तक रज़ाई से ही नहीं निकल पाते।" सुनता हूँ और सोचने लगता हूँ, 'हाँ, ठीक ही तो कहती हैं, दादा इस समय काम कर रहे होंगे। लिखने की मेज के सामने रीढ़ सीधी किए हुए बैठे होंगे – एकाग्र और तन्मय। इसीलिए तो दादा एक वर्ष में एक मौलिक रचना—स्वतंत्र काव्यग्रंथ पूरा कर देते हैं

और मैं तीन साल से एक सड़ा-सा शोध-प्रबन्ध नहीं लिख पा रहा हूँ।' और अचानक दादा की एक बात याद आ जाती है। अभी पिछले ही किसी पत्र में उन्होंने लिखा था, "सर्जक के लिए विश्राम कहाँ ? तुम्हारा जीवन सर्जक का जीवन हो। सतत श्रम का, संघर्ष का, आत्मदान का। दुनिया का प्रतिदान अनुपात में कुछ नहीं होता।"...

और मैं रज़ाई छोड़ देता हूँ।

"दादा, आप कहीं भी जा रहे हों, यदि कानपुर रास्ते में पड़ता है तो मुझे सूचना अवश्य मिलेगी"—यह वचन मैंने उनसे कई साल पहले लिया था और दादा उसका निर्वाह तब से निरन्तर करते चले आ रहे हैं। मैं भले ही चूक जाऊँ, वे कभी नहीं चूकते। जब पत्र नहीं तो तार से सूचना आती है। कानपुर स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर इस संक्षिप्त भेंट के न जाने कितने अवसर मेरी स्मृति की धरोहर हैं। गिनती के क्षणों में ही उनका कितना अधिक प्यार मिल जाता है। दादा ट्रेन की खिड़की से झाँकते हुए दिखाई पड़ते हैं। मैं उन्हें देख सकूँ, इससे पहले ही वे मुझे देख लेते हैं। मैं प्रणाम के लिए झुकता हूँ और दादा की बाँहें पहले ही मुझे समेट लेती हैं, शीश पर उनकी परिचित अँगुलियाँ फिरने लगती हैं, पीठ पर उनके हाथ की मृदुल थाप पड़ने लगती है और मुझे अपने पिता के बिछुड़े हुए वात्सल्य की याद आ जाती है। बिल्कुल वैसे ही सुखद स्पर्श की अनुभूति मुझे होती है, वैसे ही दुलारपूर्ण स्वर मुझे सुनाई पड़ते हैं और बिल्कुल वैसा ही संतापहारी आशीष मेरे जीवन के साथ जुड़ जाता है।

ईश्वर उनके इस वात्सल्य की सुखद छाया मेरे सिर पर बराबर बनाए रखे।

अपने कवि से बहुत बड़े मनुष्य

शिवप्रताप सिंह 'शिव'

मेरी अपनी समझ है कि जो व्यक्ति ईमानदारी से अपने को अभिव्यक्त करता है, उसे देने को इस संसार के पास कुछ नहीं है। संसार उसके समक्ष बहुत दीन, असमर्थ एवं दरिद्र है। वस्तुतः तो वह जो दे सकता है वह भी ऐसे कलाकार को नहीं देता। यह एक सनातन सत्य है। और यह सत्य ऐसे कलाकार से छुपा नहीं होता। उसे इसकी फ़िक्र भी नहीं होती। किन्हीं अंशों में हो, तो भी वह ईमानदारी से अभिव्यक्ति देने को विवश होता है। भीतर से कोई विवश करता है। शायद इसे ही स्वयं के प्रति प्रतिबद्धता कहते हों। और यहीं जागरूक व्यक्ति का 'मैं' मिटना शुरू हो जाता है। उसे महसूस होता है कि वह खुद कुछ नहीं है। भीतर कोई है जो अपने को उससे लिखवाता है। इसीलिए, ऐसा व्यक्ति जो लिखता है वह लिखना कम, अपनी चमड़ी छीलना अधिक हो जाता है। अतः वह लिखने के तुरन्त बाद ही वही नहीं रह जाता जो लिखते समय अथवा लिखने के पूर्व था। (चमड़ी छीलेंगे तो चमड़ी ऋण (—) होगी ही) और वह सतत अपने को उघाड़ता चला जाता है, जब तक कि 'मैं कवि हूँ' बोध समाप्त नहीं हो जाता, अथवा कहें, जब तक वह अपने कवि को पीछे छोड़ अपने निकट, निकटतर नहीं होता जाता और अन्ततः अपने 'स्व' रूप में स्थित नहीं हो जाता।

मनुष्य जैसा जन्मा है वैसा ही रहे तो वह मनुष्य नहीं है। उसका तो सृजन करना होता है। (आचार्य श्री रजनीश के शब्दों में, वहाँ वह स्वयं ही कलाकृति, कलाकार एवं कूची सभी कुछ है। (इस सृजन के अनगिनत मार्ग हैं। उन्हींमें से एक है काव्य-लेखन। किन्तु कविताएँ रचने को ही यदि कोई साध्य मान ले तो उसे 'मनुष्य' होने की उस सार्थकता तक पहुँच पाना असम्भव ही हो जाता है। 'कवि' एक अत्यन्त अहंवादी जन्तु के सिवा है ही क्या ? अस्तु।

श्री बच्चन के निकट आकर मैंने पाया कि वे अपने कलाकार से बहुत बड़े मनुष्य हैं। वे अपने कवि को पीछे छोड़ स्वयं बहुत आगे निकल आए हैं। उनका व्यक्ति शिशु-सा सरल, पानी के बहाव-सा सहज एवं सर्व के प्रति स्वयं-सा आत्मीय है। उनसे मिलकर कोई लघुतम प्राणी भी यह महसूस नहीं कर सकता कि 'यह' आदमी उससे बड़ा है। मनुष्य मात्र के लिए उनके हृदय में असीम प्यार व सम्मान है। यही कारण है कि मैंने उनके भीतर अपना सखा, साथी, प्रेमी एवं शुभचिंतक पाया। यदि वे मनुष्य मात्र के प्रेमी न होते, केवल 'कवि' होते तो मुझ जैसे अकिंचन को इतना प्यार कैसे मिलता ? क्योंकि, क्या मैं कवि था ? क्या मेरी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीय ख्याति थी, या है ?

क्या मुझ जैसे मैट्राकुलेट व कल के छोकरे को इतना स्नेह देना उस स्तर के हर किसीके वश की बात है ?

चुपचाप महसूस करने की बात है कि अपने तीसरे या चौथे पत्र में ही उन जैसे ख्यातिप्राप्त व्यक्ति को यह लिखने का साहस मुझे कैसे व क्यों हुआ कि—

"आप यह आशा कैसे करते हैं कि आप जैसा लिखते हैं उसे हर कोई पढ़ ही लेगा ?"

और प्रत्युत्तर में उस देव-पुरुष ने क्या लिखा ? उसने लिखा :

"अपनी लिखावट पर मुझे शर्म आती है, पर पत्र ज़्यादा लिखने को रहते हैं, समय कम। इसीलिए ऐसी घसीटा-घसीटी करनी पड़ती है। क्षमा करें।"

उनकी विनयशीलता इस पत्र में देखें—

"नम्रतम तू किंतु मैं तो
नम्रतम बनने चला हूँ,
आँक मेरे उर-पटल पर
आज तू अपनी विजय भी।"

इसके प्रत्युत्तर में मैंने जो लिखा उससे भी मनुष्य का वह महान् प्रेमी हार नहीं मानता। वह लिखता है—

"सबहिं मानप्रद आप अमानी
भरत प्रानसम मम ते प्रानी।

तुलसी की ये पंक्तियाँ आपके जीवन की प्रेरणाएँ बनें।"

वे सम्पर्क में आने वाले हर व्यक्ति के प्रति इतने आत्मीय हो उठते हैं कि उसका हर सुख-दुःख उनका अपना सुख-दुःख हो उठता है। उसकी हर समस्या उनकी अपनी समस्या हो उठती है। वे अपनी व्यक्तिगत बातों में भी उसका हिस्सा रख छोड़ते हैं। कभी-कभी अत्यन्त घरेलू बातें भी लिख जाते हैं। देखें, उनके कुछ पत्र और पत्रांश—सभी '६५ व '६८ के बीच के—

(१) "···पत्र के लिए आभारी हूँ।

मेरे भी पूर्वज बस्ती से चलकर प्रयाग आते हुए कुछ समय प्रतापगढ़ में रुके थे। एकाध परिवार वहीं बस भी गए थे—बाबूपट्टी में (रानीगंज स्टेशन)। एक बार मैं उस गाँव में गया था और मुझे लोगों ने पुरखों की ड्योढ़ी दिखलाई थी जो एकदम काल-जीर्ण हो गई थी। एक मनोरंजक बात बताऊँ। हमारे यहाँ एक कहावत मशहूर थी—न सौ पढ़ा न एक परताब गढ़ा। अक्सर प्रतापगढ़ के बेपढ़े यह कहावत कहकर कुछ अभिमान का अनुभव करते थे। मेरे बाबा ने मेरे पिता का नाम प्रतापनारायण रखा था—तब तक शायद परिवार में प्रतापगढ़ से कुछ मोह बना रहा हो।···"

(२) "आपके भावना से भीगे पत्र के लिए किस प्रकार धन्यवाद दूँ, नहीं समझ

पाता।…"

आपके परिवार में वहाँ कौन-कौन हैं? अपनी जीवन-सहचरी को मेरा नमस्कार कहिएगा। किसी अतिशय भावुक व्यक्ति की पत्नी बनना बड़ी कठिन समस्या है। आपकी पत्नी बता सकेंगी, मैं सच कहता हूँ कि झूठ। शेष समाचार साधारण। समाप्त करता हूँ। सादर… "

(३) "…जानकर दुःख हुआ कि आप अस्वस्थ हैं। आप अपनी तन्दुरुस्ती का ख़्याल रखें। आपके पीछे एक पूरा परिवार है।

नये साल में ख़ूब पढ़ें, ख़ूब अच्छा लिखें। घर में सबको मेरी शुभकामनाएँ—आशीष—सादर… "

(४) " 'ज्ञानोदय' का 'नयी क़लम अंक' मेरे पास आ गया है। आपकी कविता सबसे पहले पढ़ी—व्यंग्य बुरा नहीं है।

मेरे पाँव में गठिया का दर्द शुरू हो गया है जो शायद इस उम्र में प्रायः सभीको हो जाता है। आराम हो रहा है। चिंता की बात नहीं। आपकी सद्‌भावनाओं लिए किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ। घर में सबको मेरी याद और शुभका०। सादर… "

(५) " आपकी चिंताओं से अवगत हुआ। मन में धीरज धरकर सब कर्तव्य करना है। जब तक जीवन है संघर्षों, चिंताओं से मुक्ति नहीं—उन्हें जीवन का अनिवार्य अंग समझकर झेलना है—परिणाम सदा मनोनुकूल नहीं होते—प्रतिकूल स्थितियों में भी अपने को स्थिर रखना मानव की गरिमा है। यदि स्रष्टा के विधान में विश्वास हो तो—

हर मुसीबत को ख़ुशी से झेलो,
हर मुसीबत का एक मक़सद है।

वह मक़सद हम देख नहीं पाते—यहीं विश्वास का महत्त्व है। मनुष्य को अपना के सबसे बड़ा बल अपने भीतर से ही पाना है। मेरी शु० का० है कि आप संयम की इस कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हों।

यहाँ सब समाचार साधारण हैं। मैं अगले सप्ताह कुछ समय के लिए कुछ निजी कार्यों से प्रयाग जा रहा हूँ। स्नेहाभिवादन… "

(६) "……आपकी रचनाएँ जहाँ भी देखता हूँ अवश्य पढ़ता हूँ। किसी दिन आप अपनी लीक बना सकें तो मुझे कितनी ख़ुशी होगी। अनास्था के बाद आस्था का युग आएगा—वह आपके उदय की बेला होगी क्योंकि आप आस्था की अनुभूति से अनुप्राणित हैं।

आजकल मैं घर पर अकेला ही हूँ। तेजी जी कलकत्ता गई हैं। स्वास्थ्य साधारण चल रहा है जैसा अब चलना भी चाहिए। मेरी शु० का० घर में सबको। जीवन-सहचरी के स्वास्थ्य के लिए मेरी विशेष चिन्ता। वे शीघ्र स्वस्थ हों। सादर… "

(७) "……आज अपने निजी कार्य से इलाहाबाद जा रहा हूँ। पंत जी के साथ ठहरूँगा। २-३ दिन बाद दिल्ली वापस आऊँगा।

गर्मी यहाँ खूब पड़ने लगी है। स्वास्थ्य विशेष अच्छा नहीं। और उसीपर निर्भर रहना हो तो चुप बैठा रहूँ। ...साभिवादन..."

(८) " पत्र। अस्वस्थ। देरी। क्षमा।

आत्मविकास का एक स्वाभाविक पथ भी होता है। हम दुनिया को नहीं बदल सकेंगे। अपने को बदलने का यत्न करें। 'अकेला भी बहुत बड़ा है इन्सान'......

आपकी रकतिपय चनाएँ पत्रों में देखीं। अच्छी लगीं। अपने ढंग से लिखते रहें—जस-अपजस से विरक्त होकर।

पत्नी की सुख-सुविधा का ध्यान रखें, स्वास्थ्य का भी। सब तजकर। बच्चों के भविष्य के लिए सचेत, सतर्क रहें। सच्चा सृजन वही। मेरी शु०का० सबके लिए—सादर..."

(९) "......आपकी अस्वस्थता के समाचार से मुझे चिंता है। कहीं सुना था अर्द्ध रोग हरी निद्रा, सर्व रोग हरी क्षुधा। नींद तो आनी ही चाहिए। भूख भी लगनी ही चाहिए। कुछ टहलने का अभ्यास करें। सोने जाने से पहले २-३ मील घूम लें......"

(१०) " ......मिला आपका चित्र—मैं सन्तुष्ट नहीं हुआ—कभी आपसे मिलने की प्रतीक्षा में रहूँगा।......"

(११) " गुसलखाने में पाँव फिसल जाने से पीठ में मोच आ गई है। आठ रोज़ बिस्तर पर पड़ा रहा—अब ठीक हूँ।

तेजीजी को भी दमे की शिकायत है जो बरसात में अधिक उभरती है। बच्चे कलकत्ता में सकुशल हैं।

मैं २४ को उज्जैन जा रहा हूँ, २७ को लौटूँगा। एक मित्र जा रहे हैं—उनके साथ। कोई अपना कार्यक्रम नहीं।

कल का दिन कितना दुर्भाग्यपूर्ण था—नंददुलारे वाजपेयी और शांतिप्रिय द्विवेदी—दोनों समालोचक—दोनों एक ही अवस्था के—एक ही दिन चल बसे। हिन्दी को दोनों ही कुछ स्थायी दे गए हैं। आपकी पंक्तियों में आपकी अनुभूतियाँ बोलती हैं। अभिव्यक्ति देने में संकोच न करें। मेरा अनुरोध। प्रकाशन हो न हो। घर में सबको मेरे आशीष। सादर, सप्रेम..."

(१२) "मैं २३ ता० को बम्बई मेल से जबलपुर पहुँच रहा हूँ। उसी शाम हितकारिणी लॉ कॉलेज के स्नेह-सम्मेलन का उद्‌घाटन करना है। २४ को रुकूँगा। आशा है भेंट हो सकेगी।...शेष मिलने पर। सादर..."

(१३) "मैं बिलासपुर, रायपुर होता २ को दिल्ली वापस आया। खूब थका। आपसे और आपके परिवार के सदस्यों से मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई। उस परिवार को विकसित करें, साथ स्वयं होना आपका दायित्व है। यही सबसे बड़ा सृजन है, सबसे बड़ी कविता है। सादर......"

(१४) "बहुत दिनों बाद आपका पत्र मिला। पढ़कर प्रसन्नता हुई। कई बार आपके विषय में सोचा है। मौन से भी बहुत कुछ कहा जाता है। जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि

मनुष्य को समझना है और वह अपने को समझे बिना सम्भव नहीं। अपने को समझना एक लम्बी प्रक्रिया है—सृजन अन्ततोगत्वा अपने को समझने का एक साधन है—आप अपने को धीरे-धीरे समझ रहे हैं—मुझे विश्वास है।

इधर १५ दिन बेटों के साथ रहा मद्रास—कलकत्ते।

चिंता हुई कि आपकी पत्नी अस्वस्थ हैं—आशा है शीघ्र लाभ होगा। दवा आदि तो चले ही, थोड़ी देर बैठकर उनके स्वस्थ रूप का ध्यान भी करें। यह उपाय विवेकानन्द ने बताया था। प्रयोग कर सकते हैं। कुछ मास हुए जबलपुर से गुज़रा था। आपको पत्र दिया था कि स्टेशन पर मिलें—शायद सम्भव नहीं हुआ।

आपकी सूक्तियाँ अच्छी लगीं। आपके शब्दों में ही नया से नया भी पुराना है—सनातन में ही नये रूप में आने की क्षमता है। घर में सबको मेरी याद···मेरी शु० का०···सादर···"

कई बार मुझे लगता है कि मैं बच्चनजी का बड़ा समय नष्ट करता हूँ। अपने को देखते हुए अनुमान लगाता हूँ कि मुझ-सा छोटा आदमी इतना व्यस्त रहता है तो वे बेचारे कितने व्यस्त न रहते होंगे। फिर भी पत्र सबको देते हैं और कितनी तत्परता से। उनके अतिरिक्त केवल मेरे पिता के पत्र इतने नियमित व शीघ्र आते हैं।

इन्हीं सोच-विचारों से उत्प्रेरित हो एक बार मैंने उनसे पूछा, "क्या जीवन में कभी ऐसा भी हुआ है कि किसीने पत्र भेजा हो और आपने उसका उत्तर न दिया हो ?"

आपने लिखा " हाँ, उन लोगों को जो अपनी सद्भावनाएँ तो भेजते हैं, पर अपना पता नहीं भेजते।

" उनके मंगल-कल्याण के लिए मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ। "

इसके उत्तर में मैंने ऐसा ही कुछ लिखा था कि—

"ऐसे लोग, जो सद्भावना तो भेजते हैं पर अपना पता नहीं भेजते, मेरी समझ में बड़े महान् हैं। उनके प्रति मेरे मन में अपार श्रद्धा है। क्योंकि वे बदले में कुछ भी नहीं चाहते। मैं पत्र लिखता हूँ, पर कितना स्वार्थी हूँ। कुछ नहीं तो बदले में आपके स्नेह-सिंचित पत्र ही······।"

पत्र-व्यवहार चलता रहा। चलता रहा।

काफ़ी अर्से के बाद उनके एक पत्र का अंतिम अंश :

"······आपने कभी ऐसे लोगों के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की थी जो पत्र तो लिखते हैं, पर अपना पता नहीं देते—साथ वाला पत्र ऐसा ही है। लौटाने की ज़रूरत नहीं।"

" आज उस साथ वाले पत्र को ज्यों का त्यों देने का मोह संवरण नहीं हो पा रहा है। शायद उसे जैसा चाहूँ, उपयोग करने का अब मुझे ही अधिकार भी है।

अतः यह रहा वह पत्र—

दिल्ली
१४.६.'६५

"आदरणीय बच्चनजी,

वे लोग जो कवियों को पागल कहते हैं, कितने नासमझ हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ही लोगों को पागल बना देते हैं। कवि पागल है तो कवि की कविताओं के पागल को क्या कहेंगे?

बच्चनजी, जिस दिन से आपकी 'मधुबाला' में से एक कविता पढ़ी है, मैं तो सचमुच उसके पीछे पागल हो गई हूँ। न जाने दो महीने में उस कविता को कितनी बार पढ़ा है मैंने। और जितनी बार पढ़ा है, उतनी ही बार आँखें भर आई हैं। और मैं कितनी ही देर तक अपनापन खोकर उस कविता में लीन रही हूँ। आप बता सकते हैं, आपकी वह कौन-सी रचना है? हाँ, हाँ, बताइए न, आप मधुबाला में अपनी किस कविता को सबसे अधिक प्रभावपूर्ण समझते हैं? मैं जानती हूँ, आप कहेंगे, अक्सर कवि-सम्मेलनों में 'इस पार, उस पार' कविता सुनाने की ही माँग होती है। इसलिए वही सबसे अधिक भावोत्तेजक कविता है। मैं भी उस कविता को बहुत पसन्द करती हूँ किन्तु उससे भी अधिक सुन्दर और मनमोहक एक और भी रचना है आपके इस संग्रह में। अच्छा, आप नहीं बूझ पाए तो मैं ही बता देती हूँ। वह कविता, जिसने मुझे एकदम पागल बना दिया है, वह है 'प्यास'। ओह, बच्चनजी, दिल चाहता है आपके चरणों की धूलि माथे से लगा लूँ। कितने महान् कवि हैं आप। विशेषतः ये पंक्तियाँ कितनी सुन्दर हैं—

> वह गुरु महान् की तृष्णा में
> छोटों की प्यास नहीं भूला ;
> भौंरों की प्यास बुझाने को
> सर में पद्मों का पात्र धरा ;
> छोटे से छोटे तृण का ही
> रख ध्यान बना नभ हिमकण-मय,
> तेरा-मेरा सम्बन्ध यही—
> तू मधुमय औ' मैं तृषित हृदय।

इन पंक्तियों ने मेरे हृदय में भी एक अदम्य प्यास जगा दी है। किन्तु मैं जानती हूँ कि वह प्यास कभी तृप्त नहीं हो सकती। आप इतने महान् कवि! आपके पास इतना समय कहाँ कि आप हम जैसे लोगों की इच्छाएँ पूरी करते रहें। फिर भी एक बार उस इच्छा को आपपर प्रकट ज़रूरी करूँगी। वह यह है कि काश, कभी मैं अपनी इस प्रिय कविता को उसके रचयिता के मुख से ही सुन पाती! काश···!"

सरोजिनी नायडू ने कहीं लिखा है "अपने को देना ही सच्चा उपहार है।" खलील जिब्रान ने भी कहा है, "अपना हृदय देकर ही कोई कुछ देता है।" मेरा भी अनुभव है कि किसीके प्रति मेरे प्रेम व श्रद्धा की जब वह अवस्था होती है कि मुझे

अपना भी ख्याल नहीं रहता, तभी कुछ उसे देता हूँ। (वस्तुत: तो कुछ पाना भी तभी होता है)। यह उस व्यक्ति का सर्वोच्च सम्मान है। जगत् में जो कुछ भी मूल्यवान है वह सभी बड़ा 'ऍब्स्ट्रैक्ट' है। और यह उपहार, यह श्रद्धा, यह सम्मान, यह सर्वाधिक मूल्यवान बच्चन को जितना मिला है, इस युग के किसी भी अन्य कवि अथवा लेखक को नहीं मिला है।

यह भी अनुभव करने की बात है, बड़े बड़े विद्वानों के नाम 'डॉक्टर' विशेषण से सुशोभित होते हैं। पर बच्चनजी के साथ यह बात नहीं है। लगता है, 'बच्चन' से ही 'डॉ०' सुशोभित है। बेशुमार लोगों के बेहिसाब प्यार का ही फल है कि 'डॉ० हरिवंशराय बच्चन' सिर्फ़ 'बच्चन' हो गए हैं।

१५।९।६५ : मैंने एक पत्र लिखा—

"इधर मैं बड़ा प्रसन्न रहता हूँ। पाकिस्तान के नंगे आक्रमण के समक्ष हमारी सरकार ने जो वीरोचित क़दम उठाया है, हमारे जवान जिस अद्भुत शौर्य व पराक्रम से शत्रुओं के छक्के छुड़ा रहे हैं तथा हमारी जनता सभी भेद-भाव भुलाकर जिस प्रकार एक व्यक्ति की तरह सीना तानकर खड़ी हो गई है—इसी सबसे। सच, इतनी प्रसन्नता है कि समझ नहीं पड़ता—कहाँ उँडेलूँ, इसे कैसे सँभालूँ ?······"

जिस समय समूचा देश ही आवेश व उन्माद में डूबा था, उन क्षणों में भी बच्चनजी का मनुष्य मुखर था। और यह कोई साधारण बात नहीं है। उन्होंने लिखा :

"फूलों को देखो
और सोचो
कि ये कौन हैं
जो अपनी अंतर-साधना से
रूप-रंग
रस-गंध में खिलकर
निरीह
निष्काम
और मौन हैं।

—बच्चन

२०.९.'६५"

स्पष्ट है कि मैं बच्चनजी को बेहद प्रेम करने लगा था। कविता मेरे लिए गौण हो गई। मनुष्य का प्रेम व उसे समझना मुख्य···। तथापि कविता व लेखन के सम्बन्ध में जब-जब मैंने उन्हें छेड़ा, उन्होंने मेरा मार्ग दर्शन किया—गुरु की तरह नहीं, मित्र की तरह। देखें, उनके कुछ पत्रांश—

(१) "···सृजन का कार्य बहुत कठिन है। किसीको अपने कार्य से संतोष नहीं—न अपने अध्ययन से, न अपने लेखन से। सीमा सबकी है, उसी सीमा में रहकर

काम करना है। जितना हो सके उतना करें, जो नहीं हो सकता उसके लिए चिन्ता न करें। यहाँ भी 'यथा लाभ संतोष' का सिद्धांत रखना चाहिए। हमीं सब कुछ करने के लिए आए हैं, हम ऐसा क्यों सोचें! हाँ, जो करें उसमें अपने को पूर्णतया रख सकें, यही बहुत है। जो कुछ दिमाग़ में आता है सभी लिखने का विषय नहीं होता। बल्कि जो टिक रहता है, छेड़ता है, परेशान करता है, केवल वह सृजन का विषय है। जो दिमाग़ से चले जाते हैं, उनके लिए चिन्तित न हों। जीवन में बहुत कुछ ऐसा ही है कि हवा के समान हरहराता हुआ निकल जाए—बहुत कुछ स्थायी भी है—उसे हम पकड़ें, परखें, रूप दे सकें तो उसे रूप दें—शायद वह किसी और के भी रूप देने में सहायक हो।···"

(२) "कविता से पिंड छुड़ाने के लिए कोई ऐसा काम शुरू कर देना चाहिए जो कविता से अधिक महत्त्वपूर्ण हो—यानी जीवन-निर्माण का। दिशा तो अपने आप निश्चित करनी होगी।

मुसीबत तो उनकी है जिनके जीवन का निर्माण कविता के माध्यम से होने लगता है। तब पिंड छुड़ाना केवल आत्महत्या से संभव हो सकता है। पर कोई भी निर्माण मृत्युमुखी नहीं होता। इसलिए पिंड छुड़ाने की बात नहीं सोचता।

अन्त में समस्या रह जाती है कविता को जीवन से एकात्म कर देने की—उसीकी मुश्किलों में हम उससे भागते हैं या भागना चाहते हैं। पर कविता जिन्हें एक बार वर लेती है उनके लिए छुटकारा नहीं।"

(३) "···कविता को फ़व्वारे के पानी की तरह जीवन से ही उठना और लौटकर जीवन में ही मिल जाना चाहिए।···"

(४) "···सृजन खोज ही खोज है—अपनी खोज, औरों की खोज, जग की, जीवन की। यहाँ सभी कुछ जैसे लुका-छिपा है। घिरा है, बंद है। उसे खोजना, उघारना, निकालना पड़ता है। सर्जक को चाहिए कि वह परदों को फाड़ता रहे, दीवारों को गिराता रहे, घेरों को तोड़ता रहे, परत दर परत छीलता चला जाए। इसके लिए बड़े साहस की आवश्यकता है। साहस की, दुस्साहस की नहीं। सत्य बड़ा सुकुमार होता है—कहीं अपनी ज़ोर-ज़बरदस्ती से हम सत्य को ही न ध्वस्त कर दें। उसे हमें बड़े उपाय से सँभालकर निकाल लेना है। सत्य मान्यता का मुखापेक्षी नहीं होता। वह स्वयं प्रकाश होता है। शोर मचाकर अपनी ओर खींचने वाला नहीं—अपनी चुम्बकीय शक्ति से लोगों को विवश-आकर्षित करने वाला।···"

(५) "···कविताएँ आपकी पढ़ लीं। जो कुछ अच्छी लगीं, उनपर टिक मार्क लगा दिया है। जो ज़्यादा अच्छी लगीं, उनपर मैंने डबल टिक मार्क लगा दिया है। अपनी एकदम निजी अनुभूति को भी कविता का विषय बनाया जा सकता है, पर उसमें सम्प्रेषण पाने के लिए निजता के अंश को प्रच्छन्न करना होगा। चित्रवाली कविता में निजता-प्रधान हो गई है। मेरा ऐसा विचार है कि कविता के तीन स्वर होते हैं—इन्डिविजुअल—यूनिवर्सल—ट्रान्सेन्डेन्टल। वृक्ष का रूपक है। जड़ में व्यक्तिगत अनुभूति, सघनता में सार्वजनीनता और फल में, रस में सर्वोपरिता—'ए ज्वाय

अटैच्ड टू नो ऑब्जेक्ट, ज्वाय प्योर एंड सिम्पिल' उसे 'ज्वाय' कहें अथवा किसी भी कलाकृति के सम्पर्क में आने का अंतिम प्रभाव।....''

(६) "...मुक्त छन्द ने छन्दोबद्ध कविता को समाप्त नहीं किया है, एक और विधा जोड़ दी है। कुछ भाव निश्चय ही ऐसे होंगे जिन्हें गीत ही सँभाल सकेगा। यह तो कवि को स्वयं निश्चित करना होगा कि कौन छन्द उसे सफल रूप से अभिव्यक्त कर सकेगा।''

देश के भविष्य के प्रति उन्होंने चिन्ता व्यक्त की है, अपने १३।११।'६६ के पत्र में, देखें :

"...देश पुण्य-क्षीण हो गया है। फिर हमें कुछ तप-साधना करनी होगी। सब अपने-अपने क्षेत्र में अपना सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुत करें। बाहरी मूल्यों से आँखें मोड़ हमें एक बार फिर भीतरी मूल्यों को मान्यता देनी होगी। हम समय से न चेते तो समय को और भी तरीक़े मालूम हैं। हमारी वर्तमान स्थिति हमें एक भीषण क्रान्ति की ओर ले जाएगी। उसके पश्चात् शायद देश नया मोड़ ले। इतिहास के सत्य को रोकना सम्भव नहीं है।''

उनका अंतिम पत्र २७।७।'६८ का लिखा है जो कि यों है :

"प्रियवर,

कविताएँ देखीं। ठीक तरफ़ जा रही हैं।
मैं प्रायः समाधि की स्थिति में रहता हूँ।
पत्राचार आदि सब बंद।
सब सुखी रहें। सस्नेह, बच्चन''

इस पत्र को पढ़कर मेरे मन में दो बातें आईं। एक तो यह कि सदैव 'सम्मान्य बन्धु' से पत्र प्रारम्भ व 'सादर' या 'साभिवादन' से समाप्त करने वाले इस महान् व्यक्ति ने इस बार 'प्रियवर' से प्रारम्भ व 'सस्नेह' से समाप्त किया है। दूसरी बात यह है कि मैं अब उन्हें पत्र नहीं लिखूंगा। मैं जानता हूँ कि वे जिस स्थिति में हैं व जिस दिशा में बढ़ रहे हैं, उसमें मेरे पत्र अब बाधा पहुँचाएँगे। सच्चाई यह भी है कि पत्र लिखने की आवश्यकता अब मुझे भी नहीं रह गई है। किसीने-- शायद खलील जिब्रान ने ही— ठीक कहा है कि "प्रेमी अपने को नहीं, प्रेम किए जाने वाले को भी प्रकाशित करता है।'' अत: मैं स्वयं भी इस स्थिति में हूँ कि उन्हें जब चाहूँ अपने भीतर देख सकूं। जब चाहता हूँ वे मुझे मेरे भीतर ही मिल जाते हैं। और मुझे इस स्थिति में ले आने में इस मनुष्य-प्रेमी व्यक्ति का बड़ा हाथ रहा है।

बच्चनजी को और भी निकट से जानने का अवसर लगा १९६७ की फ़रवरी में जब वे हितकारिणी लॉ कॉलेज के स्नेह-सम्मेलन के उद्घाटनार्थ यहाँ पधारे। इसके पूर्व उनकी कविताओं व पत्रों से ही उन्हें जानता था।

२३।२ को लॉ कालेज के स्नेह-सम्मेलन का उद्घाटन हुआ। आपने लगभग सवा घण्टे का बेहद प्रभावपूर्ण लेक्चर दिया। उसी रात लॉ कॉलेज में ही कवि-सम्मेलन हुआ। कहने को ही कवि-सम्मेलन था। अकेले बच्चनजी की कविताएँ सुनी गईं और झूमा गया।

२४।२ को दिन में विश्वविद्यालय आदि में कई कार्यक्रम रहे। शाम को 'शकुंतला सदन' में काव्यगोष्ठी का आयोजन था। नई-पुरानी कविता को लेकर लोगों ने अनेक प्रश्न पूछे। उन्होंने अपना विचार दे देने के बाद प्राय: हर बार कहा कि मेरा ही विचार दुरुस्त है, मैं ऐसा नहीं कहता। मैंने मन ही मन कहा कि यह व्यक्ति कितना आग्रह-रहित है।

फिर, उसी रात साढ़े दस बजे : विश्राम गृह नं० २ : बच्चनजी और मैं। यह 'मिलन' मेरे जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। उन्होंने पूछा, "कहो भई, तुम्हारा क्या हालचाल है ?"

मेरी कोई इच्छा न थी। मैं उन्हें देखकर ही मुग्ध व सन्तुष्ट था। फिर, अभी-अभी मिलने आए एक व्याख्याता से उन्होंने कहा था कि वे थकान महसूस कर रहे हैं। अत: मैंने कहा, "मैं खूब अच्छा हूँ, आप आराम करें। सुबह फिर मिलूंगा"

आपने कहा, "मैं बिना अधिक कष्ट के १०-२० मिनट और बैठा रह सकता हूँ, तुम बताओ, आजकल क्या लिख रहे हो ? कैसे हो ?"

इसपर मैंने जनवरी में हुई कुछ अनुभूतियों के सम्बन्ध में उन्हें बताया।

वे बोले थे, "बड़ी अद्भुत अनुभूतियाँ हुईं ये तो।"

तत्पश्चात् मैंने उन्हें बताया कि 'एक भटकती आत्मा' शीर्षक से एक कहानी लिखने जा रहा हूँ। वह ३-४ पृष्ठों का दरअसल लघु उपन्यास ही होगा। इसमें मैं बताना चाहता हूँ कि नारी अन्तत: माँ है। वह ८० प्रतिशत (या इसके निकट) माँ है, २० प्रतिशत में पत्नी, पुत्री, बहन, चाची, नानी आदि। वह कई बार पुरुष के समक्ष केवल इसलिए समर्पण करती है कि वह माँ है। उसके भीतर की करुणा पुरुष को असहाय व दयनीय नहीं देख पाती और वह समर्पित हो जाती है।

उन्होंने कहा, "तुम बहुत सच कह रहे हो। यह कहानी बड़ी उम्दा होगी। इसे लिखना तो मुझे भी जरूर पढ़ाना।" यह कहते-कहते वे कुर्सी पर से खड़े हो गए थे और मेरे पास आ गए थे। मैं भी खड़ा हो गया था। और उन्होंने कहा था, "अकेला मत महसूस करना कभी।"

उन क्षणों में मैं कैसा महसूस कर रहा था, कभी शब्दों में बता न पाऊंगा। उसे क्या शब्द दूं, जिसे समझता तो हूँ पर शब्द नहीं सूझते। वह कुछ बहुत अद्भुत एवं वर्णनातीत था। वह अनुभव से अनुभव का सम्मिलन था। वह यदि 'मेरा' मिलन होता तो अवश्य ही मैं ख़ुशी के मारे रो पड़ता। कई दिनों नींद भी न आती। उस मिलन की ख़ुशी को सहज ही न झेला जाता। उसे सह पाना बड़ा कठिन होता। ख़ुशियों ने हमेशा मुझे पीड़ाओं से अधिक चुभन दी है। पर उस दिन वहाँ न चुभन थी, न ख़ुशी। वास्तव में 'मैं' ही अनुपस्थित था।

फिर बच्चनजी से सुबह घर चलने की बात कही। वे राज़ी हो गए। और मैंने प्रणाम करके रात भर की विदा ली।

२५ फ़रवरी '६७ : सुबह सवा नौ बजे—मैं विश्राम-गृह पहुँचा हूँ। बच्चनजी कुबरी लिए पैदल चलने लगे। मैंने कहा, "टैक्सी बुला लूँ।" आप कहते हैं, "तुमने कहा तो था कि दो ही फ़र्लांग है। क्या मैं दो फ़र्लांग पैदल नहीं चल सकता?"

मैंने कहा, "चल तो आप दो मील या उससे भी अधिक सकते हैं। पर प्रश्न 'समय' का है। साढ़े नौ बजे काफ़ी हॉउस जाना है। लोग आएँगे और प्रतीक्षा करेंगे।" इसी बीच एक रिक्शा गुज़र रहा था। मैंने कहा, "इसपर ही बैठ लें तो भी कुछ मिनट तो बच ही जाएँगे।" आप रिक्शे पर बैठ गए। घर पहुँचे। मीठा, नमकीन, चाय, कुछ नहीं। नाश्ता करके आए हैं। २-३ अंगूर भर ले लिए है। बेटी किरन (४ वर्ष) ने २-३ कविताएँ सुनाई हैं। वे बड़े प्रसन्न हुए हैं। बबलू (ढाई वर्ष) ने फ़ौजी ढंग से 'जयहिन्द' किया है। चलने को खड़े हुए तो मेरी ओर देखकर कहा है, "मैं बच्चों को कुछ देना चाहता हूँ।" मैं आत्मविभोर था। मुझे होश ही कहाँ था! मेरे मुँह से निकला, "तो मैं क्या करूँ?" और आपने एक दस रुपये का नोट निकालकर बड़े बेटे कुलदीप को यह कहते हुए दिया कि 'मिठाई ले आना और मिल-बाँट कर खाना' और कि 'उस बेटी को सबसे ज्यादा देना जिसने मुझे कविताएँ सुनाई हैं।' हम फिर विश्राम-गृह पहुँचे हैं। वहाँ श्री हरिशंकर परसाई एवं श्री नर्मदाप्रसाद खरे कार लेकर पहुँच चुके थे और प्रतीक्षा कर रहे थे।

२५।२।'६७ : दोपहर।

बच्चनजी के साथ बम्बई-हावड़ा मेल से मैं भी कटनी पहुँचा। वे वातानुकूलित डिब्बे में। मैं प्रथम श्रेणी में। जबलपुर में इतने लोग विदा देने आए थे कि मैं भीड़ को चीरकर बड़ी कठिनता से एक क्षण भर को उन्हें देख सका। मैंने कह दिया, कि मैं कटनी में मिलूँगा। आपने स्वीकृति में सिर हिला दिया। मैं कटनी में मिला। मुझे प्रतापगढ़ (घर) जाना था, दो-तीन दिनों को। पर मैं भी कटनी उतर गया। सोचा, बच्चनजी आखिर चार-साढ़े चार घण्टे प्रतीक्षालय में अकेले ही बैठे रहेंगे, बिलासपुर जाने वाली पैसेन्जर की प्रतीक्षा में।

जब हम प्रतीक्षालय पहुँचे, बूढ़े चपरासी ने बच्चनजी से पूछा, "आपके पास फ़स्ट क्लास टिकट है?" बच्चनजी बड़ी सहजता से कहते हैं, "हाँ, अहै, देखाय देई?" वह कहता है, "नहीं—नहीं हुज़ूर, वैसे पूछा।" अब हम बैठ गए हैं। बच्चनजी ने एक कागज़ निकाला है। 'शकुन्तला-सदन' से चलते-चलते किसीने अपने नाम-पता सहित कविताएँ दी हैं, सुधार करने व सुझाव देने के लिए। उसका नाम-पता सभी कुछ अस्पष्ट है। बच्चनजी चश्मा उतारते हैं, लगाते हैं, झुककर देखते हैं, आँखों के समीप ले जाकर देखते हैं, पर कुछ पढ़ने में नहीं आता। मुझे देते हैं। मेरी भी समझ में कुछ नहीं आता, वे परेशानी महसूस करते हैं। कहते हैं, "बेचारा सोचेगा, मैंने उसकी परवाह नहीं की।"

वे पुनः एक-एक अक्षर बैठालने का प्रयास करते हैं, पर कोई शब्द नहीं बन पाता। लगभग ४५ मिनट तक इसी मसले को हल करने में बीत गए, पर कोई हल न निकला। फिर आपने ढाई-तीन घण्टे तक 'कविता' पर मुझसे क्या-क्या बोला, काश उसे याद रख सका होता। वे अपनी आत्मा के भीतर से निकालकर कुछ मुझे देते रहे थे, इतना याद है। और उसका निचोड़ मेरी आत्मा में कहीं ग्रहण भी हुआ है। पर यथाक्रम वह सब दे पाना सम्भव नहीं है।

शाम के पाँच-साढ़े पाँच बजे जलपान-गृह गए। चाय, आलू चॉप, फ्राइड अण्डे आदि। आलू चॉप के अलावा मेरे लिए कुछ और शाकाहारी चीज़ लेने का आग्रह···। फिर आया बिल। मैंने कहा, "मुझे भी तो कुछ सेवा का अवसर दें।" वे कहते हैं, "यह कौन सेवा है?" और पर्स निकालकर बिल चुका देते हैं कोई ५-६ रुपये। फिर कुछ देर बातें और फिर बिलासपुर पैसेन्जर के प्लेटफ़ार्म नं० ३ पर। इसी बीच डॉ० शम्भूनाथ सिंह (वाराणसी) से भेंट हो जाती है। आप उनसे मेरा परिचय कराते हैं, "ये शिवप्रताप सिंह हैं। इनकी एक छोटी-सी कविता अभी 'धर्मयुग' में छपी थी।" शम्भूनाथ सिंह शायद टिकट आदि के लिए जा रहे थे। अतः वे चले गए।

कुछ देर बाद गाड़ी आई। कुली ने होल्डाल व सूटकेस एक प्रथम श्रेणी के डिब्बे में रक्खा। आपने मुझसे कहा, "यह बिस्तर खोल दो, यह मेरी सेवा होगी।" मैं बिस्तर खोलते हुए कहता हूँ, "कल आप विश्राम-गृह में थकान महसूस कर रहे थे तो जी हुआ था, पैर दबा दूँ, पर वैसा न कर सका। सोचा, पता नहीं क्या सोचें आप!" आपने कहा, "वाह जी, वाह। जो भीतर से उठे, कर डालना चाहिए। दरअसल तो कल वही मेरी बड़ी सेवा होती।" तभी दो-तीन टिकट चेकर हाथ जोड़े बच्चनजी से प्रणाम कर रहे थे एवं किसी कविता की प्रशंसा। उधर प्लेटफ़ार्म नं० २ पर इलाहाबाद जाने वाली पैसेन्जर छूटने को थी। मैंने अनुमति माँगी। उन्होंने चलते-चलते कहा, "मैं तुमसे अलग कहाँ हो रहा हूँ।"

मेरे मुँह से निकला था, "मैं जानता हूँ, खूब जानता हूँ। सच तो यह है कि जनवरी '६७ के पूर्व ऐसे अवसर आए होते तो मैं खूब रोया होता। पर अब भावुकता ख़तम हो चुकी है—बहुत कुछ।"

आपने कहा, "अच्छा है, भावुकता ख़तम होनी चाहिए। अच्छा जाओ, और चिट्ठी लिखना, मुझे अपना समझना। कभी अकेला न महसूस करना।" और मैं प्रणाम करके अपनी गाड़ी पर जा पहुँचा। पहुँचने के साथ ही वह छूट भी गई। मैं दरवाज़े पर खड़ा देख रहा था कि बिलासपुर पैसेन्जर अभी तक क्यों नहीं छूटी! उसे ४-६ मिनटों की और देरी थी शायद···।
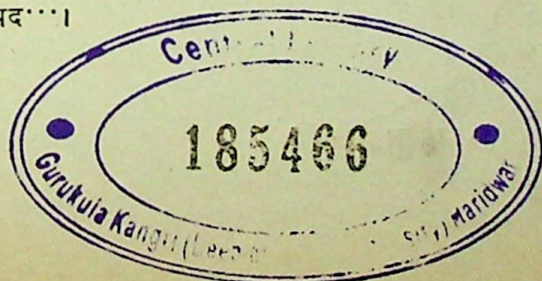
एक ध्वनि-चित्र

सत्यप्रकाश किरण

स्कूल : १९३८

"तुमने शराब पी है कभी ?"

"नहीं, लेकिन 'मधुशाला' पढ़ी है।"

"प्यार किया है किसीको ?"

"......नहीं, लेकिन जिसको करूँगा उसका नाम 'मधुबाला' होगा।"

"बच्चन का जादू पूरी तरह हावी हुआ है तुमपर, क्यों ?"

१९३९

युद्ध ! त्राहिमाम् ! वेस्टलैंड !! इलियट !!!

पटना विश्वविद्यालय : १९४५

रजतजयन्ती। कवि-सम्मेलन। मैथिलीशरण, बच्चन, दिनकर, नेपाली आदि-आदि।

मैं बी० ए० का विद्यार्थी था। नवविवाहिता पत्नी से पूछा, "कवि-सम्मेलनमें चलोगी ?"

"कौन-कौन आ रहे हैं ?"

"दिनकर तो यहाँ के ही हैं, बाहर से गुप्त तथा बच्चन हैं !"

"बच्चन ?—तो ज़रूर चलूँगी।"

दर्शकों से खचाखच भरा पण्डाल, आलोकित मंच। अनेकं मूर्धन्य कवि। सुभद्राकुमारी चौहान, हंसकुमार तिवारी, न जाने और कौन-कौन ? बच्चन कौन हैं ? घबराओ नहीं, एनाउन्समेन्ट होगा। वे तो मैथिलीशरणजी हैं; इनकी पगड़ी और मूँछें कहाँ हैं? गईं, ज़माने की हवा में उड़ गईं।

अब आपके सामने बच्चनजी···

"अरे !······चुप।······कौन ? वह ? नेवी ब्ल्यू सूट, खूबसूरत टाई, घुँघराले बाल ?······यह तो बड़े मॉडर्न निकले ! हाय ! कितने सुन्दर हैं !!"

"अच्छा जी ! अभी मुझसे विवाह हुए कुछ ही महीने तो हुए हैं, तुम तो बड़ी पतिभक्त निकलीं ?"

कविताओं का अजस्र प्रवाह।

"है अन्धेरी रात पर दीवा जलाना कब मना है ?"

"देखो, यह नई कविता है, निराशा के स्वर नहीं रहे अब।"

"हाँ, हाँ, लेकिन पहले तो लिखा था—'मुझसे मिलने को कौन विकल ? मैं होऊँ किसके हित चंचल ?' "

"शायद किसी नई संगिनी को पा लिया है और अपने को 'जस्टीफ़ाई' कर रहे हैं। मर्दों का क्या ?"

"अच्छा ! अच्छा ! सुनो भी तो।"

मधुशाला ! मधुशाला !! मधुशाला !!! जनरव। अनुरोधपूर्ण, आकुल कोलाहल और फिर······

मंदिर मस्जिद···मेल कराती मधुशाला······

साक़ीबाला, मधुबाला, प्याला, हाला······

मदिरापात्र भरने लगे, कंठ सिक्त हो गए, कानों में संगीत का मादक नाद गूँजने लगा और सारा समूह झूमने लगा। नाच मयूरी नाच······

दो दिन बाद।

महिला कॉलेज में बच्चन का कविता-पाठ। बच्चनजी शेरवानी और चूड़ीदार में। "मैंने तो उन्हें छू भी लिया था।" "कौन ? मेरी ओर तो उन्होंने दो बार देखा।" "चल पगली ! ज़रा आटोग्राफ़ भी तो लेने दे।" "तुमने अपना पेन लेते समय जान-बूझकर उनकी उँगलियों को छुआ होगा।"

डॉ० दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी, "हम लड़कों को मना कर रहे हैं कि महिला कॉलेज के अन्दर न आएँ। अनुशासनहीनता होगी। कौन सुनता है ?"··· ·····बंगाल का काल········· गाँधी।

लन्दन·····धर्मयुग।

बच्चन की 'डैफ़ोडिल' कविता पढ़ी। यार ! क्या हो गया ? वह बात ही नहीं रही। आधुनिकता, आधुनिकता, शोध तथा यीट्स। इलियट और पाउंड।

मैं लन्दन हिन्दी परिषद् में। ओम्प्रकाश आर्य तथा शारदा वेदालंकार—बच्चनजी की बहुत-सी मधुर यादें।

दिल्ली : १९५७

मैकबेथ—ओथेलो—रेडियो रूपान्तर। बहुत सशक्त रूपान्तर। किन्तु···किन्तु क्या ? लेडी मैकबेथ के लिए किसी और कलाकार को लेते। चलो·········चलता है।

समय चक्र।—विदेश विभाग···राज्यसभा···नेहरू जी का निधन···

यह आकाशवाणी दूरदर्शन है, चैनल चार पर।

"डाक्टर साहब, टेलीविज़न के लिए नेहरूजी की प्रथम पुण्यतिथि पर आपसे एक कविता-पाठ कराना है।"

"डॉक्टर साहब, शंकर कुरूप से अंग्रेज़ी में एक इंटरव्यू करना है।" "डॉक्टर साहब, विनोद पहेली कार्यक्रम 'मैं कौन हूँ' में आपको गुप्त अतिथि के रूप में भाग लेना है।"

और सदा ही बच्चनजी का नियत समय पर स्टूडियो पधारना, टेलीविज़न कार्यक्रमों के लिए आवश्यक पाउडर आदि से 'मेकअप' कराना, कपड़ों को आवश्यक-

तानुसार बदल लेना, अपने व्यवहार से टेलीविज़न के समस्त कर्मचारियों का दिल जीत लेना।

आकाशवाणी स्टूडियो—लिफ्टमैन की रविवारीय ड्यूटी—

"यार, बच्चनजी आ रहे हैं एक कार्यक्रम में। लिफ़्ट के पास ही रहना।" लिफ़्ट में ऊपर जाते हुए बच्चनजी से—

"सर, आपकी बहुत-सी कविताएँ मैंने स्कूल में पढ़ी हैं, हायर सेकन्डरी तक मैंने शिक्षा ली है, सर। आपको इतना पास देखा, अहोभाग्य!"

बच्चनजी मुझसे······

"यह मेरी खुशनसीबी है कि देश का सामान्य से सामान्य नागरिक भी मेरा पाठक रहा है।"

विलिंग्डन क्रेसेन्ट—कवि का निवास – संध्यावेला।

मैं अपना स्कूटर पोर्टिको के बाहर विशाल वृक्ष के नीचे खड़ा करता हूँ। वृक्ष की एक खोली में हनुमान की एक सुन्दर-सी मूर्ति, जिसपर पूजा के ताज़े फूल।

क्या 'मधुशाला' का कवि है यह?

वह कवि है, जो दो बार रूस-यात्रा कर आया है?

वह कवि है, जिसकी वाणी में 'बंगाल का काल' का भैरव स्वर है?

आस्था—अनास्था—गीता–कर्मयोग। चिरनवीन, चिरयुवा।

मैं अन्दर जाता हूँ। स्कूटर ड्राइव करते समय मैं क्रैश हेलमेट लगाता हूँ। मेरे हाथ से लेकर कवि अपने सिर पर लगा लेते हैं।

"अच्छी चीज़ है। कवि-सम्मेलनों में कवियों का सिर भी बचा सकती है।"

"बच्चनजी, आप सिगरेट पिएँगे?"

"पी लूँगा, अच्छा लगता है, कभी-कभी सिगरेट पीना!"

"मेरी कविताएँ ऐसी नहीं कि कोई एक बार पढ़े और समझ ले। पूरे आनन्द के लिए उन्हें कई बार पढ़ना होगा।"

"मेरा यह वर्ष बहुत कठिन रहा है, इट हैज़ बीन ए टेरिबल इयर।"

"···लेकिन बच्चनजी, आपके लेखन में तो हमेशा नवोल्लास तथा पूर्ण विश्वास का स्वर रहा है, किन्तु इस बार 'धर्मयुग' में आपकी नयी कविता 'विकास' देखी, उसमें निराशा तथा 'डिसइल्युज़नमेन्ट' की स्पष्ट ध्वनि है।"

"हाँ, मैंने अपनी पुस्तक, 'बहुत दिन बीते' में लिखा भी है—

"चार लाख हाथों ने पकड़ा 'मधुशाला' को
और निचोड़ा,
एक बूँद भी मदिरा टपकी?
कागज़ की 'मधुबाला'
कब आलिंगन करती?
'निशा-निमंत्रण' किसे न मैंने दिया,

पूत चिरई का भी, पर, पास न आया।
'प्रणय पत्रिका' हज़ारों ने बाँची होगी।
किस भकुए ने उत्तर भेजा ?
'मिलन यामिनी' में छाती पर सोती
पुस्तक!"

"मैं स्वयं नहीं लिखता, कोई मुझसे लिखा लेता है, वह मेरी अंतःप्रेरणा है, किन्तु मैं उसे अभी ठीक पहचान नहीं पाया हूँ। विश्वास-अविश्वास के बीच डोलता रहा हूँ। सोचता हूँ, सब कुछ व्यर्थ हुआ, कुछ कर नहीं पाया।"

"किन्तु बच्चनजी, यदि आपका अभिप्राय पार्थिव उपलब्धियों से है, तो मैं समझता हूँ कि जन-मानस के ऊपर आपका जो गहरा प्रभाव है, उसके आगे ऐसी उपलब्धियाँ तुच्छ हैं।"

"संभव है, किन्तु मैंने अध्यात्म के सम्बन्ध में भी अपनी शंकाएँ व्यक्त की हैं :
"कविता बनकर, हाय, रह गई,
ओ, तू भी तो,
री, जन गीते,
नागर गीते।"

संध्या घिरती आ रही है। कवि आज सुनाने के मूड में हैं, श्रोता मुग्ध है, ऐसे अवसर विरले ही आते हैं जीवन में जब कि सरस्वती के वरद पुत्र की वाणी निर्बन्ध फूट रही हो और एक अकेला श्रोता उसे सम्पूर्ण रूप में ग्रहण कर रहा हो। पिछले कई दशकों का अनुभव, कई पीढ़ियों और सदियों की पीड़ा के रूप में व्यक्त हो रहा है।

"मैं पन्तजी को महान कवि मानता हूँ किन्तु उनका शब्द-सौष्ठव उन्हें जन-गायक नहीं होने देता। इस नाते मैं जीवन के अधिक निकट हूँ, फिर भी...
बैल राम, हे
अब मत इतना ज़ोर दिखाओ,
विरधाई आ गई,......

खंडरात का आकर्षण घट नहीं सका है,
मैं अब भी उनमें जाता हूँ,
अब भी हँसी सुनाई पड़ती,
लेकिन प्रत्युत्तर में अब मैं भी हँसता हूँ।
अपना भाग्य सहे-स्वीकारे
मैं भी तो अब खँडहर-सा हूँ।

"बच्चनजी, जिस चिन्तन तथा संघर्ष की अनजानी राहों से आप गुज़र रहे हैं, उनकी विषमताओं और कठिनाइयों को आप अवश्य ही आत्मसात् करते हुए निरन्तर अपनी अमर वाणी सुनाते जाएँगे, इसी विश्वास के साथ मैं अब विदा होता हूँ। कुछ घंटों का आपका यह अनुग्रह मेरे जीवन की चिरस्मरणीय निधि है अब।"

'अपनी एक भूल से सीखा ज्यादा, औरों के सच सौ से'

चन्द्रदेव सिंह

मुझे लगता है कि बच्चनजी के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने-बूझने में 'आरती और अंगारे' की यह एक पंक्ति, —'अपनी एक भूल से सीखा ज़्यादा, औरों के सच सौ से' विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह पक्ति जहाँ कवि की जीवन के प्रति अनुभव-प्रियता का उद्घोष करती है, वहीं यह भी कि उसका कृतित्व सिद्धान्तों, प्रचलित मान्यताओं से अलग, उसकी निजी प्रतिक्रियाओं का प्रतिफलन है। इसी स्थिति को, दूसरे शब्दों में, कह सकते हैं कि बच्चन का कवि जीवन में कविता को भले न जीता हो, किन्तु कविता में जीवन को ही जीता है। यहीं मुझे बच्चनजी की कुछ पंक्तियाँ बार-बार याद आ रही हैं —"वर्ड्सवर्थ या श्री सुमित्रानन्दन पन्त जैसे कवियों में अपने कवि के प्रति, मुझसे कहीं अधिक आत्मविश्वास भले ही रहा हो, भाग्यवान् मैं उनसे कहीं अधिक था। उनसे कहीं अधिक मुझे अपनी कविता में विश्वास था, क्योंकि मुझे अपने में, अपने मानव में विश्वास था।" (आरती और अंगारे, पृष्ठ ९)

और इसी विश्वास तथा जीवन-अनुभूतियों ने जहाँ बच्चनजी के जीवन को संतुलित रखा है, वहीं उनका साहित्य भी यथार्थ भूमि पर आधारित रहा है। वे मानते हैं कि जीवन की प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक बात—चाहे छोटी हो या बड़ी—उनके लिए महत्त्वपूर्ण है। आज मानव की सहजता का गायक, जीवन की सहजता से विमुख कैसे हो सकता है?

बच्चनजी से ईर्ष्या करने वाले उनकी कवि-सम्मेलनी सफलता से चिढ़कर जहाँ अनेक रूपों में उनके विरुद्ध कुछ न कुछ प्रचार करते रहते थे, वहाँ यह बात ज़्यादा ज़ोर-शोर से फैलाई गई थी कि बच्चन पैसों के प्रति विशेष जागरूक रहते हैं। कवि-सम्मेलनों में जाने का मार्ग-व्यय इत्यादि बहुत अधिक लेते हैं और वह भी अग्रिम। दूसरी ओर बच्चन के कवि ने ऐसे अनेक अनुभव प्राप्त कर लिए थे, जिनके आधार पर ऐसा न करना ही किसी स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए अव्यावहारिक था। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है—"उत्तर प्रदेश के एक कॉलेज ने बुलाया। कवि-सम्मेलन के बाद ही रात की गाड़ी से मुझे लौटना था। सम्मेलन की समाप्ति पर संयोजक भीड़ के साथ निकल गए। मुझे स्टेशन का रास्ता भी नहीं मालूम था। आधी रात को कोई सवारी भी नहीं। कोई रास्ता बताने वाला भी नहीं। सिर पर सन्दूक लादे किसी तरह स्टेशन पहुँचा। संस्था का नाम मैंने अपनी काली सूची (ब्लैक लिस्ट) में रख दिया है। बहुत बार वहाँ से बुलावा आया। फिर नहीं गया।" (नये-पुराने झरोखे, पृष्ठ १५७)

अपने व्यय से दूसरों का मनोरंजन करते हुए घूमना या दो-एक बार उपेक्षित एवं संयोजकों द्वारा धोखा दिए जाने पर पारिश्रमिक का भुगतान अग्रिम करा लेना, इनमें किसी और के लिए चाहे जो भी प्रेय हो; बच्चनजी के लिए तो दूसरी बात ही व्यावहारिक है। वे मानते हैं कि जीवन में मूर्ख बनाने वाले भी मिलते हैं, पर मूर्ख बनाना उतना बुरा नहीं है, जितना मूर्ख बनना। और वे व्यक्तिगत रूप से, प्रवंचित होने को मूर्खता समझते हैं। इसीलिए चाहे जीवन हो या साहित्य, वे कहीं भी प्रवंचित होने के पक्षपाती नहीं हैं। सम्भवत: यही कारण है कि उनका कृतित्व कहीं भी वायवीय और कल्पनामात्र बनकर नहीं रह गया है।

यह अलग बात है कि छायावादोत्तर हिन्दी काव्य में होने वाली वादी परिवर्तनों में बच्चन का कवि कहीं भी समूह में दिखलाई नहीं देता। इसके लिए उसे उपेक्षा, उपहास सब कुछ मिलते हैं, पर वह उस दिन की प्रतीक्षा में जीता है, जब दूसरों को उसके यथार्थ जीवन का सही अनुभव हो जाए। और बच्चन का कवि अपने ऐसे ही आत्म-विश्वास के आधार पर सफल होता है। बच्चनजी के जीवन और साहित्यिक की ऐसी ही भूलों ने उन्हें अनुभूति की सत्य और संघर्ष की प्रेरणा दी है। इसे ही दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि युग और जीवन को देखने-परखने की दृष्टि और दृष्टिकोण बच्चनजी का अपना रहा है। मुझे तो ऐसा लगता है कि बच्चन का कवि यदि जन-जीवन से कभी अलग भी हुआ है तो किसी न किसी बाध्यतावश। यह बाध्यता वैयक्तिक सुख-दुख की हो अथवा समय सापेक्ष, किन्तु किसी सिद्धान्त या प्रचलित नियमों से उद्‌भूत तो नहीं ही रही है और यहीं यह भी कि ऐसी बाध्यता की अवधि में भी बच्चन के कवि ने समाज के प्रति अपने कर्तव्य को कभी भुलाया नहीं है। आज वे भले ही ऐसी भूलों को स्वयं सिद्धांत का जामा पहनाना चाहें, किन्तु समय-समय पर चाहे-अनचाहे उन्होंने अपनी ऐसी भूलों को स्वीकारा और उनका मुआवज़ा भी दिया है। इसीलिए जहाँ उनकी इस बात पर कि—"और न मेरा व्यक्तित्व ही सुस्थिर है और न कवित्व ही। दोनों का विकास होता रहा है।" (आरती और अंगारे, पृष्ठ ९)—सहज ही विश्वास हो जाता है, वहीं इसपर कि—"सजीव व्यक्तित्व और सजीव कवित्व के प्रति प्राय: इस प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। निर्जीवों की उपेक्षा की जाती है।" (आरती और अंगारे, पृष्ठ ९)

और यदि कुछ देर तक कवित्व की सजीवता को छोड़ दें तो व्यक्तित्व की सजीवता के भी अनेक प्रसंग मुझे स्मरण आने लगे हैं। गोरखपुर रेलवे द्वारा आयोजित बृहद् साहित्यिक आयोजन तो भुलाए नहीं भूलता। पर उसकी चर्चा कभी और।

सजीवता का एक और प्रसंग। कलकत्ते का 'सोसाइटी' चित्रगृह। स्थानीय एक संस्था द्वारा कविगोष्ठी आयोजित है। डॉ० बच्चन, डा० शिवमंगलसिंह 'सुमन' और जबलपुर के श्री भवानीप्रसाद तिवारी के साथ कवियों में श्री नीरज भी हैं। नीरज शेष तीनों से उम्र में कम हैं। शायद इसलिए सर्वप्रथम उन्हें कविता पढ़ने के लिए माइक पर बुलाया जाता है। वे आते ही फ़रमाते हैं—"मैं तो कलकत्ते में अपनी कविताएँ सुनाता-सुनाता बूढ़ा हो चला।" नीरज के माइक से हटते ही बच्चनजी कविता पढ़ने के लिए आते हैं। श्रोताओं के बीच से कुछ लोग अपनी-अपनी रुचि की कविताएँ पढ़ने का अनुरोध

करने के लिए खड़े होते हैं कि बच्चनजी हाथ के इशारे से उन्हें बैठ जाने के लिए कहते हैं। लोगों के बैठते ही वे शुरू करते हैं—"अभी-अभी जैसा कि नीरजजी ने कहा है, वे कलकत्ते में अपनी कविताएँ सुनाते-सुनाते बूढ़े हो चले हैं। यदि मेरे आगे के जन्मे और बढ़े नीरजजी बूढ़े हो चले हैं तो समझ लीजिए, बच्चन क़ब्र से बोल रहा है।" फिर तो पूरा हाल ठहाकों और तालियों की गड़गड़ाहट से काफ़ी देर तक गूँजता रहता है।

लेकिन इस सजीवता-सतर्कता और मस्ती के अतिरिक्त भी तो उनमें अनेक ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, जिनका परिचय उनके निकट सम्पर्क में आने वालों के लिए नया नहीं लगेगा। मैंने अनेक अवसरों पर उनमें स्नेह, करुणा, स्वाभिमान और व्यवहार-कुशलता का ऐसा सामंजस्य पाया है, जिसकी चर्चा अप्रासंगिक नहीं लगती।

प्रायः सोचा जाता है कि स्वाभिमान-रक्षा के प्रति सतर्क व्यक्ति दूसरे के सम्मान की भी रक्षा करता है। सम्भवतः एक स्वाभिमानी से ऐसी आशा की ही जाती है। मुझे याद है, एक दिन विदेश मन्त्रालय वाले उनके कार्यालय में बैठा था। और बातों के अतिरिक्त मैंने बच्चनजी से कहा कि मैं कल कलकत्ता लौट जाना चाहता हूँ। लेकिन अब मेरे पास पैसे नहीं रह गए हैं। इसलिए मुझे सौ रुपये चाहिए। बच्चनजी ने अपना मनी-बेग निकाला और फिर उसे खोलकर दिखलाते हुए कहा—"मेरे पास यही बीस रुपये हैं। इसलिए दस तुम रख लो और दस मैं रख लेता हूँ। आज का तो तुम्हारा काम इन दस रुपयों में चल जाएगा। बाक़ी नब्बे रुपये कल ले लेना।" फिर उन्होंने मुझसे कहा, "तुम बाहर कहीं पाँच मिनट घूम-फिर लो; फिर आओ।"

जब मैं थोड़ी देर बाद वापस कार्यालय में पहुँचा तो उन्होंने बतलाया—"देखो, मुझे जीवन-बीमा के दो-तीन प्रीमियम इसी सप्ताह देने हैं। पैसा मेरे पास था नहीं। इसीलिए मैंने अजितकुमार को बुलाकर कह दिया है कि कल मेरे लिए नब्बे रुपये लेते आना। तुमको इसलिए बाहर जाने को कह दिया कि कहीं अजितकुमार को यह न लगे कि वे तुम्हें रुपये दे रहे हैं। और तुम्हें भी ऐसा न लगे कि तुम अजित से रुपये उधार ले रहे हो। रुपये मैंने लिए हैं और मैं दूँगा। तुमसे क्या मतलब!" और मैं, कभी-कभी किसी ऐसे सन्दर्भ में कि बच्चनजी को दूसरों के सम्मान की कितनी चिन्ता रहती है, सोचकर; उनके व्यक्ति और रचनाकार के बीच अंतर कर पाने में असमर्थ हो जाता हूँ।

यहीं मुझे अच्छी तरह याद आ रहा है कि जब मैंने कलकत्ते से उन्हें रुपये भेज दिए तो उन्होंने एक पत्र में लिखा था—"क्या मैं मान लूँ कि ये रुपये तुम्हारे पास अधिक थे और तुमने अपनी ज़रूरत से अधिक जानकर लौटाए हैं?"

बच्चनजी को दूसरों की सुविधा और भावना की चिन्ता कितनी रहती है! उसके अनेक अनुभव मुझे हुए हैं।

दिल्ली का वेलिंग्डन नर्सिंग होम। बच्चनजी ने हार्निया का ऑपरेशन कराया है। ऑपरेशन के दूसरे दिन मैं और श्री भगवान सिंह नर्सिंग होम के रास्ते आकाशवाणी में थोड़ी देर ठहरकर श्री मोहनसिंह सेंगर से मिल लेना चाहते हैं। सेंगरजी स्वयं बच्चन-जी को देखने जाने की इच्छा प्रकट करते हैं और बताते हैं कि डॉ० नगेन्द्र भी अभी आ रहे हैं, फिर हम सभी लोग साथ ही चलेंगे। नगेन्द्र जी स्वयं कार ड्राइव करते हुए आते

हैं पर उसमें और भी कुछ लोग हैं। सेंगरजी असमंजस में पड़ जाते हैं, पर बार-बार कहने से वे नगेन्द्रजी के साथ जाने को राज़ी हो जाते हैं। हम लोग (मैं और भगवान सिंह) उनके तुरन्त बाद एक स्कूटर द्वारा वहाँ पहुँच जाते हैं।

नर्सिंग होम पहुँचने पर मैं देखता हूँ कि नगेन्द्रजी और सेंगरजी कमरे के बाहर ही खड़े हैं। पूछने पर पता चलता है कि डॉक्टरों ने बातचीत करने की मनाही कर दी है। ऐसी सूचना उन्हें श्रीमती तेजी बच्चन ने दे दी है। सेंगरजी मुझसे भी लौट चलने को कहते हैं, किन्तु मैं खिड़की की ओर बढ़ जाता हूँ, जहाँ से बच्चनजी दिखलाई दे जाते हैं। वे देखते ही तेजीजी को संकेत करते हैं कि मुझे भीतर बुला लें। और मैं भीतर जाकर चुपचाप बैठ जाता हूँ। बच्चनजी कुछ ही देर पहले आए हुए 'धर्मयुग' की ओर संकेत करते हैं कि मैं सूची पढ़ दूँ। फिर एक रचना को पूरा सुनते हैं। सन्ध्या को जब मैं सेंगर-जी को बतलाता हूँ कि उनके चले जाने के तुरन्त बाद ही बच्चनजी ने देखकर बुलवा लिया था, तो वे कहते हैं—"बच्चनजी को दूसरों की भावना और सुविधा-असुविधा की बड़ी चिन्ता रहती है।"

जीवन की यही सजीवता कि अगर डॉक्टरों ने बोलने की मनाही कर दी है तो सुनने की तो नहीं; यही सहानुभूति और करुणा कि उनसे किसीको किसी प्रकार का कष्ट न हो; ऐसी मस्ती और खुलापन कि सामाजिक रूप से भी दूसरों को बनाने और स्वयं दूसरों की ईर्ष्या का पात्र बनने में भी हिचक नहीं; ऐसे ही स्वाभिमान-रक्षा का प्रयत्न कि उनके किसी कार्य से किसी और के सम्मान पर कहीं आँच न आए—बच्चन-जी की ये और ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ उनके साहित्य में भी बिखरी पड़ी हैं।

और मुझे फिर याद आ रही है 'आरती और अंगारे' की वह एक पंक्ति—"अपनी एक भूल से सीखा ज़्यादा, औरों के सच सौ से।" और यह 'भूल' शब्द भूल न होकर, जीवनानुभव है जिसके लिए बच्चन के कवि को न तो अपने से दूर जाने की आवश्यकता पड़ी है, न पोथी-पत्रों, सिद्धान्तों की शरण लेनी पड़ी है। जब वे कहते हैं—"लिखने के लिए मैं नहीं जीता, जीवन प्रशस्त करने के लिए लिखता हूँ।" तब अचानक उन्हींकी एक पंक्ति स्मृति में उभर आती है।

बोझ सिर पर, कंठ में स्वर।

विभिन्न परिस्थितियों से आक्रान्त होने पर भी गाने की हौंस रखने वाला ही कह सकता है—

गर्म लोहा पीट,
ठंडा पीटने को वक़्त बहुतेरा पड़ा है।

और बच्चन के कवि ने कभी ठंडा लोहा नहीं पीटा है। यदि ठंडा लोहा पीटा भी है तो उसे इतना अधिक पीटा है कि घनों की चोट से ही गर्म होकर वह वांछित आकार पा गया है। वैसे गर्म और ठंडा की पहचान उनकी अपनी और दूसरों से भिन्न रही है। जब १९३२-'३५ के आसपास दूसरे कवियों ने राष्ट्रीय स्वरों का उद्घोष करना प्रारम्भ किया था, तब बच्चन का कवि मधु और मस्ती के गीत गाता रहा। जब दूसरे जग की गाते रहे, तब बच्चन अपने आप को ही जग की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर निजी सुख-दुःख

हर्ष-विषाद को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाए रहे। जब प्रगतिवाद का नारा बुलन्द हुआ, तब भी बच्चन का कवि 'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त संगीत' की वैयक्तिक वीथियों में भरमता रहा। जब स्वाधीनता संग्राम में दूसरे अपना-अपना सिर बलि करने की धारणा व्यक्त करते रहे, तब भी बच्चनजी को अपनी प्रिया और अभिसार से फ़ुर्सत नहीं थी। देश की स्वाधीनता के पश्चात् जब राष्ट्रीय कहलाने वाले कवियों ने शंख फेंककर सारंगी उठा ली, तब बच्चन के कवि को देश और समाज की याद आई और शायद अपना वह वादा भी याद आया, जो अभिसार के क्षणों में, उन्होंने किया था।

कभी तो उन्हें अपनापन ही विशेष महत्त्वपूर्ण लगता था, जब बिना किसी हिचक के उन्होंने घोषित किया था—

मैं स्नेह-सुधा का पान किया करता हूँ
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूँ
जग पूछ रहा उनकी, जो जग की गाते
मैं अपने मन का गान किया करता हूँ।

—मधुबाला

और यह अपनापन 'मिलन-यामिनी'-कालीन रचनाओं में उस चरम बिन्दु तक पहुँच गया है, जहाँ से कवि ने फिर अपनी भूल का अनुभव किया है। जब उसने द्वार पर बिलखती, दमित और प्रवंचित जनता को देखकर भविष्य में उसके दुःख-कारणों को जानने और उसका समाधान ढूँढ़ने को कहा था :

कल सुधारूँगा हुई संसार में जो भूल
कल उठाऊँगा भुजा अन्याय के प्रतिकूल
आज तो कह दो कि मेरा बन्द शयनागार,
सुमुखि ! ये अभिसार के पल, चल, करें अभिसार।

—मिलन यामिनी

तब भले ही तत्कालीन जनता पर इस वादे का कोई प्रभाव न पड़ा हो, किन्तु बच्चनजी की स्वातंत्र्योत्तर रचनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि उन्हें अपने वादे की स्मृति निरन्तर बनी रही है। वे स्वयं स्वीकार करते हैं—

अब अपनी सीमा में बँध कर
देश-काल से बचना दुष्कर
यह संभव था कभी नहीं, पर संभव था विश्वास।
अकारण ही मैं नहीं उदास

क्योंकि —

अनदेखा, अनसुना किये सब
कोई नेता संत नहीं अब
दुर्वासा के स्वर में गरजे—"अरे, ठहर बदमाश।"
अकारण ही मैं नहीं उदास।

—त्रिभंगिमा

राष्ट्र और समाज में व्याप्त अनीति, अनाचार, भ्रष्टाचार, स्वार्थलिप्सा, प्रवंचना, अराष्ट्रीयता और अनैतिकता से उदास कवि का मन सम्पूर्ण आत्मशक्ति और साहस के साथ असामाजिक, अराष्ट्रीय और अवांछित तत्त्वों की भर्त्सना करने लगता है। सारी गणतांत्रिक प्रणाली उसे मुट्ठी भर लोगों के लिए सुख-सुविधा का साधन भर लगती है। स्वाधीनता-संग्राम-अवधि के विश्वास और आशाएँ अर्थ-हीन होती प्रतीत हो रही हैं। तमाम नारों और भाषणों के बावजूद समाज में अभी मध्ययुग जैसी ही धारणाएँ विद्यमान हैं। सारी योजनाएँ कागज़ी और निरर्थक सिद्ध हो रही हैं। शासन-तन्त्र के कर्णभेदी तुमुल घन-गर्जन जैसे प्रचार-निनाद के पश्चात् भी अभी देश में ऐसे भी लोग हैं, जिन्हें यह भी नहीं मालूम कि देश कब स्वाधीन हुआ और यदि ऐसा हो गया तो पराधीनता के युग की तुलना में यह कहाँ तक विशेष है एवं उनके अपने अधिकार और कर्तव्य क्या हैं ?

भारत की राजधानी दिल्ली से क़रीब बीस मील की दूरी पर बसे देशवासियों तक जब गणतन्त्र दिवस का संदेश नहीं पहुँच पाया है, तब देश की अन्य योजनाओं-स्थितियों की कल्पना क्या कठिन है ? जब कवि दिल्ली के निकटस्थ ग्रामीणों से कहता है :

> भाइयो, क्या तुम नहीं यह जानते हो
> आज है गणतन्त्र का दिन
> जिसे बारह साल से दिल्ली मनाती ?
> यह दिवस गणतन्त्र का, यानी तुम्हारा,
> क्योंकि जनगण देश के तुम,
> क्योंकि तुमको, क्योंकि सम्मति को तुम्हारी,
> देश पर अधिकार आज दिया गया था।
> और कैसे हो कि उनसे बेख़बर तुम ?
>
> —त्रिभंगिमा

किन्तु उनपर न तो कोई प्रभाव पड़ता है और न वे ग्रामीण अधिकार, गण, सम्मति जैसे शब्दों से परिचित ही हैं। अन्त में कवि बड़ी ही व्यथा से स्वीकार करता है :

> आज चार हजार
> साढ़े तीन सौ से तीस ऊपर
> दिवस बीते रेंगते
> सन्देश, पर, गणतंत्र दिन का
> बीस मील नहीं गया है।
>
> —त्रिभंगिमा

यही नहीं, स्वाधीनता-संग्राम की अवधि में राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय सम्मान-रक्षा की भावना से संघर्ष करने वाले साधु व्यक्तियों को आज कोई नहीं पूछता, जब कि दूसरी ओर शासन में हाथ उनका ही है जो पराधीनता के दिनों में भी चैन की वंशी बजाते रहे। कवि ने 'समुद्र-मंथन' की एक चिरपरिचित पौराणिक प्रतीक-कथा द्वारा यह बतलाया

है कि समुद्र-मंथन में रत दानवों ने उसी समय शाप दिया था कि यदि फिर कभी इस प्रकार का कोई महत्त्वपूर्ण कार्य होगा तो सारा बोझ देवताओं (साधु जनों) पर होगा और दानव मात्र 'ज़िन्दाबाद' के नारे लगाएंगे तथा उपलब्धियों को हड़प लेंगे। देश की वर्तमान स्थिति, कवि को उसी शाप का परिणाम लगती है। कवि राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित संघर्ष करने वालों को सम्बोधित करते हुए कहता है :

यह विगत संघर्ष भी तो
सिन्धु-मंथन की तरह था।
जानता मैं हूँ कि तुमने भार ढोया,
कष्ट झेला,
आपदाएँ सहीं,
कितना जहर घूँटा।
पर तुम्हारा हाथ छूँछा।

—त्रिभंगिमा

जब कि दूसरी ओर शासन-शक्ति और अधिकार-सुख का उपभोग करने वाले कौन हैं, इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कवि बड़ी ही निर्भीकता और विश्वास के साथ घोषित करता है :

लेकिन जिन्होंने
शोर आगे से मचाया,
पूँछ पीछे से हिलाई,
वही खीस-निपोर,
काम-छिछोर दानव
सिन्धु के सब रत्न-धन को
आज खुलकर भोगते हैं।
बात है यह और
उनके कंठ में जा
अमृत मद में बदलता है,
और वे पागल नशे में
हद, हया, मरजाद
मिट्टी में मिलाकर
नाच नंगा नाचते हैं। —त्रिभंगिमा

इसी प्रकार राष्ट्र की वर्तमान स्थितियों के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक पक्षों को देखते हुए कवि कभी व्यथा से, कभी उपेक्षा से, कभी व्यंग्य से और कभी आक्रोश से जन-मानस तक अपनी प्रतिक्रिया पहुँचाने का प्रयास करता है। निरन्तर कष्ट भोगती हुई, भाग्य के भरोसे जीवित रहने वाली भारतीय जनता कभी उसे महा गर्दभ लगती है तो कभी उसे ही विद्रोह और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की वह प्रेरणा देती है। अपनी 'खजूर' शीर्षक व्यंग्य रचना में बच्चनजी ने आज की सरकारी योजनाओं का चित्र

उपस्थित करते हुए माना है कि देश की जनता अपने अधिकारों से वंचित है जबकि देश के थोड़े-से लोगों ने सम्पूर्ण अधिकारों को अपनी मुट्ठियों में केन्द्रित कर रखा है। अधिकार भोगी इन प्रलम्बासुरों ने पृथ्वी की सारी उत्पत्ति पर एकाधिकार क़ायम कर लिया है जब कि लोक-जीवन अपनी असमर्थता और सीमाओं में वामन बना हुआ छटपटा रहा है :

आज भी आकाश से गिरता बहुत है;
किन्तु धरती पर पहुँच पाता कहाँ है ?
यह प्रलम्बासुर
अदृश्य भुजा उठाकर
बीच में ही लोक लेता,
लोक अपने स्वत्व से वंचित,
बुभुक्षित
हाथ वामन के गगन में मारता
पर हाथ में कुछ भी न आता।

—त्रिभंगिमा

ऐसे में कवि देश, युग, इतिहास, नीति और ज्ञान की दुहाई देता हुआ संकेत करता है कि देश के साधारण जन अपने स्वत्व को पहचानें, अपनी शक्ति से अपरिचित न रहें :

और इस अँधेर पर, इस दुर्दशा पर
देश, युग, इतिहास, नीति-प्रबुद्ध ज्ञानी
सिर हिला संकेत करते,
यह प्रलम्बासुर मरेगा
जबकि शक्ति समेत हलधर जन्म लेंगे। —त्रिभंगिमा

यहीं कवि यह भी स्वीकारने से नहीं हिचकता कि देश की वर्तमान शासन-व्यवस्था भी उसी तरह विदेशी है, जैसी अंग्रेज़ों के शासन-काल में थी। भाषा, न्याय, नीति जैसी ही अन्यान्य स्थितियों को देखकर कवि का मन उपेक्षा और आक्रोश से भर उठता है। वह सोचने पर बाध्य होता है कि देश के वर्तमान शासक अंग्रेज़ों के ही भारतीय संस्करण हैं :

गोरा बादल गया नहीं था पश्चिम को,
रंग बदल कर अब भी ऊपर छाया है।

—चार खेमे चौंसट खूंटे

यही नहीं—

गोरा बादल चला गया हो तो भी क्या
काले बादल का सब ढँग उसीका और पराया है।
इससे जल की आशा, धोखा
उलटा इसने जल को सोखा।

—चार खेमे चौंसट खूंटे

इस प्रकार बच्चन के कवि ने जहाँ स्वातन्त्र्योत्तर राष्ट्रीय स्थितियों का बड़ा ही यथार्थ, सफल और प्रेरणादायक चित्र उपस्थित कर अपनी सामाजिक-जीवन-विमुखता की भूल का शमन किया है, वहीं वैयक्तिक जीवन में भी अपनी पूर्वनिर्मित मान्यताओं को स्वयं तोड़कर अपनी नवीन धारणाओं की घोषणा की है। यौवन के उद्दाम आवेग के क्षणों में बच्चनजी को लगा था कि मानव की अपनी शक्ति ही सब कुछ है। मंदिर, मस्जिद और गिरजाघरों के टंटे-गोरखधन्धों से इतर न तो कुछ और है और न विश्वसनीय। देवता के सम्मुख हाथ बाँधकर प्रार्थना में झुकी हुई मानव-प्रतिमाएँ उन्हें कभी पशुओं जैसी लगी थीं। विद्रोह और यौवनोचित मानव-शक्ति ही उनके लिए सब कुछ थे। प्रार्थना और पूजा उनकी दृष्टि में भ्रम और वंचना के अतिरिक्त कुछ नहीं थीं :

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर।
मनुज-पराजय के स्मारक हैं, मठ, मसजिद, गिरजाघर।
झुकी हुई अभिमानी गर्दन

बँधे हाथ, नत निष्प्रभ लोचन
यह मनुष्य का चित्र नहीं है, पशु का है रे कायर।
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर।

—एकांत संगीत

लेकिन आगे चलकर उन्हें फिर बोध होता है कि ऐसी धारणाएँ भी भ्रम ही थीं और वे चेत जाते हैं। यहीं मुझे बच्चनजी की एक पंक्ति पुनः याद आने लगी है—"न तो मेरा व्यक्तित्व ही सुस्थिर है और न कवित्व ही। दोनों का विकास होता रहा है।" यदि कोई चाहे तो इसे विकास नहीं भी मान सकता है। फिर भी, उसे इस 'विकास' को 'परिवर्तन' तो मानना ही होगा।

और बच्चन का कवि स्वीकार करता है—

थी मति मारी,
था भ्रम भारी,
ऊपर अम्बर गर्दीला था, नीचे भँवर लपेटा।
मैं तो बहुत दिनों पर चेता।

—चार खेमे चौंसठ खूँटे

यहीं, उसे यह भी लगता है कि कोई ऐसी परोक्ष सत्ता है जिसका भान उसे अपने भीतर-बाहर हर कहीं होता है। यही शक्ति उसके दुख और निराशा के क्षणों में उसकी सुधि भी लेती है, आशा और विश्वास भी प्रदान करती है :

यह किसका स्वर ?—
भीतर ? बाहर ?
कौन निराशा—कुंठित घड़ियों में मेरी सुधि लेता।
मैं तो बहुत दिनों पर चेता।

—चार खेमे चौंसठ खूँटे

और अब प्रार्थना का उपहास करने वाला बच्चन का कवि स्वयं प्रार्थना में झुक जाता है। यहाँ पहुँचकर उसे ऐसा अनुभव होता है जैसे उस परम सत्ता की कृपा पर ही उसका अस्तित्व सुरक्षित रह सकता है। यद्यपि यहाँ भी कवि अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए ही प्रार्थना करता है पर अब आत्मविश्वास का स्थान आस्तिकता ने ले लिया है :

प्रार्थना करनी मुझे है,
औ' इसे स्वीकारना, संभव बनाना,
सरल उतना ही तुम्हें है;
रीढ़ मुझको दो,
जहाँ पर हो जरूरी
मैं खड़ा हो सकूँ तन कर,
लौह-दृढ़ तन-प्राण-मन कर,
आन पर टूटूँ,
गगन की गर्जना को गान समझूँ,
किन्तु अपने मान, गौरव, गर्व को भी
बस तुम्हारा ही सबल वरदान समझूँ।

—चार खेमे चौंसठ खूँटे

यहाँ पहुँचकर, जहाँ एक ओर बच्चनजी के जीवन और कवित्व के निरन्तर विकसित, परिवर्तित हो रहे स्वरूप का बोध होता है, वहीं दूसरी ओर ऐसा मानने में भी सन्देह नहीं रह जाता कि बच्चनजी की अभिव्यक्तियाँ संघर्ष में डूबे एवं पल-पल नवीन अनुभवों से गुज़रते हुए एक क्रियाशील चिंतक की प्रौढ़ प्रतिक्रियाएँ हैं। न तो उनका जीवन किसी खूँटे से बँधा है और न कवित्व। वे किसी भी अनुभूति को असत्य नहीं मानते, किसी भी भावना को निरर्थक और अमानवीय नहीं समझते, किन्तु साथ ही उसे शाश्वत और अन्तिम सत्य मान लेने का दम्भ भी व्यक्त नहीं करते।

इसीलिए वस्तुत: बच्चनजी का व्यक्तित्व जितना जीवन्त है, उतना ही जीवन्त है उनका कवित्व। उनकी प्रत्येक अभिव्यक्ति पाठक या श्रोता को अपनी-सी लगती है क्योंकि उस अभिव्यक्ति के भूल में एक सहृदय व्यक्ति का सजग और सतर्क मन-मानस होता है और सम्भवत: बच्चनजी की सफलता का, समर्थता का सबसे बड़ा कारण भी यही है कि उन्होंने न तो कभी ठण्डे लोहे को पीटा है और न किसी दूसरे के घन और निहाई की सहायता ही ली है। मानवीय विशेषताओं (दुर्बलता-समर्थता) को एक सहज, संवेदनशील किन्तु सतर्क, जीवन्त और सुधी व्यक्तित्व द्वारा जो यथोचित कलात्मक अभिव्यक्ति मिल सकती है, वह अभिव्यक्ति बच्चनजी की है, वह व्यक्तित्व बच्चनजी का है।

बच्चनजी का जीवन और साहित्य उनके अनुभवों के निरन्तर विकसित होते स्वरूप का इतिहास है। यदि वहाँ भूलें हैं तो स्वाभाविक, दुर्बलताएँ हैं तो मानवीय, सफलताएँ और विशिष्टताएँ हैं तो वे भी सहज और प्रेरणाप्रद। इसीलिए उनके साहित्य का उत्स ढूँढने के लिए न तो किसी सन्दर्भ ग्रन्थ की आवश्यकता है, न मान्य सिद्धान्तों की। वे तो स्वयं स्पष्ट कर देते हैं :

चला सफ़र पर जब तब मैंने
पथ पूछा अपने अनुभव से,
अपनी एक भूल से सीखा
ज़्यादा, औरों के सच सौ से,
मैं बोला जो मेरी नाड़ी में डोला,
जो रग में घूमा,
मेरी वाणी **आज** किताबी
नक्शों की मोहताज नहीं है।

—आरती और अंगारे

और इस **आज** शब्द के स्थान पर **कभी** मान लेना क्या अधिक उपयुक्त नहीं है ?

एक भेंट-वार्ता

दीनानाथ शरण

जीवन-संघर्षों के बीच आगे बढ़ने वाले और इतनी लोकप्रियता पानेवाले कवि के दर्शन की अभिलाषा ही मुझे दिल्ली खींच ले गई, वरना यात्रा और खासकर दूर की यात्रा से तो मेरा मन हमेशा दूर ही भागता रहा है। अक्टूबर, १९६४ की २१वीं तारीख मेरे जीवन में सचमुच अविस्मरणीय बनी रहेगी, जब कि मैंने घण्टों के चिंतन-अनुचिंतन के बाद दिल्ली-यात्रा का कार्यक्रम पक्का कर लिया था। २३ अक्टूबर, १९६४ की तारीख मुझे भुलाए नहीं भूलेगी, जब मुझे पहली-पहली बार अपने प्रिय कवि बच्चन का कंठस्वर सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। फ़ोन पर जब मैंने उन्हें अपना परिचय दिया, और उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की, तो उन्होंने सहर्ष संध्या को ५ बजे का समय दिया। उनके कंठस्वर में मिठास थी, बहुत अपनापन था। लेकिन एक अपरिचित से और वह भी यदि बड़ा बुजुर्ग हो तो, दिल को हिचक होती है, अजब-सा भय लगता है, और मेरी मन:स्थिति भी उससे भिन्न न थी। बच्चनजी के विलिंगडन क्रिसेंट-स्थित निवास पर जब मैं नियत समय पर पहुँचा, तो मेरे साथ मेरे बड़े साले साहब श्री योगेन्द्र प्रसाद भी गए थे। एक बड़े से, खूबसूरत और सजे-सजाए ड्राइंग-रूम में हम दोनों कुछ ही क्षण बैठे थे कि बच्चनजी तुरन्त आ गए।

बच्चनजी क्या आए, जैसे मेरी आँखों के सामने हिंदी काव्येतिहास का एक युग आया। छायावाद की सारी उपलब्धियों के मूर्तिमान बच्चन ने फिर कैसे क्या कमाल किया कि हिंदी कविता की धारा ही बदल गई। बच्चनजी का व्यक्तित्व ही मेरी जिज्ञासा का उत्तर था। श्वेत परिधानों में बच्चनजी का शारीरिक व्यक्तित्व जैसा भव्य लगा, भाव-विचारों में भाषा की सादगी उतनी ही मनभावन लगी। अभिवादन में मेरे दोनों हाथ जुड़ गए थे।

"नमस्कार !"— अभिवादन में कवि के भी दोनों हाथ जुड़े थे। मैंने देखा—बच्चनजी के होंठों में कितनी सहज मुस्कान भरी थी। सोफ़े पर अपनी बग़ल में बिठाते हुए बच्चनजी ने जैसी आत्मीयता से बातें कीं; वैसी आत्मीयता अन्यत्र दुर्लभ है। बच्चनजी के व्यक्तित्व में मिलनसारिता है, बोलचाल में मिठास है, अपनापन है— यह सब मैंने महसूस किया, तो मेरा मन उनके प्रति श्रद्धा से भर उठा। "पत्र आपका मिला था," बच्चन जी ने इस पंक्ति से वार्ता शुरू की थी, जहाँ तक मुझे याद है।

"आपको प्रश्नावली के उत्तर नहीं मिले ?" उन्होंने प्रश्न किया। बच्चनजी के काव्य पर एक विशाल समीक्षा-ग्रंथ लिखने में संलग्न मैंने कुछ प्रश्न भेजे थे, बच्चनजी को

उत्तर देने के लिए। लेकिन मेरी प्रश्नावली के उनके द्वारा उत्तर भेजे जाने के बावजूद मिले नहीं। अतः मैंने उनसे कहा—"अगर आपके उस पत्र की प्रति मुझे नहीं मिली, तो मैं आपको फिर प्रश्न भेजकर निवेदन करूँगा कि उत्तर देने की कृपा अवश्य करें, क्योंकि मुझे आपके सम्बन्ध में तब समीक्षा-ग्रन्थ लिखने में सहायता मिलेगी।"

पटने से चलते समय कविवर श्री जगन्नाथ मिश्र गौड़ 'कमल' और नन्दा चक्रपाणि ने अपनी-अपनी पुस्तक मुझे दी थी, बच्चनजी को दे देने के लिए। जब मैंने बच्चनजी को वे पुस्तकें दीं, तो उन्होंने कहा, "पढ़ूँगा। सरकारी काम-काज से फ़ुरसत ही बहुत कम मिलती है। लिखने-पढ़ने के लिए समय नहीं मिलता और छुट्टियों मे भी दफ़्तर से काम आ जाते हैं। और, जहाँ से रोटी आती हो, उसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है ? इस मामले में मैं अपने को कवि नहीं मानता। केवल कवि बनने से मुझे उस तरह की ज़िंदगी नहीं मिलती, जिस तरह की ज़िंदगी मैं बसर करना चाहता हूँ।"

बच्चनजी की बात में कितनी गहरी सचाई छिपी हुई थी ! सचमुच, हमारे देश में केवल कवि बनकर कौन जी सकता है ? ख़ासकर, हिंदी कवियों का दुर्भाग्य किसीसे छिपा हुआ नहीं है। कमलजी का पत्र पढ़ते हुए बच्चनजी ने कहा—"कुछ दिन पहले, इनके सम्मान में आयोजित सभा के लिए पटने से मुझे एक पत्र मिला था······"

बीच में ही मैं बोल उठा—"साहित्य संगम से मिला होगा। मई में उनके सम्मान में एक सभा हुई थी।"

"हाँ, मैंने शुभकामना का पत्र भिजवाया था। मुझे खुशी होती है कि मेरे एक साहित्यकार बन्धु का सम्मान किया जा रहा है और मैं यदि सदेह उपस्थित नहीं हो सकता, तो मुझे शुभकामना या बधाई तो भेजनी ही चाहिए। इसमें किसी तरह की गुटवाली बात में मेरा विश्वास नहीं है। यों राजनीतिक क्षेत्र के समान साहित्य में भी आज कितने दल बनने लगे हैं।" बच्चनजी की बात स्वीकार करते हुए मैंने कहा, "पत्र-पत्रिकाएँ भी हद दर्जे की गुटबन्दी से ग्रस्त हैं। हर पत्रिका में लेखकों का अपना दल है और अपने गुट के लेखकों के अलावा और लेखकों को वे नहीं छापतीं।" बच्चनजी कहने लगे—"लगभग यही बात विश्वविद्यालयों में भी है।" अपने पिछले जीवन का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि जब वे विदेश से पी-एच० डी० करके लौटे, तो उनके वेतन में मात्र पाँच रुपये की वृद्धि हुई। जब मैंने आश्चर्य से पूछा, "केवल पाँच रुपये ? और पी-एच० डी० के लिए एलाउंस ?" तो मेरी जिज्ञासा के समाधान में जो कुछ उन्होंने बताया, बड़ा क्षोभजनक लगा। विश्वविद्यालयों की गर्हित गुटबन्दी का इससे बढ़कर और दूसरा ज्वलंत उदाहरण क्या हो सकता है कि हिंदी के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि की कोई भी पुस्तक किसी भी युनिवर्सिटी के पाठ्यक्रम में नहीं निर्धारित की गई और पाठ्यक्रम में ठाट से पढ़ाई जाती हैं किताबें उन लोगों की, जिनमें कोई जान नहीं है।

विश्वविद्यालयों की वर्तमान समीक्षा-पद्धति से बच्चनजी ठीक ही असन्तुष्ट प्रतीत हुए। आज शोध के नाम पर कूड़ा-कर्कट का ढेर लग रहा है और मौलिकता के बजाय पिष्टपेषण की ही मात्रा अधिक है। बच्चनजी ने बताया कि हिन्दी समीक्षा को विश्व-

विद्यालयों के घेरे से बाहर निकलकर किस तरह स्वस्थ और सुसंस्कृत होने की अपेक्षा है। और यहाँ उनके विचारों से मैं बिलकुल सहमत हूँ कि ठीक ही हिंदी के आलोचना साहित्य को भिन्न और स्वतन्त्र दिशा में आगे बढ़ने की आवश्यकता है। पिटी-पिटाई विश्वविद्यालय-पद्धति पर लिखी गई समीक्षाएँ बच्चनजी के विचार से ठीक नहीं हैं। हिंदी समीक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन की अपेक्षा है।

इसी प्रसंग में मैंने साहित्य समालोचना-विषयक अपनी मान्यताओं से बच्चनजी को अवगत कराया कि साहित्य-समालोचना के क्षेत्र में मैं दो निश्चित दृष्टियाँ लेकर उतरा हूँ। मेरी धारणा है कि पुरानी पीढ़ी के अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यकारों के सही मूल्यांकन की आवश्यकता है। ऐसे लेखक, जो भुला दिए गए हैं या समीक्षकों ने उन्हें वह महत्त्व नहीं दिया, जिसके वे अधिकारी हैं, मेरा उद्देश्य उन लोगों पर समालोचना लिखना है। और नई पीढ़ी के लेखकों में भी, वाक़ई, जिनमें प्रतिभा है, उन लोगों पर भी सम्यक् समालोचना होनी चाहिए।

बातचीत के इसी बीच ड्रांइग-रूम की मेज़ पर चाय-जलपान आ गया था। बच्चनजी ने जलपान के लिए जब कहा, तो पहले मेरा मन हिचक-सा गया, क्योंकि कुछ-कुछ ज्वर मुझे पहले से था। इसपर बच्चनजी ने बड़ो आत्मीयता से मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर नब्ज़ देखते हुए कहा—"आपसे ज़्यादा बुख़ार तो मुझे है।" फिर जलपान की मेज़ की ओर इशारा करते हुए कहा—"लीजिए···"

और, मैंने सचमुच महसूस किया कि मुझे बुख़ार बिलकुल नहीं है। मेरे बड़े साले साहब योगेन्द्रजी ने तो लौटने पर, घर पर हँसते हुए कहा, "भाई! बच्चनजी तो जादूगर हैं। आपका हाथ देखा और बुख़ार बिलकुल ग़ायब।"

चाय-जलपान के साथ-साथ इधर-उधर की बातचीत चलती रही। बच्चनजी ने अपनी नवीनतम साहित्यिक गतिविधियों से अवगत कराया और बताया कि उनकी दो नयी रचनाएँ प्रकाशित हो रही हैं और उनकी प्रतियाँ वे मुझे अपने हस्ताक्षर कर उपहार देंगे। अब तक लगभग दो घंटे बीत चुके थे। बातचीत के सिलसिले में बच्चनजी ने बताया कि अभी रात की गाँड़ी से उन्हें दिल्ली से बाहर जाना है। मुझे आश्चर्य और हर्ष हुआ कि बाहर जाने की व्यस्तता के बावजूद, उन्हें कितना इतमीनान था, उन्होंने कितना समय दिया और कितनी आत्मीयता से बातें कीं। रात के लगभग साढ़े सात हो रहे थे। जब बच्चनजी से लौटने की अनुमति माँगी, तो बिदा करने वे ड्राइंग रूम के बाहर बरामदे तक आ गए। बरामदे में विभिन्न आकार-प्रकार के पत्थरों में क्या-क्या खूबियाँ हैं—बच्चनजी ने बहुत प्रेम से बताया। रात आठ बजे जब मैं घर लौटा, तो लगा, मेरी वर्षों की अभिलाषा पूरी हुई है। बच्चनजी के काव्य और व्यक्तित्व में कौन कम है, कौन बढ़कर ? स्थिति तो मेरी समझ में 'को बड़ छोट कहत अपराधू' की-सी है, क्योंकि उनके कवित्व से भी मैं उतना ही प्रभावित हूँ, जितना उनके व्यक्तित्व से। दर-असल, बच्चन का जैसा कवित्व है, वैसा व्यक्तित्व भी है, और जैसा व्यक्तित्व है, वैसा कवित्व भी।

पत्रों के माध्यम से

डॉ० श्यामसुन्दर घोष

बात सन् १९६२ की है। गर्मी की छुट्टियाँ शुरू हो चुकी थीं। अचानक मेरे मन में इच्छा जगी कि बच्चन की रचनाओं का एक बार फिर से पारायण किया जाए। यह निश्चय विशुद्ध आनन्द-लाभ की दृष्टि से ही किया गया। इस क्रम में सबसे पहले मैंने 'प्रणय पत्रिका' के पारायण की बात सोची। जब पुस्तक शुरू की तो मेरा ध्यान दो गीतों की ओर विशेष रूप से गया। पुस्तक में इनकी संख्या क्रमश: पाँच और दस है। इन गीतों को पढ़ते हुए मुझे दो जगह ठहरना पड़ा। वे स्थल इस प्रकार हैं—

(क) लेकिन दिल के अन्दर कोई फाँस गड़ी ही रह जाती है।

(ख) यह चमड़े की जीभ पकड़ कब पाती है मेरे भावों को।

प्रथम गीत में मेरा ध्यान 'फाँस' शब्द की ओर गया जिसके साथ गड़ना क्रिया का व्यवहार किया गया है। यह मुझे उचित नहीं प्रतीत हुआ। उसकी तुलना में मुझे 'गाँस गड़ी ही रह जाती है' प्रयोग अधिक रुचिकर लगा। इसी भाँति दूसरे गीत में मुझे 'चमड़े की जीभ' और उसके द्वारा भावों को पकड़ा जाना भी अच्छा नहीं लगा। क्या जीभ वाक़ई चमड़े की होती है? वह भावों को पकड़ती है क्या? या व्यक्त करती है? मैंने ये 'रिमार्क' अपनी प्रति के हाशिये पर दर्ज कर दिए और गीत पढ़ता रहा। लेकिन न जाने क्यों, कई दिन बीत जाने पर भी ये त्रुटियाँ मेरे मन में खटकती रहीं। लाचार होकर मैंने बच्चनजी को पत्र लिखने का निश्चय कर लिया। इसके पहले मैंने उन्हें कभी पत्र नहीं लिखा था। इसलिए हिचकिचाहट भी थी। और सबसे बढ़कर आलस्य परेशान करता था। फिर सोचता था, क्या यह सुझाव देना भी धृष्टता नहीं है? लेकिन ये सारी बातें एक ओर रह गईं और मैंने उन्हें पत्र लिख दिया। पत्र लिखकर मैं निश्चिन्त हो गया। मैंने इस आशा से पत्र नहीं लिखा था कि बच्चनजी उत्तर दें ही। मैंने अपनी बात उन तक पहुँचा दी और इसीसे मुझे संतोष था। लेकिन कुछ ही दिनों बाद उनका उत्तर मिला, जो इस प्रकार है—

नयी दिल्ली
३०-६-'६२

सम्मान्य बन्धु,

पत्र के लिए धन्यवाद। मुझे प्रसन्नता है कि 'प्रणय पत्रिका' आप ध्यान से पढ़ रहे हैं। फाँस से गाँस ज्यादा अच्छा शब्द है, विशेष कर गड़ी के साथ। पर शायद फाँस अधिक प्रचलित होने से मैंने लिख दिया होगा। गाँस का प्रयोग स्थानीय है शायद उत्तर

भारत में अवध तक सीमित।

मेरे एक अध्यापक थे। बहुत कहते थे, पर विद्यार्थी उनकी न मानते थे। तब वे कहा करते थे कि यह जीभ लोहे की होती तो खिया जाती, पत्थर की होती तो टूट जाती पर यह चमड़े की है जो बकते-बकते न खियाती है, न टूटती है, पर तुम लोग करते हो अपने मन की! शायद उसीकी स्मृति रही होगी। वैसे आपका कहना ठीक है। पकड़ेगी तभी तो व्यक्त करेगी, कुछ ऐसा समझ लेना पड़ेगा। हालाँकि प्रयोग में सूक्ष्मता नहीं है। उनकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करने के लिए आभारी हूँ।

मेरा नया काव्य-संग्रह 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' के नाम से प्रेस में गया है।

—बच्चन

इस पत्र से बच्चनजी की मानवीयता और निरभिमानता स्पष्ट है। बड़े लेखक यों भी अपने पाठकों को पत्र लिखना वक़्त जाया करना समझते हैं, ख़ास कर तब जबकि पत्र लेखक स्वयं ही पत्रोत्तर की अपेक्षा न करते हुए पत्र लिखे। इसके बाद तो फिर जो पत्रों का सिलसिला शुरू हुआ, वह बीच-बीच में चलता रहा।

आम तौर पर ऐसा देखा जाता है कि लेखक पुराना होते हुए चुक जाता है। उसमें एक थकावट और अवसाद का भाव देखा जाता है। अपनी उपलब्धियों को बहुत मानना और उसकी तुलना में स्वीकृति और सम्मान न मिलने से क्षुब्ध हो जाना उसका स्वभाव हो जाता है। इसके लिए वह सहज ही दूसरों को दोषी ठहराता है। साहित्य में जब से आधुनिकता का आन्दोलन चला है, तब से गीत और रूमानी तत्त्वों और भावुकता आदि की काफ़ी छीछालेदर हुई है। इस क्रम में लोगों ने बच्चन को भी नहीं बख़्शा है। लेकिन ऐसा होते हुए भी बच्चनजी के मन में क्षोभ नहीं रहा है। यह बात उनके एक पत्र से स्पष्ट है—

नयी दिल्ली
दिनांक ३-६-'६५

सम्मान्य बन्धु,

मुझे इस बात की कम परवाह है कि समालोचक मेरी कविता के बारे में क्या कहते हैं। यह ठीक है कि मेरा भी विकास हो रहा है। मुझे संतोष है कि अब भी मेरे पाठक हैं। जो ठीक समझूँगा लिखता रहूँगा। सर्जक को औरों को सन्तुष्ट करने के पहले अपने को संतुष्ट करना चाहिए। साहित्य के संसार में अब गद्दी नहीं मिलती। मुझे फिर भी अपने बहुसंख्यक पाठकों की संवेदना मिली है···

—बच्चन

यहाँ इस छोटे-से पत्र से बच्चनजी के स्वभाव की कई बातें स्पष्ट होती हैं। उनमें अपनी जीवन्तता के प्रति एक अटूट विश्वास तो है ही साहित्य-जगत् की बदलती हुई परिस्थितियों और धारणाओं का बोध भी है।

बच्चनजी पत्रोत्तर देने में बहुत नियमित हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है—

"पत्रों का उत्तर मैं सदा से तत्परतापूर्वक देता रहा हूँ। मानव के प्रति मेरे आदर का यह प्रतीक है।" केवल यही नहीं, पत्रों के माध्यम से नाना प्रकार के साहित्यिक प्रश्नों के उत्तर देने में भी वे बहुत तत्पर रहे हैं। इस सम्बन्ध में मैंने उनसे एक बार दो प्रश्न पूछे थे—

"प्रश्नों के उत्तर आप तुरन्त बोलकर देना पसन्द करते हैं या लिखकर ? अधिक प्रश्नों से आप घबड़ाते तो नहीं ?"

इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा था—"जी नहीं। प्रश्न क़रीने के हों। बहुत-से प्रश्न बेढंगे होते हैं।"

मेरा दूसरा प्रश्न था—"क्या प्रश्नों के लिखित उत्तर देने में आप देर करते हैं या संक्षिप्त उत्तर देते हैं या एकदम टाल ही जाते हैं ?"

इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा था "नहीं, जल्दी देता हूँ। संक्षिप्त उत्तर ही सारवान होता है। टालने की बात मेरे मन में नहीं आती--जब तक कि प्रश्न बिलकुल बेसिर-पैर का न हो।"

न जाने कितने नये और पुराने साहित्यकारों और साधारण पाठकों के पास बच्चनजी के असंख्य पत्र होंगे। उन सबको सुरक्षित रखना आवश्यक है। दूसरों को लिखे पत्रों की प्रतिलिपि साधारणतः कोई नहीं रखता। बच्चनजी भी नहीं रखते। इसके लिए न तो उनके पास धैर्य है और न समय।[१] इसलिए उनके विनष्ट हो जाने की पूरी संभावना है। ऐसा होने से उन बातों के लुप्त हो जाने की आशंका है जो बच्चनजी पत्रों में प्रासंगिक रूप से बहुत बेबाक ढंग से कह जाते हैं और उनका साहित्य-सिद्धान्त-चर्चा की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। उदाहरण के लिए उन्होंने 'बच्चन का परवर्ती काव्य' की प्रति मिलने पर मुझे जो पत्र लिखा, उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

नयी दिल्ली
२१.११.'६७

सम्मान्य बन्धु,

कृपा पत्र के लिए धन्यवाद।

श्री विश्वनाथजी ने आपकी पुस्तक की प्रति मुझे भेजी है। प्रकाशन पर मेरी बधाई। मेरा विशेष आभार स्वीकार करें कि पुस्तक आपने मेरी साठवीं वर्षगाँठ पर मुझे समर्पित की है।

'सन्दर्भ' में आपने मेरे प्रति जो सद्भावना प्रकट की है उसके लिए भी कृतज्ञ हूँ। काश अधिकारी भी होता।

पुस्तक अच्छी है। छपाई भी उसकी अच्छी हुई है। पता नहीं हिन्दी के पत्रों, समालोचकों की उसके प्रति क्या प्रतिक्रिया होगी ? कसौटी पर तो आपका समालोचक है। कोई भी समालोचना किसी कृति की समालोचना होने के पूर्व समालोचक की समालोचना होती है। हिन्दी का सर्वसाधारण पाठक अभी समालोचना का पाठक नहीं बना। समालोचना को पढ़ने वाले प्रयः अध्यापक-विद्यार्थी हैं और अपनी रुचि में पाठ्य-

१. ऐसा बच्चनजी ने ही एक पत्र में लिखा था।

क्रमों से सीमित, संकुचित। इसमें थोड़ा दोष मैं समालोचकों का भी मानता हूँ। उन्होंने समालोचना को सृजनात्मक रूप देकर प्रस्तुत नहीं किया। शायद कर भी नहीं सकते थे..."

पत्र लम्बा है इसलिए उसका इतना ही अंश उद्धृत कर रहा हूँ। यहाँ प्रसंगवश समालोचना के सम्बन्ध में उन्होंने जो विचार प्रकट किए हैं, वे बने रहने के योग्य हैं। ऐसी कितनी ही बातें उनके पत्रों में यहाँ-वहाँ बिखरी होंगी।

बहुत-सी ऐसी सूचनाएँ भी, जो साधारणतः अविदित रहती हैं, उनके पत्रों में मिलती हैं। एक बार उनकी काव्येतर गतिविधियों के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर, उन्होंने मुझे लिखा था—"प्रसंगवश बता दूँ कि मैं सिपाही भी रहा हूँ। यूनिवर्सिटी ट्रेनिंग कोर में रहते हुए मैं लेफ़्टिनेन्ट के पद तक पहुँचा था। बन्दूक, मशीनगन, एन्टी-टैंक गन, मार्टर आदि चलाना भी मैंने सीखा— तभी चलाया भी था अभ्यास के लिये। यह भी मेरे जीवन का एक पक्ष है—

मैं क़लम और बंदूक़ चलाता हूँ दोनों
दुनिया में ऐसे बन्दे कम पाए जाते
दावा न करूँगा ऐसों में एकताई का
यद्यपि उनपर अधिकार स्वयं कुछ मेरे हैं।"

पत्रों के माध्यम से इस प्रकार निश्छल आत्मीयता स्थापित कर लेना बच्चनजी की अपनी विशेषता है।

कुछ निकट से

अजितकुमार

मैं यह तो नहीं कह सकता कि मैंने बच्चनजी को निकट से देखा है, पर यह ज़रूर कहना चाहूँगा कि मैंने उनको कुछ निकट से—अर्थात् अन्य सामान्य लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक निकट से—देखा और जाना है। उसके आधार पर मैं कहना चाहता हूँ कि बच्चनजी उन थोड़े-से लोगों में हैं, जिन्हें निकट से देखने का मतलब उन्हें पसन्द करना यानी उनके प्रति स्नेह और आदर का भाव विकसित करना होता है। अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि अतिपरिचय अवज्ञा अथवा उदासीनता को जन्म देता है। पर यह कहावत बच्चनजी पर लागू नहीं होती। उनके साथ घनिष्ठता का अर्थ होता है उनकी सहानुभूति पाना और उनके अपने मानवीय गुणों की अधिक से अधिक जानकारी हासिल करना।

बच्चनजी के व्यक्तित्व के इस पक्ष पर अधिक बल देने का कारण यह है कि भले ही लोगों और लेखकों को व्यवहार या आचरण के धरातल पर उस तरह का होना चाहिए जैसे कि बच्चन हैं, पर दुर्भाग्यवश अधिकतर लोग और लेखक इस देश में कुछ दूसरी ही तरह के हैं। उनसे जब तक आप दूर-दूर रहिए, तब तक ठीक है, पर यदि आपने उनके निकट पहुँचने की भूल की तो आप देखेंगे कि अधिकतर तथाकथित सम्भ्रांत, प्रतिष्ठित और आदरणीय लोग तथा लेखक भीतर ही भीतर कितने तुच्छ, अशिक्षित, असंस्कृत, ओछे और हीनाशय हैं। दूसरे शब्दों में, जिन्हें हम प्रायः असाधारण समझते हैं, वे हमें प्रायः बिलकुल साधारण मिलते हैं। एक तरह से देखा जाए तो इसमें उन बेचारे प्रतिष्ठित लोगों को बहुत दोषी नहीं ठहराना चाहिए। आखिरकार वे भी इन्सान ही होते हैं और इन्सानी कमज़ोरियाँ भी उनमें होती ही होंगी। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि उन्हें लेकर जो उम्मीदें एक मामूली आदमी के मन में अनजाने और अनचाहे बँध जाती हैं, वे ज़्यादातर पूरी नहीं होतीं। सौभाग्यवश, इस धरातल पर बच्चनजी हमें निराश नहीं करते। वे मनुष्य से मनुष्य की भाँति आचरण करते हैं। और अपनी कविता में भी मानवीय भावनाओं को ही व्यक्त करने की कोशिश करते हैं। वे अपनी चारों ओर जान-बूझकर कोई प्रभामण्डल नहीं बनाते, न अपनी रचनाओं को किसी अतिरिक्त स्वार्थ-सिद्धि का साधन बनाना चाहते हैं।

और वे जैसे भी हैं, वैसा बनने और होने के लिए उन्हें बहुत अधिक परिश्रम और संघर्ष करना पड़ा। कदाचित् इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए अनेक लोगों ने उन्हें एक 'असाधारण साधारण' व्यक्ति की संज्ञा दी है। इस साधारणता का प्रमाण

हमें बच्चनजी से सम्बद्ध कितनी हीं चीज़ों से मिल सकता है। उन्होंने एक साधारण मध्यमवर्गीय परिवार में जन्म लिया। साधारण शिक्षा पाई। मामूली नौकरियाँ कीं। देखने-सुनने में भी सामान्य रहे। कविता का नाम भी छोटा-सा रखा। मामूली लोगों की समझ में आ जाने वाली बातें, मामूली लोगों की भाषा में लिखीं। कभी कोई बहुत बड़ा सम्मान या पुरस्कार न पाया, न इसके लिए कोशिश की, लेकिन इस साधारणता को पाने और विकसित करने के लिए उन्हें जो असाधारण प्रयत्न करना पड़ा है, उसकी पूरी कथा तो कदाचित् वे स्वयं ही बतला सकते हैं, पर थोड़ी-बहुत उनसे सम्बद्ध व्यक्तियों को भी ज्ञात होगी। अत: उनकी साधारणता केवल इसीलिए असाधारण नहीं कि यह गुण सामान्य रूप से प्रतिष्ठित अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त लोगों में नहीं मिलता, बल्कि इसलिए भी असाधारण है कि इसे हासिल करने के लिए उन्होंने असामान्य प्रयत्न किया। साथ ही वे इसलिए भी असाधारण हैं कि ये प्रयत्न कोई अतिमानवीय या देवतुल्य प्रयत्न न होकर, एक साधारण व्यक्ति के ऐसे साधारण प्रयत्न थे जो कि उसकी सीमाओं और परिस्थितियों के सन्दर्भ में एक हद तक असाधारण बन गए थे।

उन प्रयत्नों का पूरा लेखा-जोखा देने का न मैं अधिकारी हूँ, न उनकी मुझे पूरी जानकारी है, न हो सकती है। मैं तो उनमें से कुछ का हल्का संकेत भर दे सकता हूँ और उन प्रयत्नों के पीछे स्थित व्यक्ति की जीवनेच्छा, महत्त्वाकांक्षा, कर्मठता या कि साधारणता की ओर आपका ध्यान आकर्षित मात्र कर सकता हूँ। बहुत पहले की बात है, वे टी० बी० के मरीज़ हो गए थे। डॉक्टरों ने जो इलाज बताया, उसका खर्च उठा सकना उनके वश में न था। एक डॉक्टर ने कहा, "यदि इलाज नहीं कर सकते तो जाओ, जाकर मरो।" तब उन्होंने घर लौटकर घरेलू, व्ययरहित प्राकृतिक चिकित्सा शुरू की और डॉक्टरों ने जिस मृत्यु को प्रत्यक्ष और आसन्न बताया था, उससे लड़ते हुए फिर से जीवन और स्वास्थ्य लौटा लाए। असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण या कौन जाने, आर्थिक कठिनाइयों के कारण, उनकी पढ़ाई बीच में ही छूट गई थी। उसे उन्होंने न केवल दोबारा शुरू किया, बल्कि तिबारा, चौबारा प्रयत्न करते हुए, आखिरकार पैंतालीस-छियालीस वर्ष की उम्र में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट लेकर पूरा किया। उनकी पहली पत्नी का देहावसान हो गया था। इस तथा एक अन्य कारणवश, उनकी भावनाओं का संसार ध्वस्त हो चुका था, किन्तु उस विध्वंस को उन्होंने पहले तो कलात्मक सृजन में परिणत किया, फिर अनेक वर्ष बाद पुन: अपने नीड़ का निर्माण किया। एक तरह से बच्चन के जीवन का बहुत बड़ा सूत्र उनकी इस कविता में देखा जा सकता है : 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर।' प्रयत्न करना, उसमें असफल होने पर फिर-फिर प्रयत्न करना—इसकी एक पूरी शृंखला, एक निरन्तर शृंखला बच्चनजी के जीवन और उस जीवन से बहुत अंशों में अविच्छिन्न रूप से जुड़े काव्य में पाई जा सकती है। उनकी किसी कविता में एक पंक्ति है—'नाश के दुख से कभी दबता नहीं निर्माण का सुख।' इसे हम बच्चनजी के जीवन का मूल प्रेरक स्वर कह सकते हैं।

सोचने की बात है कि इस जीवनेच्छा या जिजीविषा में ऐसा असाधारण क्या है जो बच्चनजी को अपने जैसे अन्य साधारण लोगों से किंचित् भिन्न बना देता है?

मेरे ख्याल से, वह है जीवन के तीखे, कड़ुवे और कसैले संघर्ष को झेलने के बाद भी उनमें शेष बची मिठास, मृदुता और मानवधर्मिता। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप वे तीखे, कड़वे और कसैले नहीं हो गए। इसे मैं उनकी असाधारणता समझता हूँ। मुझसे उन्होंने कई बार कहा है कि जगत् ने—विशेष रूप से हिन्दी जगत् ने—उनका बहुत अधिक अपमान किया है। पर जैसा मैंने उन्हें देखा है, इस अपमान का बदला उन्होंने जगत्, और विशेष रूप से हिन्दी जगत्, का सम्मान करके ही दिया। जो परिस्थितियाँ अन्य लोगों को कुंठित और विकृत कर देती हैं, उनसे गुज़रकर भी बच्चनजी ने अपने आपको स्वस्थ और मुक्त बनाया। सम्मेलनों ने जहाँ हिन्दी के असंख्य कवियों को महज़ घटिया और छिछली कविता लिखने वाले तुक्कड़ कवि बनाकर छोड़ दिया, वहीं बच्चनजी ने कवि-सम्मेलनों से प्राप्त जीवन-संस्पर्श द्वारा अपनी रचना को निरन्तर, शुद्ध साहित्यिक रूप प्रदान किया। पिछले दिनों उनके मुँह से कई बार मुझे एक वाक्य सुनने को मिला, जिसे दोहराकर मैं उनके जीवन-संघर्ष और उससे निःसृत जीवन-दृष्टि की ओर इंगित करना चाहूँगा। २३ सितम्बर, '६६ को दिल्ली विश्वविद्यालय के क्वायर हाल में उन्होंने फिर कहा, "मेरा समाजवाद यही है कि जिसे भी मेरी जरूरत हो, उसके लिए मैं सहज सुलभ रहूँ और मेरा व्यक्तिवाद यह कि मेरे लिए सभी दुर्लभ हैं।"

अक्सर मैं उनकी इस बात को लेकर सोचता रहा हूँ और मुझे लगा है कि वे बहुतों को अपना स्नेह देने और बहुतों से बेहद स्नेह पाने के बावजूद कहीं भीतर ही भीतर बहुत अकेले हैं। मैंने अक्सर महसूस किया है कि मानव-सुलभ भावनाओं को अपनी कविता में झंकृत करने वाले इस कवि के अन्तर में एक कोठा ऐसा भी है जहाँ वह किसीको—अपने अंतरंग से अंतरंग बंधु को भी—प्रवेश नहीं करने देता। मैं नहीं जानता कि इसकी संगति मैं किस तरह उनके सहज स्नेही स्वभाव के साथ बिठाऊँ! कभी-कभी उस सुरक्षित प्रदेश—उस 'हार्ड कोर' या उस 'सैंक्चुअरी' के इर्दगिर्द चक्कर लगाकर, मैं यहाँ तक सोचता हूँ कि बच्चनजी दुनियावी तौर पर एक ठंडे, निर्मम और कठोर व्यक्ति हैं और यह कि उनका स्नेह-भाव मात्र औपचारिक और अभ्याससिद्ध, सभ्य, व्यवहार भर ही है। किन्तु उसी क्षण मुझे याद आती है—जीवन की अथवा उनसे बिछुड़ गए उनके अनेक-अनेक स्वजनों की करुणा तथा जीवन-पथ पर उनसे मिलने या उसको काटने वाले अनेकानेक लोगों की उनके प्रति उपेक्षाएँ तथा स्वयं उनके अपने जीवन-पथ की भी असंख्य असफलताएँ, खीझें, असन्तुष्टियाँ ·· और तब मुझे लगता है कि मैं उनके प्रति—'तन के सौ सुख सौ सुविधा में मेरा मन वनवास दिया-सा' अनुभव करने वाले व्यक्ति के प्रति—अन्याय कर रहा हूँ। याद आती है, श्रीमती कृष्णा हठीसिंह ने अपने भाई पं० जवाहरलाल नेहरू के विषय में लिखा था कि 'भीतर से वे बहुत अकेले थे।' पढ़कर एक अजीब बेचैनी-सी हुई थी कि जिस व्यक्ति को करोड़ों लोग इतना प्यार करते हों और खुद जिसका मन लोगों के लिए इतना अधिक उमड़ता हो, वह भी अपने आपको अकेला महसूस कर रहा था! क्या यह कलाकार की और संवेदनशील व्यक्ति की अनिवार्य नियति है? क्या वह अकेला होने और बने रहने के लिए अभिशप्त है? क्या कला, कविता, कवि-सम्मेलन, प्रसिद्धि, नेतृत्व, प्रतिष्ठा और इस तरह की

असंख्य-असंख्य बातें उसी अकेलेपन को भरने के विवश, असहाय प्रयत्न हैं? क्या ये प्रयत्न सदा असफल ही होते रहेंगे?

शायद बच्चनजी का जीवन और उनकी कविता, ऐसे ही प्रश्नों का उत्तर खोजने का एक प्रयत्न—एक और मार्मिक प्रयत्न—कहा जाएगा। अपने लिए दूसरों को मिटाना या कि दूसरों के लिए अपने को मिटाना···जगत् से जो कुछ भी अधिक से अधिक सम्भव हो, हासिल करने में या कि जीवन को अपना सब कुछ दे डालने में तत्पर होना··· अथवा कोई स्वर्णिम मध्यम मार्ग खोजने की कोशिश करते हुए एक पतले-से धागे पर नटों की भाँति सधने की कोशिश करना···या फिर किसी खुशनुमा ख्याल में अपने आपको भुला-भटका देना···ये सब उस खोखलेपन को भरने की ही तो कोशिशें हैं, जो भीतर ही भीतर एक संवेदनशील व्यक्ति को जर्जर करता जाता है। एक समूचा जीवन-चक्र पूरा करते-करते—एक लम्बी काव्य-यात्रा के उत्तर चरण में, जब हम सुनते हैं, 'मैंने मदिरा को पीकर के भी देख लिया, मैंने मदिरा को तज करके भी देख लिया।' तो हम क्या नतीजा निकालेंगे? यह खोज क्या कभी पूरी न होगी? आत्म-निषेध, आत्म-स्वीकार, आत्म-समर्पण, आत्म-साक्षात्कार, आत्म-संघर्ष, आत्म-ज्ञान—ये सब की सब क्या केवल विदूषकों की हास्यास्पद मुद्राएँ मात्र सिद्ध होनी हैं। विद्रोह, प्रार्थना, सम-झौता, शक्ति, करुणा ये सब क्या हैं? मैंने सोचा था कि गुरुवर, पितृतुल्य, कविश्रेष्ठ बच्चनजी से इन प्रश्नों का उत्तर खोजने में सहायता पा सकूँगा। सचमुच उन्होंने वह सहायता दी है। कातर हुआ हूँ, उनसे यह जानकर कि "मैं तुम्हारी नाट्यशाला में विदूषक मात्र बनकर रह गया!" पर निराश नहीं। उन्होंने मुझे सिखाया है कि जीवन को उसकी पूर्णता में, उसकी सम्यक्ता में देखने की कोशिश करनी चाहिए। पर अब तक मैं उनके माध्यम से अपने आपको ही समझने और पाने की अधूरी कोशिश में लगा रहा हूँ। इसके साथ ही, अभी, मुझे उनके साहित्य को, समूचे साहित्य को, जगत् को और जीवन को समझना शेष है। काश, मैं उनके कुछ अधिक निकट होता!—तब शायद उनसे वह असाधारण धैर्य और प्रयत्न सीख सकता, जिसके अभाव में मुझ जैसे साधा-रण व्यक्ति की साधारणता और भी उजागर हो गई है।

'कोई न कभी मिलकर बिछुड़े'

डॉ० ओंकारनाथ श्रीवास्तव

विद्यार्थी-जीवन में बच्चनजी के कुछ निकट आने का मौक़ा ज़रूर मिला था, मगर उस ज़माने में हम लोग उनसे किसी कदर आतंकित रहा करते थे क्योंकि अध्यापक के रूप में वे काफ़ी रोब रखते थे। उन दिनों वे यू० ओ० टी० सी० के अधिकारी भी थे। शायद उन दिनों उन्हें यह खटका बना रहता था कि कहीं विद्यार्थी लोग मुँह लग जाने पर क्लास-रूम ही में उनसे 'मधुशाला' की माँग न कर बैठें। असल में बच्चनजी को एकदम अपने सामने पाकर भी 'मधुशाला' की माँग न करना बड़े संयम का काम था और यह उनके कठोर अनुशासन द्वारा ही संभव होता था।

क्लास-रूम में बच्चनजी की सख़्ती बेहद थी। एक बार की बात है, ज़ोरदार बारिश होने की वजह से लगभग सारा इंग्लिश डिपार्टमेंट ख़ाली पड़ा था और अपने क्लास में हम केवल पाँच विद्यार्थी आए थे। स्कूल और कॉलिज के दिनों के अनुभव के आधार पर हम यह माने बैठे थे कि आज या तो क्लास होगा नहीं या होगा तो महज़ इधर-उधर की गप्पें होंगी। मगर बच्चनजी न केवल ठीक समय पर आए बल्कि उन्होंने डाँट-फटकार कर सबकी ख़ामख़याली भी दूर की और एबरक्राम्बी की एक कविता 'मेक वे, मेक वे, यू थ्वार्टिंग स्टोन्स' डिक्टेट करके उसका 'एक्सप्लेनेशन' लिखित रूप में पूछा और उसपर नंबर दिए और एक हज़रत को, जो बिना कॉपी-क़लम के आ गए थे, क्लास से निकाल दिया। यह शायद जुलाई या अगस्त सन् १९४७ की बात है।

उस समय तक बच्चनजी ने 'बच्चन' शब्द के प्रयोग को अपने कवि-रूप तक सीमित रखा था। यूनिवर्सिटी में वे मि० हरबंस (हरिवंश नहीं) राय थे। परीक्षा की कॉपी में क्लास टीचर का नाम लिखना होता था। इसलिए उन्होंने हमें सख़्त ताकीद की थी कि, "कुछ लोग मेरे नाम के आगे प्रोफ़ेसर लगाते हैं, यह ग़लत है। डिपार्टमेंट में केवल एक प्रोफ़ेसर हैं—प्रोफ़ेसर एस०सी० देब, 'लेक्चरर' नाम के साथ जोड़ा नहीं जाता इसलिए आप लिखिए, मिस्टर एच० राय या मिस्टर हरबन्स राय—एच ए आर बी ए एन एस। कुछ लोग लिखते हैं, प्रोफेसर बच्चन, मिस्टर बच्चन, पोएट बच्चनजी ई-ई-। मैं क्लास में बच्चन नहीं, यह याद रखिए, नहीं तो आपके नम्बर कट जाएँगे।"

ख़ैर, इसका तो हम लोगों ने पालन किया मगर एक बड़ी दिक़्क़त आ खड़ी हुई। हम क्लास में कोई सवाल पूछना चाहें तो उन्हें संबोधित किस प्रकार करें। कॉलिज तक 'मास्साब' कहने से काम चल जाता था, 'सर' का चलन हुआ नहीं था, 'प्रोफ़ेसर' कहने

पर मनाही थी, 'लेक्चरर' कहना अनुचित था, यह हमें बताया जा चुका था। 'सुनिए मिस्टर' तो हम कहते नहीं, इतने समझदार तो थे ही। अंग्रेज़ी के क्लास में होने के बावजूद अंग्रेज़ी बोलने का कोई अभ्यास नहीं था और डर था कि हिंदी में बोल पड़ेंगे तो फिर डाँट पड़ेगी इसलिए हम लोग अधिकांशतः चुप ही रहते। हाँ, जब बच्चनजी ख़ुद ही हमसे सवाल कर बैठते तब संबोधन की समस्या न रह जाती और कोई न कोई चर्चा चल निकलती, सो भी अधिकांशतः सेमिनार क्लास में, लेक्चर क्लास में वह भी नहीं।

इस कठोर अनुशासन के बावजूद हम लोग क्लास में, ख़ासकर सेमिनार क्लास में गाहे-बगाहे कुछ न कुछ ढिठाई करते ही रहते थे। ढिठाई पर बच्चनजी भड़कते भी ख़ूब थे, मगर सज़ा नहीं देते थे। सज़ा सिर्फ़ ढीलेपन पर या 'होम वर्क' न करने पर देते थे।

बी० ए० के दो वर्षों यानी सन् '४७ से '४९ तक जब बच्चनजी हमारे क्लास और सेमिनार के टीचर थे, उनके निकट आने का अवसर कम ही मिला। केवल एक बार वे होस्टल में मेरे कमरे पर आए, क्योंकि भूल से वे किसी ग़लत तारीख़ पर हमारे होस्टल के कवि-सम्मेलन में भाग लेने के लिए आ पहुँचे थे और हॉल पर सन्नाटा देखा तो पूछते-पूछते मेरे कमरे तक आ गए। फिर वहाँ थोड़ी देर रुके और कुछ कविताएँ भी सुनाईं। इसके बाद डरते-डरते हम तीन-चार मित्र भी दो-एक बार उनके यहाँ, १७ क्लाइव रोड पर हो आए। इसके पहले पंतजी से मिलने के बहाने दो-एक बार 'एडेल्फ़ी' जा चुके थे। बी० ए० की पढ़ाई जब ख़त्म होने को आई तब आख़िरी सेमिनार क्लास में मैं उपस्थित नहीं हो सका। इसका मुझे काफ़ी दुःख हुआ इसलिए मैं उनके बँगले पर मिलने के लिए गया। वहाँ उन्होंने कुछ इतनी आत्मीयता से बातें कीं, कविताएँ सुनीं कि लगा कि पढ़ाई के बाद भी उनसे मिलते-जुलते रहना संभव हो सकेगा। उसके एक साल बाद गरमी की छुट्टियों में उन्होंने मुझे अपने यहाँ बुलाने का भी वादा किया, मगर वह पूरा न हो सका क्योंकि उसी बीच उनके छोटे भाई रज्जनजी बीमार पड़कर दिवंगत हो गए।

एम० ए० की पढ़ाई के दौरान, यानी सन् १९४९-'५० में हम लोगों का बच्चन-जी के यहाँ नियमित आना-जाना शुरू हो गया था। उन दिनों प्रयाग में गोष्ठियों की धूम थी। बात-बात पर गोष्ठियाँ बन जाती थीं और कविता-कहानी और बहसें चल निकलती थीं। इस बीच बच्चनजी ने कार भी खरीद ली थी। हम लोगों ने एक एकदम नये ढंग की गोष्ठी बना डाली जिसका नाम था 'निशांत'। 'निशांत' की ख़ूबी यह थी कि उसकी गोष्ठियाँ आधी रात के बाद शुरू होती थीं और पिछले पहर तक चलती थीं। उसके सदस्य थे श्री जगदीश राजन, श्री सतीशदत्त पांडे, श्री सुरतदास श्रीवास्तव, श्री अजितकुमार और मैं। श्री महाराजकृष्ण रसगोत्र जो 'मिलन यामिनी' के रचनाकाल में धर्मशाला (कांगड़ा) में बच्चनजी के मेज़बान रहे थे, इन दिनों अक्सर इलाहाबाद आते रहते थे, वे भी इस गोष्ठी के अतिथि सदस्य थे। तेजी भाभी भी इसकी सदस्या थीं मगर वे तभी उपस्थित होती थीं जब गोष्ठी उन्हींके घर पर होती थी और हमें बहुत अच्छी

कॉफ़ी पिलाती थीं। इस गोष्ठी के बारे में प्रयाग के बहुत-से लोगों के मन में बड़ी उत्सुकता थी मगर हम लोगों ने राज़ को राज़ ही रहने दिया। इसकी अंतिम गोष्ठी बच्चनजी को इंगलैंड जाते समय विदाई देने के लिए हुई थी। जब तक वे लौटे, सुरतदास और सतीश पांडे क्रमशः आई० ए० एस० और आई० पी० एस० में आ चुके थे। रसगोत्र जी तो पहले ही से आई० एफ० एस० में थे, जगदीश प्रयाग से विदा हो चुके थे और अजित कानपुर जा चुके थे, इसलिए फिर 'निशांत' की बाक़ायदा कोई मीटिंग नहीं हो सकी। हाँ, जब दिल्ली में फिर कई लोग मिले तब कभी-कभी 'निशांत' की याद आई और बहुत आई।

बच्चनजी जब इंग्लैण्ड से लौटे, तब मैंने उन्हें काफ़ी खिन्न पाया। उनके मन में कुछ कड़वाहट आ गई थी। इंग्लैण्ड-प्रवास ही में शायद इसकी शुरुआत हो गई थी। उस समय की उनकी मुक्त छन्द की रचनाओं में इसकी भनक मिलती है। साथ ही वे अपने सुमधुर गीतों की भी रचना करते रहे थे। उनका मन था कि उन सब रचनाओं को एक साथ 'पूजा और पलीता' के नाम से छपाएँ। पंतजी को यह नाम पसन्द नहीं आया तो फिर उन्होंने 'आरती और अंगारे' तथा 'बुद्ध और नाचघर' संग्रहों में वे रचनाएँ छपाईं। प्रयाग लौटने पर उनकी खिन्नता बहुत बढ़ गई थी और अक्सर वे वीतराग-से जान पड़ते थे। शायद यूनिवर्सिटी वालों की जलन और दुर्व्यवहार का भी इसमें हाथ था। मैंने कभी तफ़सील में जाने की हिम्मत नहीं की मगर एक बार, जब वे रेडियो में 'प्रोड्यूसर' बनकर आ गए थे, उन्होंने ऐसा कहा ज़रूर था कि मैं अपने 'मेम्वायर्स' लिखूँगा और उसमें सब कुछ लिखूंगा। मगर मुझे ऐसा लगता है कि अब वे उन सब बातों को भूल चुके हैं या उनकी क्षमाशीलता बहुत बढ़ गई है क्योंकि उनकी आत्मकथा के जो अंश प्रकाशित हुए हैं, उनसे उनकी प्रवृत्ति संग्रहणीय तत्त्वों की ओर ही अधिक जान पड़ती है।

बहरहाल उन दिनों प्रयाग में मैं बार-बार उनके मन में यही बैठाने की कोशिश करता रहा कि चूंकि वे अपने प्रेमी श्रोताओं से इतने लम्बे अरसे तक दूर रहे हैं, इसीलिए शायद वे बातें जो उनके निकट महत्त्वहीन रहा करती थीं, अब महत्त्वपूर्ण बनकर उन्हें परेशान कर रही हैं। जो भी हो, धीरे-धीरे वे फिर से रुचिपूर्वक काव्य-पाठ करने लगे और उनका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य भी तेज़ी से सुधरने लगा।

संयोग ही की बात है कि बच्चनजी सन् १९५६ में जब दिल्ली आए तब वहाँ उनकी एक छोटी-मोटी शिष्य-मण्डली भी जुट गई। सत्येन्द्र शरत्, रमानाथ अवस्थी, अजित और मैं। अब तक हम लोगों के मन से उनके अनुशासन का आतंक निकल चुका था और वे सहज ही हमारे अभिभावक बन चुके थे। तेजीजी को हम लोग 'भाभी' ज़रूर कहते थे, और हैं, मगर यह रिश्ता उत्तर प्रदेश की भाभी वाला नहीं, बल्कि सीधा मातृत्व का रहा। हमें प्रतिदिन उनकी ममता और स्नेह का सुख मिलता रहा और होते-होते बच्चनजी की स्थिति एक बुजुर्ग की-सी हो गई। उनके लब-लहजे में भी देखते-देखते बुज़ुर्गी आने लगी जो कि कभी-कभी हम लोगों को बड़ी असंगत लगती, कभी-कभी बच्चनजी खुद भी उसे झिटक देने को कोशिश करते मगर उनकी तब की और बाद

की रचनाओं से भी ऐसा लगता है कि वह उनके मानसिक जीवन की एक नई शुरुआत थी। उनका रवैया कुछ फ़िलसाफ़ाना होता जा रहा था। वे शायद अक्सर-अक्सर मुड़-कर पीछे देखने लगे थे। बहरहाल यह चर्चा उनके परवर्ती काव्य के अध्ययन से सम्बन्ध रखती है और मेरा उद्देश्य इस समय सीमित है।

हाँ, तो जैसा मैंने अभी कहा, अब बच्चनजी की स्थिति बुजुर्गों की-सी थी और हम सभी मित्र कुँवारे थे। हमें नौकरियाँ मिल चुकी थीं और हमारी शादियाँ होनी थीं। बच्चनजी यों भी ठेठ लड़के वाले हैं, उनके सिर्फ़ दो सन्तानें हैं, दोनों लड़के। शिष्यों में उस वक़्त हमीं सब लोग थे, सो उन्होंने हम सभी की बरातें लड़के वाले की हैसियत से कीं। हम सभीकी शादियाँ भिन्न-भिन्न तरीकों से हुईं और सबमें बच्चनजी की एक खास भूमिका रही। मगर इस प्रसंग के पहले एक लतीफ़ा।

हमारे एक और मित्र हैं श्री गंगाप्रसाद श्रीवास्तव। प्रयाग विश्वविद्यालय के अच्छे मेधावी छात्र और कवि। वे भी उन दिनों दिल्ली आ चुके थे। गंगाप्रसाद के चेहरे पर ऐसी मासूमियत और सिधाई छाई रहती थी कि मैं उन्हें छेड़ने के लिए उनके नाम के पहले 'बिचारे' जोड़ दिया करता था। बच्चनजी को इसमें बड़ा मजा आता था और वे ठहाका लगाकर हँसते थे। गंगाप्रसाद की शादी दिल्ली ही में होनी तय हुई, हम लोग कहते फिरने लगे कि बिचारे गंगाप्रसाद की शादी हो रही है, खूब हँसी होती। बच्चनजी ने भी शरीक़ होने की मंज़ूरी दी। तभी यह लतीफ़ा गढ़ा गया। हुआ यों कि बच्चनजी का परिवार उन दिनों दिल्ली नहीं आया था और वे कांस्टीट्यूशन हाउस में रहते थे। निमन्त्रण सरे शाम ही का था इसलिए दफ्तर से उठकर वे सीधे टैक्सी करके लड़की वालों के मकान पर पहुँच गए। इधर हम लोग जनवासे में उनका इंतज़ार करते रहे। आखिर थोड़ी देर के बाद वे किसीके साथ जनवासे में आए तो बताने लगे कि "मैं तो वहाँ पहले ही पहुँच गया। उन लोगों ने मेरी बड़ी खातिर की। लड़की के बाप बड़े सज्जन हैं और जब उनको मालूम हुआ कि लड़का मेरा 'स्टूडेन्ट' है तो उन्होंने मेरी और भी आवभगत की और लड़की के बारे में भी बताया कि लड़की बड़ी सीधी है, एक-दम गउ, मैंने कहा..."

"लड़का भी एकदम बैल है"—किसीने वाक्य पूरा किया। इसपर इतना जोरदार ठहाका लगा कि बच्चनजी भी इस पूर्ति का प्रतिवाद न कर सके। यह लताफ़ा बाद में खूब चला। इसकी वजह से जो मस्ती छाई, वह बहुत देर तक क़ायम रही। जब बरात काफ़ी चक्कर काटकर लड़की वालों के दरवाज़े पहुँची तो अचानक बिजली 'फेल' हो गई और एकदम घुप्प अँधेरा छा गया। उस वक़्त बच्चनजी ने ही बुलन्द आवाज़ में वह शेर पढ़ा कि—

'वस्ल की रात में क्या काम जलने वालों का।'

और अँधेरे की उलझन में अचानक क़हक़हों की रोशनी छा गई।

इन सब लतीफ़ों ने गंगाप्रसाद को सभीका प्रिय बना दिया मगर वे परिवार और सुविधाजनक नौकरी के चक्कर में ऐसे फँसे कि दिल्ली के, दिल्ली से न्यारे होकर रहने लगे।

क्रम की दृष्टि से दूसरा नम्बर मेरी ही शादी का आता है जो कि पुराने तरीक़े से हुई थी। क़स्बे के लाला लोगों की बरात लेकर हम लोग लखनऊ आए थे। बच्चनजी ने उसमें शुद्ध बराती ढंग से शिरक़त की। दिल्ली से अपने बड़े बेटे अमितजी के साथ पधारे और पूरे समय उपस्थित रहे। खाली वक़्तों में उन्होंने उपस्थित लोगों को अपने लोकगीत सुनाए, जिनकी वे उन दिनों रचना कर रहे थे। 'मैकबेथ' का अनुवाद भी तभी पूरा हुआ था, उसे भी उन्होंने काफ़ी समझा-समझाकर लोगों को सुनाया। 'मधुशाला' तो हुई ही। कई लाला लोग, जिनमें एक मेरे दूर के चाचाजी भी थे, उस वक़्त यह विश्वास नहीं कर सके कि ये वे ही बच्चनजी हैं जिनको सन् '३५-'३६ के आसपास वे अपने रायबरेली शहर में ही सुन चुके थे। शायद यह अत्युक्ति नहीं है कि बच्चनजी के श्रोताओं की कई पीढ़ियाँ जवान होकर बूढ़ी हो चुकी हैं और सबकी स्मृतियों में बच्चन और 'मधुशाला' की अलग-अलग तस्वीरें सुरक्षित हैं।

मेरी शादी के बाद सत्येन्द्र (श्री सत्येन्द्र शरत्) की शादी का नम्बर था। यह शादी ज़रा बेढ़ब थी—अन्तर्जातीय और अन्तर्प्रान्तीय। ऐसे में यह स्वाभाविक ही था कि हम लोग बच्चनजी की ओर देखते क्योंकि वे पहले ही रास्ता दिखा चुके थे। ऐसी शादियों में रिश्तेदार लोग तो नाराज़ होने के लिए उधार खाए बैठे रहते हैं, दोस्तों और रहनुमाओं का ही सहारा रहता है। सत्येन्द्र को दोस्तों की कभी कमी नहीं रही, रहनुमा अकेले और पूर्णतः विश्वसनीय बच्चनजी थे ही। बच्चनजी ने जहाँ एक ओर इस प्रगतिशील सम्बन्ध का समर्थन किया, वहीं इसपर भी ज़ोर दिया कि संस्कार परम्परागत विधि से होने चाहिए। शादी दिल्ली ही दिल्ली में होनी थी। जैसा बच्चनजी ने चाहा, वैसा ही हुआ। वे खुद समधी बने, पण्डित राजाराम शास्त्री ने मंत्रपाठ किया। जनाब सलाम मछलीशहरी ने सेहरा पढ़ा तो उधर की किसी बड़ी-बूढ़ी ने सेहरा पढ़ाई पाँच रुपये आगे बढ़ाए। सलाम साहब बड़े भिन्नाए, लेकिन कुछ कहने का मौक़ा तो था नहीं। बच्चनजी ने स्थिति सँभाली और सलाम साहब को नज़र क़ुबूल करने के लिए राज़ी किया।

विदाई के बाद बच्चनजी दूल्हा-दुल्हन को अपने ही घर पर ले गए। यहाँ उन्हें ज़रा कठिन पार्ट अदा करना पड़ा। सत्येन्द्र जो अब तक अपने को किसी तरह सँभाले हुए थे, अब विचलित हो उठे। शायद अपने संघर्षपूर्ण अतीत में उन्होंने कभी ऐसी छायादार विश्राम की घड़ी की कल्पना भी नहीं की थी और शादी के आखिरी क्षण तक उन्हें सब कुछ अवास्तविक ही लग रहा था इसीलिए सब कुछ सम्पन्न हो जाने पर उनके धैर्य का बाँध टूट गया था। यह परिस्थिति हम लोगों के लिए बड़े असमंजस की थी, क्योंकि हम थे चुहलबाज़ी के मूड में, मगर बच्चनजी की यह विशेषता है कि वे किसी संवेदनशील क्षण की गरिमा को पूरा आदर देते हैं। उस वक़्त उन्होंने उन सारे गुरुजन का पार्ट अदा किया जिनकी याद शायद सत्येन्द्र के मन को मथ रही थी। बहुत प्यार और सांत्वना भरे शब्दों में बहुत देर तक समझा-बुझाकर उन्होंने सत्येन्द्र के जी को हल्का किया। उस वक़्त वे निश्चय ही अपने पचास वर्षों से कहीं बढ़कर लग रहे थे। लगता था कि सत्येन्द्र अपनी उम्र के कम से कम बीस वर्ष छोड़ बैठे हैं और उन सब वर्षों को

अनायास ही बच्चनजी ने अपने ऊपर ओढ़ लिया है।

इसके बाद आई अजित की शादी, जिसमें बच्चनजी को लगभग निर्णायक पार्ट अदा करना था। यों तो सब कुछ जाना-पहचाना था, लेकिन सम्बन्ध अन्तर्जातीय होने के कारण गाड़ी बहुत बेढब जगह पर आकर अटक गई थी। सहज उदार स्व० कपूर साहब (स्नेहजी के पिताजी) राज़ी तो हो गए थे मगर घरेलू विरोध के कारण निरुपाय थे। आखिर हमारे एक तार के उत्तर में, वे स्वयं स्नेहजी को लेकर दिल्ली आए और हमारे साथ ही ठहरे। उनका उद्देश्य यह था कि यह प्रमाणित हो जाए कि वे जी-जान से चाहते हैं कि यह सम्बन्ध हो जाए मगर वे कुछ समय चाहते थे, खासकर अपनी छोटी लड़की का विवाह हो जाने तक का। हम लोग इस परिस्थिति के लिए क़तई तैयार नहीं थे। क्या कहें और कैसे कहें! बच्चनजी के पास सलाह लेने पहुँचे। उन्होंने कहा, "इसमें मुश्किल क्या है। अब लड़की तुम्हारे घर में आ गई है तो उसे बहू बन-कर ही घर से निकलना चाहिए।" हमें यह एक अटपटी-सी बात लगी। शादी कोई हँसी-खेल तो है नहीं। फिर भला कपूर साहब कैसे राज़ी होंगे। साज-सामान, तैयारी, यह सब कैसे होगा! बच्चनजी को जब इसमें कोई बाधा न दिखाई दी तो हमने कहा कि 'फिर आप ही सँभालिए' और वे फ़ौरन मध्यस्थ बनने के लिए चल पड़े। कपूर साहब से उन्होंने बहुत देर तक बातें कीं और उनकी हर बात से सहमत होते गए। एक समय तो ऐसा लगा कि वे अपनी ही बात झुठलाए दे रहे हैं। ऐसे ही क्षण में, कपूर साहब ने लड़की वाले की निरुपायता का वर्णन करना शुरू किया कि बच्चनजी को अपना 'प्वाइंट' मिल गया और बस, उन्होंने अपना 'ट्रंप' फेंका—"ठीक है कपूर साहब! तो आप अपने घर वालों और रिश्तेदारों से कह दीजिएगा कि लड़के वाले नहीं माने, लड़के वाले तो ज़बर्दस्त होते ही हैं।" इस बात पर ठहाका पड़ा और कपूर साहब ने भी लाज-वाब होकर हथियार डाल दिए और बच्चनजी ने तफ़सीलवार हुक्म देने शुरू कर दिए। ख़ास माँगें दो थीं। शादी शास्त्रोक्त विधि से होगी। उसके लिए पंडित को बुलाना और कल शाम तक कोई उचित घड़ी निश्चित करवाना होगा और शादी के वक़्त शहनाई ज़रूर बजेगी। हम आनन-फ़ानन एक पंडितजी को खोज लाए। उन्होंने दूसरे दिन यानी २० मई की शाम का समय निश्चित किया। मैं शाम को बाक़ायदा शहनाई बजी और दूसरे दिन दोनों परिवारों के सदस्यों तथा इष्ट मित्रों की उपस्थिति में शादी हुई। बच्चनजी ने खुद गीत गाया—

सब सुख पाएँ
सुख सरसाएँ
कोई न कभी मिलकर बिछुड़े।
महुआ के
महुआ के नीचे मोती झरे
महुआ के।

० ० ०

मुद्रक : दि प्रिंट्समैन, नई दिल्ली 11118

डॉ० राम स्वरूप आर्य, बिजनौर
की स्मृति में सादर भेंट-
हरप्यारी देवी, चन्द्रप्रका
संतोष कुमारी, रवि प्रका

परिशिष्ट—१

बच्चन की जीवन-क्रमणिका

१९०७ (२७ नवम्बर)	—इलाहाबाद में जन्म
१९२५	—इलाहाबाद से हाई स्कूल
१९२७	—श्यामाजी से विवाह
१९२९	—इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए०
१९३०	— सत्याग्रह आंदोलन में सक्रिय भाग
१९३२	—'पायोनीयर' में जिला कचहरियों के सम्वाददाता
१९३३	—'अभ्युदय' के प्रबन्ध विभाग में
१९३४	— अग्रवाल विद्यालय में हिन्दी के शिक्षक
१९३६ (१७ नवम्बर)	—श्यामाजी का देहावसान
१९३८	—इलाहाबाद विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम० ए०
१९३९	—बनारस विश्वविद्यालय से बी० टी०
१९३९	—इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अनुसंधान कार्य
१९४१	—इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी अध्यापक के रूप में नियुक्ति
१९४२ (२४ जनवरी)	—तेजीजी से विवाह
१९५४	—कैंब्रिज विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट
१९५५ (सितम्बर)	—आकाशवाणी, इलाहाबाद में प्रोड्यूसर
१९५५ (दिसम्बर)	—विदेश मन्त्रालय में विशेषाधिकारी
१९५९ (अगस्त)	— पोयट्री बाईनियल में भाग लेने के लिए भारतीय शिष्ट मंडल के सदस्य के रूप में बेल्जियम की यात्रा —व्यक्तिगत रूप से फ्रांस, इटली, हालैंड की भी।
१९६६	—राष्ट्रपति द्वारा राज्य सभा के सदस्य मनोनीत। सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण
१९६६	—सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार
१९६७	—शिक्षा मंत्रालय की ओर से रूस, मंगोलिया, पू० जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया की यात्रा
१९६८	—सोवियत लैंड—नेहरू पुरस्कार विजेता के रूप में रूस की यात्रा

परिशिष्ट—२

बच्चन की रचनाओं के प्रथम संस्करण

तेरा हार (१६३२) —रामनारायणलाल बुकसेलर, इलाहाबाद

बच्चन के साथ क्षण भर (संचयन) (१६३४) — तारा प्रिंटिंग वर्क्स, बनारस

मधुशाला (१६३५) —सुषमा निकुंज, इलाहाबाद

खैयाम की मधुशाला (१६३५) —सुषमा निकुंज, इलाहाबाद

मधुबाला (१६३६) —सुषमा निकुंज, इलाहाबाद

मधुकलश (१६३७) —सुषमा निकुंज, इलाहाबाद

निशा-निमंत्रण (१६३८) —सुषमा निकुंज, इलाहाबाद

एकांत संगीत (१६३६) —सुषमा निकुंज, इलाहाबाद

आकुल अन्तर (१६४३) —भारती भंडार, इलाहाबाद

प्रारम्भिक रचनाएँ (कविताएँ) (तेरा हार सम्मिलित)

पहला भाग (१६४३) —भारती भण्डार, इलाहाबाद

दूसरा भाग (१६४३) —भारती भण्डार, इलाहाबाद

सतरंगिनी (१६४५) —भारती भण्डार, इलाहाबाद

प्रारंभिक रचनाएँ (कहानियाँ)

तीसरा भाग (१६४६) —भारती भण्डार, इलाहाबाद

हलाहल (१६४६) —भारती भण्डार, इलाहाबाद

बंगाल का काल (१६४६) —भारती भण्डार, इलाहाबाद

खादी के फूल (१६४८)
(सहलेखक : सुमित्रानन्दन पंत) —भारती भण्डार, इलाहाबाद

सूत की माला (१६४८) —सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद

मिलन यामिनी (१६५०) —भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस

सोपान (संकलन) (१६५३) —भारती भण्डार, इलाहाबाद

प्रणय पत्रिका (१६५५) सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद

धार के इधर-उधर (१६५७) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मैकबेथ (१६५७) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

आरती और अंगारे (१६५८) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

बुद्ध और नाचघर (१६५८) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

जन गीता (१६५८) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

ओथेलो (१६५६) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

उमर खैयाम की रुबाइयाँ (अनुवाद) (१६५६) —हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली

कवियों में सौम्य संत (१९६०) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि :
सुमित्रानन्दन पंत (संपादित) (१९६०) — राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
आधुनिक कवि (७) बच्चन
(संकलन) (१९६१) —हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
नेहरू : राजनीतिक जीवनचरित
(अनुवाद) (१९६१) —मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
त्रिभंगिमा (१९६१) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
नये पुराने झरोखे (निबन्ध-संग्रह) (१९६२) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
चार खेमे चौंसठ खूँटे (१९६२) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
६४ रूसी कविताएँ (अनुवाद) (१९६३) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
अभिनव सोपान (संकलन) (१९६३) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
डब्ल्यू० बी० ईट्स एण्ड ओकल्टिज़्म
(अंग्रेज़ी में) (१९६५) — मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
दो चट्टानें (१९६५) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मरकत द्वीप का स्वर (ईट्स की कविताओं का
अनुवाद) (१९६५) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
नागर गीता (अनुवाद) (१९६६) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
बच्चन के लोकप्रिय गीत
(संकलन) (१९६७) — हिन्द पॉकेट बुक्स, दिल्ली
बहुत दिन बीते (१९६७) — राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
कटती प्रतिमाओं की आवाज़ (१९६८) — राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
उभरते प्रतिमानों के रूप (१९६९) —राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

परिशिष्ट—३

बच्चन-साहित्य पर प्रमुख आलोचनात्मक सामग्री

बच्चन—व्यक्तित्व और कवित्व —जीवनप्रकाश जोशी
सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, १९६८

बच्चन का परवर्ती काव्य —डॉ० श्यामसुन्दर घोष
राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, १९६७

बच्चन—एक पहेली —चंद्रदेव सिंह
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९६७

लोकप्रिय बच्चन —सं० प्रो० दीनानाथ शरण
साहित्य निकेतन, कानपुर, १९६७

बच्चन—एक पुनर्मूल्यांकन —सं० डा० दशरथ राज
प्रगति प्रकाशन, आगरा, १९६७

बच्चन—एक युगान्तर —सं० नीरज : नईमाख़ान
स्टार पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९६५

बच्चन—व्यक्तित्व और कृतित्व —सं० बाँकेबिहारी भटनागर
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४

हालावाद और बच्चन —प्रो० दशरथ राज
महाराष्ट्र राष्ट्र भाषा सभा, पुणें, १९६३

बच्चन-विशेषांक साहित्य-सदेश (आलोचना मासिक)
नवम्बर-दिसम्बर १९६७
सं० महेन्द्र और विश्वम्भर 'अरुण'
साहित्य भंडार, आगरा

बच्चन-अंक लय (त्रैमासिक पत्रिका) अप्रैल १९६६
सं० नीरज
४७, मैरिस रोड, अलीगढ़